श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

सम्पादकीय निवेदन

सहृदय पाठकगण,

निश्चय ही आप के मन में कभी न कभी यह प्रश्न उठा होगा कि इस मायिक सृष्टि का क्या लक्ष्य है ? अनेकानेक सांसारिक कष्टों के बीच पड़ा हुआ मनुष्य किस प्रकार उनसे त्राण पा सकता है ? यह कौन सी महाशक्ति है जो इस संसार-चक्र को परिचालित कर रही है, क्या आप उसे तथा उसके नियमों को समझने में समर्थ हो सकते हैं, क्या उन्हें समझ कर अपनी जीवन-यात्रा शान्ति और सुख पूर्ण बना सकेंगे, क्या गृहस्थी के बीच रहते हुए भी उस भगवतीय शक्ति का अनुभव और प्रतीति कर सकना सम्भव है, यदि है तो उसके लिए कौन से 'संयम तथा अभ्यास' की आवश्यकता है ? इसी प्रकार के जटिल और गम्भीर प्रश्नों की विवेचना पूज्यपाद योगिराज श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल महोदय ने अपनी बङ्ग भाषा में लिखित इसी नाम की पुस्तक में बड़े मार्मिक शब्दों में वृहत् रूप से की है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निर्दिष्ट संयम तथा अभ्यास के पालन से उनके कितने ही अनुयायियों ने अल्प काल में ही आशातीत लाभ उठाया है और अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ हुए हैं। इन्हीं बातों को देखते हुए कतिपय सज्जनों की प्रेरणा से हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ मूल ग्रन्थ का यह अविकल हिन्दी अनुवाद आप लोगों की सेवा में उपस्थित किया जा रहा है।

साहित्य के मर्मज्ञ न होने के कारण हमारे इस प्रयास में अवश्य ही अनेक त्रुटियाँ होंगी तथा छपाई की भूलें भी हैं ही। इन पर ध्यान न देते हुए आपसे प्रार्थना है कि विषय तथा भाव पर दृष्टि रखते हुए एक बार आद्योपान्त इस ग्रन्थ का अवलोकन अवश्य करें। हमें विश्वास है कि आपका परिश्रम विफल न होगा।

श्री सान्याल महोदय द्वारा प्रणीत कुछ अन्य ग्रन्थों की नामावली भी, विद्वानों द्वारा उन पर समालोचना के कुछ वाक्यों के साथ अन्त में दी हुई है। ये सभी ग्रन्थ तत्व-जिज्ञासु लोगों के लिए विशेष रूप से उपादेय सिद्ध होंगे।

अन्त में हम अपने उन मित्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हैं, जिनसे इस ग्रन्थ के प्रकाशन में किसी प्रकार की भी सहायता मिली है। श्रीयुत् सेठ राधाकृष्ण जी चमड़िया के हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं जिन्होंने अर्थ से सहायता कर इस कार्य को पूरा कर सकना सम्भव किया। इसके भाषानुवाद में श्री वेनी प्रसाद जी खत्री तथा श्री कमला प्रसाद राय से बड़ी सहायता मिली। इन सज्जनों को हार्दिक धन्यवाद है।

विनीत

ज्वाला प्रसाद त्रिपाठी

बांके बिहारी लाल

प्रकाशक का निवेदन

यह उस एक अतीत युग का महान् चित्र है जिस दिन 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' नर-नारायण की अपूर्व मिलन भूमि में कर्मवीर पार्थ मोहावसाद से नतमस्तक,—"न योत्स्ये" कहकर निर्वाक्, निस्पन्द थे और उस वीर श्रेष्ठ की यह अनार्योचित मोहान्धता दूर करने के लिए श्री भगवान् पार्थ सारथि वेश में उनको अमृतवाणी सुना रहे थे। भक्तवीर पार्थ ने भगवद्वाणी सुन ली, भगवान में समाहित चित्त निष्काम कर्मों का, साम्यावस्थित परमयोगी का निगूढ़ रहस्य हृदयङ्गम कर लिया,—उनको सामयिक उपलब्धि हुई, तो भी मन की दुर्बलता स्मरण करके वह भक्तवीर कह रहे हैं :—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

अर्जुन भी मानो कहते हैं—"महाराज ! अब तो खूब आप की बातें मैं समझ गया, किन्तु रास्ता तो बहुत ही कठिन है ;— उस मन को ठीक कर देने से ही सब हो जाता है यह मैं जरूर समझ गया, किन्तु इस मन को ठीक करने का कोई सहज उपाय क्या बतला सकते हो ?" उत्तर में श्री भगवान् ने कहा—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥"

'उपाय केवल दो हैं—अभ्यास और वैराग्य। प्रश्न का

उत्तर तो अवश्य हो गया, किन्तु रास्ता सीधा बना दिया गया ऐसा तो मालूम नहीं होता।

किन्तु यह प्रश्न केवल पार्थ का ही नहीं है। यह मानव मात्र का सनातन प्रश्न है, संसार-ताप-जर्जरित वेदनातुर मानव हृदय का यही चिर दिन का आर्त्तनाद और अभियोग है। 'जगत् जितं केन?' 'मनोहि येन।' यह प्रश्नोत्तर मनुष्य मात्र ही जानते हैं। किन्तु उस मन को जीता जाता है किस तरह? विशेषतः इस दुष्ट युग में अधःपतित सहजपन्थी हमलोग, साधना में जो कुछ स्वीकार करना पड़ता है उससे विमुख होकर सोचते हैं शायद गुरु जी अति सहज एक उपाय बतला देंगे। किन्तु यह क्या हो सकता है? इतने सस्ते में इतनी बड़ी चीज नहीं होती,—इस मार्ग का अन्तिम लक्ष्य क्या है? "यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।" इसीलिए तो उस सनातन समस्या का समाधान आज भी गुरु के मुख से हमें मिलता है—अभ्यास और वैराग्य—'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय'—अभ्यास! अभ्यास!! अभ्यास!!! मेहनत से काम करना पड़ेगा, रोना पड़ेगा, सच्चे रूप में चाहना पड़ेगा, तभी तो वह परम वस्तु मिलेगी, और सच्चे रूप से चाहने का अर्थ ही है और सब छोड़कर (वैराग्य) उस लक्ष्य के लिए प्राणपण से साधना करना (अभ्यास)।

साधारण कर्म-जीवन में प्रत्येक पग पर देखता हूँ कि सांसारिक बातों में सिद्धि लाभ के लिए अभ्यास योग के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है—दिन के बाद दिन, महीने

के बाद महीना, वर्ष के बाद वर्ष जीवन की गति को एक मुखी बनाकर अन्त में गन्तव्य स्थान पर पहुँचा जाता है। नीति और कर्म जीवन में भी उस चिरन्तन नियम का व्यतिक्रम नहीं है। पूर्व जन्म का कर्माभ्यास ही इस जन्म में संस्कार रूप में हमें परिचालित कर रहा है और इस जन्म का अभ्यास ही फिर कर्म फल बन कर पर जन्म तक हम लोगों का अनुसरण करेगा। इस अभ्यास की चरम परिणति ही हमारी प्रकृति है—"प्रकृतिं यान्ति भूतानि।" अतएव इस अभ्यास को सुनियन्त्रित करना ही है हमारा जीवन गठन। जीवन का लक्ष्य स्थिर करके उस लक्ष्य की तरफ गति को चलाना ही अभ्यासयोग—या सिद्धि के प्रयास में साधना है।

पूज्यपाद ग्रन्थकार रचित धर्मप्रचार-ग्रन्थावली की इस पुस्तक में मनुष्य जीवन की जो एकान्त प्रयोजनीय वस्तु है, प्रिय के साथ मिलनानन्द भोग करने के लिए चिरपिपासातुर जीवात्मा के साधनमार्ग का जो एक मात्र सम्बल है वही अभ्यास योग विशद रूप से और सरलता के साथ आलोचित हुआ है। आजकल धर्म सम्बन्धी व्याख्यान हम बहुत सुनते हैं, धर्म की पुस्तकें अनेक देखते हैं, किन्तु धर्म का अभ्यास कम ही है। वक्तृताएँ, तथा लेख ये सब हैं बुद्धि के खेल, शुद्ध मस्तिष्क की चीज, किन्तु धर्म है साधना की, अनुभूति की, प्राण की चीज। और मस्तिष्क की अपेक्षा प्राण बहुत बड़ा है, इसीलिए विरल है। आध्यात्मिक जगत् की एक विशेषता है कि, अपनी साधना या अनुभूति जिस वक्ता या लेखक में नहीं है उनके व्याख्यान या लेख बहुधा तो हवा में ही उड़ जाते हैं—

श्रोताओं और पाठकों के प्राणों को स्पर्श करके एक स्थायी फल रख कर नहीं जा सकते। और जिस महात्मा के हृदय में साधना की दीपशिखा जल रही है, अनुभूति का आनन्द हिल्लोल बह रहा है, उनके मुख की हँसी में, आँखों की दृष्टि में, अंगों के स्पर्श में ऐसी ही एक अपार्थिव विद्युत्शक्ति प्रकाशित होती है, जिससे पत्थर पिघल जाता है, अन्धा प्रकाश पा जाता है, पापी तर जाता है। इसीलिए आज सहृदय पाठक पाठिकाओं के सामने इस पुस्तक का परिचय देते समय लेखक का कुछ परिचय दिये बिना मैं रह न सका। आँखों के सामने देख रहा हूँ कि अभ्यासयोग का एक ज्वलन्त दृष्टान्त है इस पूजनीय ग्रन्थकार का पुण्य जीवन।

हिन्दू सन्तान मात्र ही जानते हैं और विश्वास करते हैं कि "ऋषयः मन्त्र द्रष्टारः।" इस नेत्रसमुखस्थ वास्तविक राज्य के अन्तराल में जो एक महामहिममय महत्तर राज्य है—जिसका पुण्यचित्र चर्मचक्षु के लिए अति सूक्ष्म होने के कारण अगोचर है,—उस राज्य के गुह्यतम तत्त्वों को भी आर्य ऋषियों ने ध्यान स्तिमित नेत्रों से उन्मीलित अन्तर्दृष्टि के प्रभाव से, साधना के शुभ्रोज्वल आलोक की सहायता से प्रत्यक्ष सत्य रूप में देखा था, अपने रूप में प्राप्त किया था। उन्हीं ऋषियों की उपलब्धि की सजीव अभिज्ञता ही अब भी आप्त वाक्यों के रूप में मुमुक्षु मानवों के सामने विद्यमान है। और इस युग में भी आस्तिक्य बुद्धि सम्पन्न, श्रद्धावान् साधक प्रवर विरल रहने पर भी बिलकुल ही लुप्त नहीं हुए हैं, जो लोग भगवदुक्त उस अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उस सनातन तपोमार्ग से चल रहे हैं और ऋषिलब्ध सत्य को अपने जीवन में प्रत्यक्ष समझ कर धर्म की पवित्र धारा

को अनुसरण करकर जगत् को धन्य कर रहे हैं। यह ग्रन्थकार भी उसी श्रेणी के अन्तर्गत एक महापुरुष हैं,—जिनके वाक्यों में और कार्यों में मेल है, जिनकी चिन्ता, वाक्य, और रचना निज जीवन में ही पूर्ति लाभ कर चुकी है, और सजीव सत्य के प्राणमय स्पर्श से संसार ताप दग्ध अनेक नरनारियों को सान्त्वना, शान्ति और आनन्द प्रदान कर रही है। ऐसे मनुष्य द्वारा लिखित पुस्तक पाठक मात्र के ही मन में और जीवन में सचमुच ही एक मर्मस्पर्शी प्रभाव विस्तार करेगी इस विश्वास और ज्ञान से आज यह पुस्तक धर्मप्राण हिन्दू सन्तान के साधन मन्दिर के द्वार पर उपस्थित कर रहा हूँ। मेरा और कोई वक्तव्य नहीं है,—

"तुम्हारी ही इच्छा पूरी हो, हे करुणामय स्वामी !"

भागलपुर, शारदीया महाष्टमी १३३० वङ्गाब्द	श्रीश्री गुरुपदावनत श्रीनारायणदास वन्द्योपाध्याय अध्यापक, तेजनारायण जुबिली कालेज।

——:o:——

भूमिका

हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार विपुल ब्रह्माण्ड का प्रत्येक परमाणु भगवान् की अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है। विश्व ब्रह्माण्ड का ऐसा स्थान कहीं भी नहीं है, जहाँ उनकी अनन्त सत्ता का अस्तित्व नहीं है। इसलिए मनुष्य के अन्दर भी उनकी यह अनन्त पूर्ण शक्ति विराज रही है ; किन्तु मोह के प्रभाव से, अज्ञान के प्रभाव से, कुअभ्यास के प्रभाव से यह विपुल शक्ति जड़ीभूत है—क्षीण अग्नि की चिनगारी की तरह मृदु है—बीज निहित वृक्ष शक्ति की तरह सूक्ष्म है, अस्पष्ट है, अदृश्य है। उपयुक्त साधनों द्वारा यदि इस शक्ति को विकसित कर दिया जाय, तो उस दशा में मनुष्य असाध्य साधन कर सकता है।

बंग देश के गौरव श्रद्धास्पद बङ्किमचन्द्र ने इस साधन का नाम दिया था "अनुशीलन"। 'अनुशीलन' पाश्चात्य नाम है—इसका शास्त्रीय नाम है अभ्यास। बङ्किम बाबू ने जिस अर्थ में अनुशीलन' शब्द व्यवहार किया है, गीता, योग-वाशिष्ठ प्रभृति ग्रन्थों में ठीक उसी अर्थ में अभ्यास शब्द व्यवहृत हुआ है। इस कारण इस जगह हमारे लिए भारत-वर्षीय नाम ग्रहण करना ही वाञ्छनीय है। केवल नाम ही नहीं, श्री बङ्किमचन्द्र की साधना प्रणाली भी पाश्चात्य है। उनकी साधना का आदर्श था—"सभी वृत्तियों की पूर्ण परिणति और सामंजस्य।" शास्त्र का आदर्श है "सभी वृत्तियों की पूर्ण परिणति और विसर्ग।" 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञित.'।

विसर्ग कहने से ही खयाल होता है किसके लिए विसर्ग ?—सर्व भूतों के लिए। प्रेम के बिना त्याग सम्भव नहीं होता; और "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" यह ज्ञान न होने पर भी प्रकृत विश्व प्रेम उत्पन्न नहीं होता। इसी लिए शास्त्र के मत से इस साधना का अर्थ है भगवान् को पाने की साधना; बङ्किमचन्द्र के आदर्शानुसार, चेष्टा के द्वारा, अभ्यास द्वारा, वैराग्य द्वारा विमुख चित्त को ईश्वराभिमुख करने की साधना में भगवान् का प्रयोजन नहीं था। इसी लिए उन्होंने अपने अनुशीलन धर्म को पाश्चात्य "विकासवाद" (Evolution) के ऊपर प्रतिष्ठित करना चाहा था। उन्होंने सोचा था अनुशीलन द्वारा प्रत्येक वृत्ति को पूर्ण परिणत करके मनुष्य सम्पूर्ण हो जा सकता है। किन्तु यह साधना कार्य-क्षेत्र में कैसी असम्भव है इस पर उन्होंने विचार करके नहीं देखा। विकासवाद के मत से अनुशीलन द्वारा जैसे शक्ति की परिणति सम्भव है, अव्यवहार से उसी प्रकार शक्ति का विलोप अवश्यम्भावी है। एक ही साथ सभी शक्तियों के विकास की साधना असम्भव है, और किसी शक्ति विशेष के प्रति विशेष मनोयोग देने से, दूसरी शक्ति के प्रति अमनोयोग अवश्यम्भावी है। बङ्किमचन्द्र की साधना प्रणाली की यह एक गुरुतर त्रुटि है। इस साधना से आदर्श मानव का उद्भव असम्भव है।

केवल यही नहीं। बङ्किमचन्द्र की साधन-प्रणाली में और एक विषम त्रुटि अच्छी तरह प्रकट है। बङ्किमचन्द्र स्वयं भी यह बात समझ गये थे। यह बात है 'सामञ्जस्य' के सम्बन्ध में सभी वृत्तियों की—सुप्रवृत्तियों की और कुप्रवृत्तियों की—पूर्ण परिणति होने से, मनुष्य की पूर्णता

प्राप्ति दूर रही, कोई लाभ ही नहीं होता। इसीलिए पूज्य-पाद बङ्किमचन्द्र ने तरह तरह के कूट तर्कों की सहायता से समझाना चाहा था कि, किसी किसी वृत्ति के संयम से ही उसका विकाश होता है। यह बात सुनने से ही एक बड़े प्रकार का गोलमाल सा जान पड़ता है। किन्तु उसमें भी यह बात उठ पड़ी थी कि, मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को संयत करने की चेष्टा करने पर भी, भगवान् का आश्रय न पाने से, क्या शान्ति और आनन्द प्राप्त कर सकता है? ब्राह्मण सन्तान बङ्किमचन्द्र यह बात अस्वीकार न कर सके। फिर भी, उनके अनुशीलन धर्म में भगवान् का प्रयोजन नहीं था; इसी कारण उनको एक और कूट तर्क का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। बङ्किमचन्द्र ने कहा सभी वृत्तियाँ ही पूर्ण परिणत हो जाने से, ईश्वरमुखी हो जाती हैं। तरह तरह के कौशलों से तरह तरह के सूक्ष्म तर्कों से, उन्होंने यह बात समझाने की चेष्टा की है; किन्तु यह प्रमाणित नहीं हुई।

'अनुशीलन' तत्त्व-प्रतिपादन के लिए पाश्चात्य विकास-वाद की तरफ दृष्टि निक्षेप न करके, बङ्किम बाबू यदि अपने देश के धर्म-शास्त्र पर निर्भर करते, तो उस हालत में उनको भ्रान्त साधन-प्रणाली के समर्थन के लिए इतनी विपुल चेष्टाओं और विचार शक्तियों का अपव्यय न करना पड़ता। हिन्दू शास्त्र के मत से प्रत्येक वृत्ति के पूर्ण विकाश के लिए पृथक् चेष्टा की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जो सभी शक्तियों के मूल हैं, सभी ज्ञानों के आधार हैं, सभी आनन्दों के अमृत निकेतन हैं, उनको प्राप्त कर लेने से ही सभी वृत्तियाँ आप ही आप यथोचित रूप से विकसित हो उठती हैं, कुप्रवृत्तियाँ आप ही आप संकुचित हो जाती हैं,

सुप्रवृत्तियाँ आपही आप अनन्त विकाश प्राप्त करती हैं:—"यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोऽपिशाखाः।

किन्तु भगवान् को प्राप्त करने के लिए कठोर साधना की आवश्यकता है। इस साधना का नाम है "अभ्यास"—"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" जिस कुअभ्यास के कारण हमारी शक्ति जड़ीभूत है, बुद्धि मोहाच्छन्न है, ज्ञान तमसावृत है सदभ्यास द्वारा उस विकृति और मलिनता को हटा देने का प्रयोजन है, नहीं तो उन्नति का दूसरा उपाय नहीं है।

इसी कारण हिन्दू के लिए हिन्दू शास्त्रोक्त "अभ्यासयोग" प्रचार करने का प्रयोजन है।

इस तमसाच्छन्न, अवसाद विजड़ित, कर्म विमुख देश में कर्म की शक्ति और अभ्यास की शक्ति की बात वज्रकंठ से सुनाने का दिन आ गया है। कर्म के द्वारा ही कर्म को अतिक्रम किया जाता है, सद्भ्यास के द्वारा ही भगवान् को प्राप्त करना सम्भव होता है—आलस्य परायण, मोहाभिभूत भारतवासियों को यह बात न समझा सकने से, उनके उद्धार की सम्भावना नहीं है।

मेरा कंठ क्षीण है, मेरी शक्ति थोड़ी है। जितना मुझसे हो सका अपने स्वदेशवासियों को यह अभयवाणी सुनाने की मैंने चेष्टा की है। यदि एक भी व्यक्ति यह क्षीण कंठ सुन कर मोहनिद्रा से जाग जायँ, तो मैं अपना सारा परिश्रम सफल समझूँगा।

पुरीधाम,

आषाढ़, १३१८ वङ्गाब्द

ग्रन्थकार।

श्री गुरुभ्यो नमः

श्री गणेशाय नमः

अभ्यास योग

प्रथम अध्याय

अदृष्टवाद

इस विषय में शंका या मतभेद होने की कोई सम्भावना नहीं कि सब ओर से हम लोगों का अधःपतन हो गया है। पर इसका मूल क्या है? इस विषय में बहुत मतभेद हैं। भिन्न-भिन्न मतों में कुछ न कुछ तो सत्य जरूर है, पर बहुत कुछ असत्यका भी समावेश है। प्रचलित मतों के दोषों को दिखाना या किसी नये मत की स्थापना करना अथवा किसी मत का आंशिक खण्डन या ग्रहण करना, प्रस्तुत लेख का उद्देश्य नहीं है। मत मतान्तर के झगड़े में भी पड़ने का हमारा अभिप्राय नहीं है। वर्तमान समय में स्वदेश तथा स्वदेश वासियों की दुर्दशा और क्लेश को देखकर अपने मन में जो आन्दोलन उपस्थित हुआ और उसकी शास्त्रीय मीमांसा हमारी बुद्धि में जहाँ तक ठीक-ठीक जँची, उसी की आलोचना करना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। जो लोग दुर्भाग्य से शास्त्रों को अभ्रान्त मानने में अशक्त हैं, वे लोग भी "युक्ति युक्तमुपादेयम् वचनं बालकादपि" इस नीति को मान लेने में शायद आगा-पीछा न करेंगे।

हमारी वर्तमान दुरवस्था

इस देश व्यापी दुर्व्यवस्था के सहस्रों कारण हो सकते हैं, पर मेरे विचार से इसमें सर्व प्रधान है—दैव पर अंध-विश्वास। सब विषयों में हम लोग दैव को ही दोष देते हैं। देश में जब कोई दुर्भिक्ष, महामारी, या रोग उपस्थित होता है और जनता का नाश होने लगता है, तो हम सिर पर हाथ रख कर चुप चाप बैठ जाते हैं। उसके प्रतीकार का कोई उपाय न करके बे-खटके समय बिताते रहते हैं। सत्व की शुद्धि होने से मनुष्य की आत्मा में एक प्रकार की निर्भयता आती है। पर यह उस प्रकार की निर्भयता नहीं है, यह आध्यात्मिक जड़ता है और उसका फल बाहरी आलस्य का भयानक परिणाम है। हमारे जीवन के हर एक कार्यों में दैव का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, यह मैं नहीं कहता। पर जो दैववाद मनुष्य को उद्यम-हीन और जड़वत् कर देता है उस दैववाद का मैं पक्षपाती नहीं हूँ। यह तो घोर तामस का रूप है। हम तो उसे नास्तिकता कहने में भी नहीं हिचकेंगे। जैसे नास्तिक लोग ईश्वर को नहीं मानते उसी प्रकार जड़ीभूत हुए लोग ईश्वर के नियम को नहीं मानते। अर्थात् आत्मा की शक्ति में उनका विश्वास नहीं है। जिसे अपनी शक्ति का विश्वास न होगा, वह स्वभावतः दूसरों का मुँह ताका करेगा और दूसरों की कृपा पर जिसका जीवन निर्भर करता हो, उसके जैसा दुःखी संसार में और कौन होगा। आत्मशक्ति का यह अविश्वास वास्तव में भगवान् पर अविश्वास है, जिसे भगवान् पर विश्वास नहीं और विश्वास करने की प्रवृत्ति भी नहीं वह भगवान् का नियम मान कर क्यों चलने लगा। इस लिये

दुरवस्था का कारण (भ्रान्त अदृष्टवाद)

दुःख और कष्ट की कठिन पीड़ा से बचना उसके लिये असम्भव ही समझिये।

भगवान् का नियम मानकर तो चले ही नहीं, पर जब दुःख, दारिद्र्य, अकालमृत्यु, आधि-व्याधि ने हम पर आक्रमण किया तो उसके दूर करने के लिये कोई पुरुषार्थ न करके देवताओं के घर-घर दया की भिक्षा मांगने लगे। अन्त में नाना प्रकार की पूजा-अर्चना और लड्डू मिठाई भोगोपचार के घूस का लोभ दिखाकर भी जब हमारा मनोरथ सफल नहीं हुआ तो जो कुछ कर सकते थे कर चुके, और इन सब को दैव की विडम्बना समझ कर निश्चिन्त हो जाते हैं। मेरा प्रश्न है कि क्या यही हिन्दुत्व है? हमारे पूर्वजों की तो उक्ति थी कि :—

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति - लक्ष्मी
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्नेकृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥"

पर आज कल तो हम लोग ठीक इसके विपरीत चल रहे हैं। हमारे देश में दुर्बलता की यह अधिकता कहाँ से आ गई, यह मेरी समझ में नहीं आता। अदृष्टवाद ही हमारे इस अनिष्ट का कारण है। या हम लोग क्रमशः इतने दुर्बल चित्त और हीन-वीर्य हो गये हैं कि हमारी बुद्धि में तमोगुण की अधिकता हो गई है। पुरुषार्थ को छोड़कर अदृष्टवादी हो गये हैं। चाहे जो कारण भी हो, हमारी कर्म करने की इच्छा और शक्ति मानो सहसा जाती रही है। किसी नगर या ग्राम में जब कोई संक्रामक व्याधि फैलती है तो हम देखते हैं कि उसके विषैले आक्रमण से लोग समूह के समूह

मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। पर ऐसे अवसर पर यूरोपियनबस्तियों में वह रोग सहज में प्रवेश नहीं कर सकता। दैववादी तो यहाँ भी दैव के ही शिर दोष मढ़ेंगे। हम कहते हैं कि दैव पर दोष मढ़ना हो तो मढ़ते रहिये, पर इसके पहिले हमारे पड़ौसी जिन स्वास्थ्य के नियमों को मान कर चल रहे हैं, उसी के अनुसार चलकर इसकी कुछ परीक्षा कर लेने में हानि क्या है? मेरा तो विश्वास है कि यदि हमारे घर-द्वार, उसके चारों ओर के स्थान, पर्याप्त साफ़-सुथरे रहें, पीने के पानी का ठीक-ठीक प्रबन्ध रहे, कपड़े तथा अन्य सामग्री साफ़-सुथरी अवस्था में बरती जाय, निश्चित समय पर भोजन किया जाय, जागने-सोने के नियमों का पालन किया जाय, इन्द्रियों को उत्तेजित न होने दें और व्यायाम, अध्ययन, उपासना, खेलकूद इत्यादि विषयों में यथार्थ नियमों का पालन करें तो अध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक किसी प्रकार की पीड़ा से भी रक्षित रहना कुछ कठिन न होगा। पर इसके लिये उद्योग चाहिये, मन लगा कर चेष्टा करनी चाहिये। इस पर भी यदि देखें कि अकाल मृत्यु का हम निवारण नहीं कर सकते, तो भले ही समझ लिया जा सकता है कि यह दैव का कठिन पाश है। इससे बचने की कोई आशा नहीं है। किन्तु इससे पहिले इस प्रकार की बातें मुंह से निकालना भी महापाप है।

बहुत लोग कहते हैं कि इस दैववाद के कारण ही हमारे देशवासियों की चित्तवृत्ति अन्य देशों के लोगों की अपेक्षा बहुत शान्त है। सम्भव हो सकता है कि हमारे पूर्वजों ने जो तपस्या और आत्म-संयम द्वारा शक्ति प्राप्त की थी, उसकी क्षीणधारा अब भी हमारे हाड़-मांस में गुप्तरूप से

विद्यमान है। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हम लोग अपने दुर्भाग्य को भी चुप-चाप बैठ कर सह लेते हैं, यह बात उचित नहीं है। पाश्चात्य जातियों की तरह हमारी भोग-विलास की प्रवृत्ति भी उतनी तीव्र नहीं है। पर यह किस बात का परिणाम है, निर्णय करना कठिन है। इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि भोग-लालसा के वस होकर विषय-भोग की इच्छा हम भी करते हैं और इसके मिलने पर सुख का अनुभव करते हैं।

मन का सन्तोष वास्तव में दैववाद पर ही निर्भर नहीं रहता। मनुष्य के भीतर जब कोई आकांक्षा जाग उठती है तो उसे निवृत्त करने के केवल दो उपाय हैं। एक तो उपभोग्य विषय का भोग करना और दूसरे उसके क्षण-स्थायित्व और असार परिणाम पर विचार करके उससे निवृत्त रहना। यह दूसरा मार्ग ही भारतवर्ष के ऋषियों का मार्ग है। स्थायी रूप से भोग की वासना इसीसे निवृत्त हो सकती है। पहिले उपाय से वासना की क्षणिक तृप्ति होने पर भी उसका कोई स्थायी फल नहीं मिलता। इसीलिये भारतीय ऋषियों का यह उपदेश है कि मनचाहे उपभोग्य वस्तुओं के पीछे दौड़ कर जीवन को व्यर्थ करने से कोई लाभ नहीं। भोग्य वस्तु का यथार्थ-स्वरूप समझ कर उससे निवृत्त होना ही बुद्धिमानी है।

द्वितीय अध्याय

दैव और पुरुषार्थ

यथार्थ दैव क्या है ?

दैव क्या है ? पूर्व जन्म का किया हुआ कर्म फल ही तो है। न कि भगवान् की मनमानी ? यदि भगवान् को भी हमारी ही तरह उच्छृङ्खल मानते हैं तो फिर कुछ अधिक नहीं कहना है; पर यदि भगवान् सत्य और अमृत स्वरूप हैं, परिपूर्ण, मङ्गल और आनन्द स्वरूप हैं, तो उनके राज्य में क्या कोई नियम-विरुद्ध बात हो सकती है ? या कोई अन्याय हो सकता है ? इसी लिये न कहा है :—

"भयादस्याग्निस्तपति, भयात् तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युर्धावति पंचमः ॥"

उनकी इच्छा परिपूर्ण ज्ञानमयी है। उसमें अज्ञान के वशीभूत होकर किसी प्रकार की वासना की उद्दंडता का रहना सम्भव नहीं है। पूर्व जन्म के पाप पुण्य के अनुसार ही कर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है। पाप-कर्म द्वारा पाप की ओर पुण्य कर्म द्वारा पुण्य की प्रवृत्ति होने पर दोनों से दो प्रकार की एक-एक "अपूर्व" शक्ति उत्पन्न होती है, जिसके प्रभाव से दोनों प्रकार के एक-एक नये कर्म उत्पन्न होते हैं—जो पूर्व जन्म के किये कर्म को बाधा देकर, बल पूर्वक एक और कर्म अवश्य करा देते हैं। अतः इस नये कर्म का कारण पूर्व जन्म के कर्म को ही मानना पड़ेगा। यह बात यदि सत्य है तो यह भी अधिक सत्य है कि अपने दैव

को बनाने वाले भी हम आप ही हैं। दैव नाम से कोई बड़ा दैत्य हमारा मार्ग रोक कर नहीं बैठा है। स्वकर्म के फल प्राप्ति को ही भाग्य कहते हैं। इसके सिवा दैव अथवा भाग्य कोई दूसरी चीज़ नहीं है। इसलिये अदृष्ट ने हमारे अपने ही कर्म के कारण दुर्भाग्य का रूप ग्रहण कर लिया है। यदि हम दृढ़ उद्योगी हों और अच्छे कर्मों में तत्पर रहें तो भाग्य-चक्र की धुरी को दूसरी ओर घुमा दे सकते हैं और उससे सुफल की प्राप्ति कर सकते हैं। पहिले के किये हुए कर्मों के फल के कारण ही यदि दारिद्र्य, क्लेश, व्याधि, इत्यादि प्राप्त हुए हैं तो उसी नियम के अनुसार शुभ-कर्मों के करने से स्वास्थ्य, आरोग्य, धन, धान्य, चित्त की प्रसन्नता इत्यादि सौभाग्य की सारी सामग्री भी धीरे-धीरे एक के बाद एक हमें प्राप्त हो सकती हैं। 'कर्मायत्तंफलं-पुंसाम्' फल कर्म के आधीन है, शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ, यही भगवान् का विधान है। हाय! मारे गये! हाय विधाता! हाय दैव! यह तुमने क्या किया? इस तरह पागलों की भांति कोलाहल मचा कर दौड़ धूप करने से तथा रो-रो कर धरातल सींचने से कोई लाभ नहीं।

जगत कर्म-क्षेत्र है। हम सब यहाँ कर्म करने को आये हैं। इस लिये व्यर्थ की बातों में समय नष्ट न करके

पुरुषकार

कमर बांध, कर्म क्षेत्र में कूद पड़ो। हमारा भाग्य अच्छा है, या बुरा इसका पता लगाने के लिये ज्योतिषियों के घर का दरवाज़ा खटखटाना से क्या लाभ? बिना कर्म किये जब और कोई चारा है ही नहीं तो कर्म ही द्वारा कर्म जाल को छिन्न करने का उद्यम करना ही बुद्धिमानी है। किसी

महापुरुष का कहना है कि ऊख (गन्ने) को यदि कसकर नहीं पेरोगे तो रस नहीं मिलेगा। विवश हो पेरना ही होगा। "बिनु भय होय न प्रीति" यदि पीड़ा सहे बिना चित्त में प्रेम की धारा प्रवाहित नहीं होती, तो मैं यही कहूँगा कि हे प्रभो! मुझे भीषण यंत्रणा ही दो। वीरों का वचन तो यही है, भक्तों की उक्ति तो यही है। सर्वदा "पुत्रं देहि यशो देहि भाग्यं भगवति देहि मे" चिल्ला-चिल्ला कर उनका पल्ला पकड़ना, पर सर्वदा उनकी आज्ञा के विरुद्ध मन मानी करते जाना, इसी का नाम यदि भक्ति है तो अविश्वास और अभक्ति किसे कहा जाय! हम नहीं कह सकते!

अस्तु उचित है कि हम लोग दृढ़संकल्प होकर उद्योगी हो जायँ और कर्म निष्ठ हो जायँ। सौभाग्य स्वतः आकर हमारा पल्ला पकड़ेगा। यह सब जो देश व्यापी दारिद्रय और दुःख है, हमारे देश वासियों के ही अशुभ कर्मों का फल है। इतने प्रकार के दुःख, दारिद्रय, सुख, संपदा, पीड़ा और स्वास्थ्य,—ये सब व्यक्तिगत रूप से तो अपने-अपने और व्यापक रूप से सारे समाज के बुरे और 'अच्छे कर्म के फल हैं। हमारे देश में पहिले इसके लिये राजा को उत्तरदायी ठहराया जाता था, क्योंकि राजा ही सारे समाज का और प्रजा का प्रतिनिधि है। इस विषय में परम ज्ञानी भीष्म जी ने धर्मराज महाराज युधिष्ठिर को एक सुन्दर उपदेश दिया था, जिससे पुरुषार्थ की अपूर्व शक्ति प्रकट होती है। ये बातें स्वर्ण-अक्षरों में यदि हृदय में लिख ली जाय तो बहुत सी दुर्गतियों से हमें छुटकारा मिल जावे। यह प्रसङ्ग इस बात पर उठा था कि युग परिवर्तन के कारण ही क्या मनुष्यों के चरित्र का भी परिवर्तन होता है या मनुष्य के चरित्र के ही कारण क्या युग का परिवर्तन होता है। " "

उड़ा देने की बात नहीं है। यत्न के साथ विचारना चाहिये। बुढ़ापा क्यों आता है? युवावस्था के दोषों के कारण ही तो। यदि अपनी युवावस्था को शुद्धता से मनुष्य बिता सके और सारे नियमों को मान कर ठीक-ठीक चले तो ऐसे निरोगी अप्रमादी की उम्र बीत जाने पर भी उसकी युवावस्था का तेज न जायगा, और जो अत्याचारी तथा असंयमी है, वह तो जवानी में ही वृद्ध हो जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि ४० वर्षों के बाद ही बुढ़ापा आ जाय या ४० वर्षों के भीतर रहने पर जवानी ही मानी जाय। जो जवानी रखना जानते हैं वे जवान रहेंगे ही। इसलिये जवानी या बुढ़ापे का स्वरूप पुरुषों के सामर्थ्य और चेष्टा पर निर्भर करेगा। हम यह नहीं कहते कि काल का प्रभाव नहीं है। काल परिवर्तन के साथ-साथ जीवों के स्वभाव का परिवर्तन होता रहता है पर जीवों के स्वभाव के साथ साथ काल का परिवर्तन भी अस्वाभाविक नहीं है। जीवों के स्वभाव में परिवर्तन क्यों होता है? इसका निश्चय करना कठिन है। हो सकता है मनुष्य के समष्टि कर्म और समष्टि वासना के फल-स्वरूप यह परिवर्तन होता हो, पर यह कर्म और वासना धीरे-धीरे किस प्रकार बदलती है ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। जिस समय बहुत से प्राणियों का आविर्भाव होता है, उनके पूर्व कर्म के अनुरूप भोग प्राप्ति के हेतु पृथ्वी के जलवायु का परिवर्तन होना सम्भव है। पर मनुष्य के भोगादि सब उसके कर्म ही पर निर्भर करते हैं। सत्ययुग, कलियुग आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व रहते हुये भी भिन्न-भिन्न ऋतुओं के समान उनके प्रभाव को घटा-बढ़ा सकना मनुष्य के शक्ति के भीतर है। कलियुग आते ही सब मनुष्य बुरे हो जायें यह बात नहीं है। सत्ययुग में भी यदि अधिक मात्रा में बुरे मनुष्य

हों तो वह भी कलियुग हो जायगा। इसी प्रकार कलियुग भी सत्ययुग हो सकता है। सत्ययुग, त्रेता आदि में भी राजावेन, हिरण्यकश्यप, रावण आदि हुए और कलियुग में भी बुद्धदेव, अशोक, शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि महानुभावों का आविर्भाव हुआ था। जिनके प्रभाव से कलियुग में भी सत्ययुग की लहर बह गयी थी, इसीलिये भीष्म ने समझाने की चेष्टा की थी कि काल राजा का कारण नहीं है। राजा ही काल का कारण है। इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह का कारण नहीं है। जब राजा ही अपनी दण्ड नीति के अनुसार सुचारु रूप से राज्य का प्रतिपालन करता है, तब सत्ययुग समझना चाहिये। उस समय अधर्म का कुछ भी प्रभाव नहीं रहता। प्रत्येक वर्ण का हृदय धर्म में लगा रहता है। सारी प्रजा अप्राप्यवस्तुओं की प्राप्ति की चेष्टा और प्राप्य वस्तुओं की वृद्धि की चेष्टा करती रहती है। वैदिक कर्म दोष-शून्य होते हैं। सारे पदार्थ आरोग्य और सुख के कारण हो उठते हैं। मनुष्यों के स्वर, वर्ण, और मन निर्मल हो जाते हैं और सांसारिक आधि-व्याधि दूर हो जाती है। धरती बिना कर्षण के अन्न उत्पादन करती है। सारी प्रजा दीर्घायु होकर समय बिताती है। विधवा या कृपण पुरुष के दर्शन भी नहीं होते। फल, मूल, औषध इत्यादि सब तेजस्कर हो जाते हैं। अधर्म दूर हो कर धर्म का प्रादुर्भाव हो जाता है। पर जब राजा चतुष्पाद दण्ड नीति के तीन पाद का ग्रहण करके राज्य पालन करते हैं तो उस काल को 'त्रेतायुग' कहते हैं। पाप का एक पाद मात्र रहता है। उस समय बिना कर्षण किये पृथ्वी में प्रचुर परिमाण में सस्योत्पादन नहीं होता। जब राजा दण्ड नीति का अर्ध अंश ग्रहण कर, बाकी अर्ध अंश त्याग करके

प्रजा पालन करता है, उस काल को 'द्वापर युग' कहते हैं। द्वापर में धर्म के दो ही पाद रहते हैं। तब पृथ्वी कर्षित होने पर भी उतना फलोत्पादन नहीं करती, जितना सत्ययुग में बिना कर्षण के करती थी: उसका आधा ही फलोत्पादन करेगी। जिस समय राजा लोग सहसा दण्डनीति का त्याग करके प्रजा को कष्ट देना प्रारम्भ करते हैं, उस काल को 'कलियुग' कहते हैं। कलियुग में प्रायः सभी लोग अधर्मी हो जाते हैं। सभी वर्णों को धर्म के त्यागने की प्रवृत्ति हो जाती है। शूद्र भिक्षावृत्ति और ब्राह्मण दास्यवृत्ति का अवलंबन करके जीविका निर्वाह करने लगते हैं। सब लोग मङ्गल हीन हो जाते हैं। और सब ओर वर्ण-सङ्करों की बहुतायत हो जाती है। सारे वैदिक कार्य अशुद्ध हो जाते हैं। सारे पदार्थ क्लेशकर तथा रोगयुक्त हो जाते हैं। मनुष्यों के स्वर, वर्ण, और मनोवृत्ति का ह्रास हो जाता है। नाना प्रकार की व्याधि, और अकाल मृत्यु से प्राणी ग्रसित हो जाता है। स्त्रियाँ विधवा होने लगती हैं और प्रजा अत्याचारी हो जाती है। न तो समयानुसार वृष्टि होती है और न अन्न होता है। सब कुछ रस हीन हो जाता है। इसलिये राजा ही को सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग का कारण कहना होगा अर्थात् राजा ही के व्यवहार के कारण युगों की उत्पत्ति हुआ करती है। इसलिये राजा ही को युग-स्वरूप कहा गया है।

ऊपर लिखी आख्यायिका से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हमी लोग दुःख, सुख, रोग, आरोग्य, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष के कारण हैं। क्योंकि हम लोग जिस प्रकार का कर्म करते रहेंगे उसी प्रकार का कर्म फल भी बनता रहेगा। इस हरे-भरे सजल देश में दुर्भिक्ष ने स्थायी रूप से अड्डा बना

लिया है। नित्य नयी-नयी व्याधियों और पीड़ा के कारण लोग सदा उत्पीड़ित होते रहते हैं। इससे पता लगता है कि हमारा पाप का प्याला लवालव भरगया है। अब यदि इसे दूर करने के लिये हम पुण्य संचय की चेष्टा में कमर कस के उठ खड़े हों, तो फिर यह पृथ्वी हरी-भरी हो जाय और सारी प्रजा के मुख पर हँसी तथा उज्वलता खिल उठे। सारा देश धर्म, ज्ञान, ध्यान और पुण्य से परिपूर्ण हो जाय। पर यह होतो क्यों कर हो? हम जब शुभ कर्म करेंगे, तभी तो यह होगा।

इस समय तो हम सब लोगों ने अपने को पाप के प्रवाह में बहा दिया है। इसलिये हम में चरित्र-बल तो रहा ही नहीं। देश के लोग अब उस प्रकार से देश की बात नहीं सोचते। मनुष्य होकर मनुष्य के कष्टों की बात तक नहीं करते यह कैसी मानसिक अवनति की अवस्था है इस अवस्था से यदि हम शीघ्र नहीं निकले तो कभी भी पूर्ण मनुष्य नहीं हो सकेंगे। देश में रोग और दुर्भिक्ष फैला हुआ है, अधिकांश प्रजा मूर्ख तथा अज्ञानी है। धनवान् अपने भोग-विलास में ही मत्त हैं। गरीब की ओर ताकने का उन्हें अवकाश नहीं। जातिगत और समाजगत दुर्बलता ने हमें चारों ओर से घेर रक्खा है, यदि इससे छूटने का उपाय हम न करेंगे, तो पाप का यह सारा भार हमारे कंधे पर ऐसा बोझा डाल देगा कि हमारी कमर ही टूट जायगी और फिर उठ खड़े होने की कोई आशा नहीं रहेगी। इसी लिये कहते हैं कि अपने सोये हुए आलसी हृदय को जगाओ। धन, शक्ति और विद्या जिसके पास जो कुछ भी हो सब आज उस जगन्मय विश्वेश्वर भगवान् के पाद पद्मों में अंजली देने के लिये तैय्यार हो जाये। तभी हमारे देश वासियों कि उन्नति

होगी। पृथ्वी का कल्याण होगा। सबसे पहिले कर्म करने की योग्यता प्राप्त करनी होगी, इसके लिये विद्या, धन और स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। विद्या, धन और स्वास्थ्य जीवन की प्रधान शक्तियां हैं। इसलिये इन तीनों की प्राप्ति में जो बाधाएं हों उन्हें हटाने के लिये समाज और देश के प्रत्येक मनुष्य को जी-जान से चेष्टा करनी चाहिये। स्वास्थ्य हीन मनुष्य तो निरा निकम्मा है। उससे किसी अच्छे काम की आशा करना निष्फल सा है। इसलिये सबल, पुष्ट, और कष्ट-सहिष्णु शरीर धारण करने के लिये स्वास्थ्यकर आहार, विशुद्ध जल, और निर्मल वायु का सेवन, नियम पूर्वक अङ्ग चालन-व्यायाम तथा इन्द्रिय संयम की नितान्त आवश्यकता है। इन सबके लिये अर्थ की आवश्यकता है। सदुपाय से अर्थ-संग्रह यदि करना है तो विद्यार्जन के लिये यत्नशील होना चाहिये। अर्थोपार्जन के लिये शारीरिक और मानसिक परिश्रम करना ही होगा। इसके लिये सुखाद्य आहार और स्वास्थ्यकर स्थान का निवास, नियमित व्यायाम, खेल कूद इत्यादि आवश्यक है। इन सब बातों की प्राप्ति होने ही से हमें आधिभौतिक बल की प्राप्ति होगी। इसके बाद हित और अहित भले और बुरे प्रभृति की पहिचान और इनका ग्रहण या त्याग करने की योग्यता का लाभ हो सकेगा। इसके लिये सद्विद्या की आलोचना और सज्जनों के समाज में आना-जाना आवश्यक है। काम-क्रोध आदि रिपु समान विषयों के संसर्ग से मनुष्य और भी उत्तेजित हो उठते हैं। इसलिये उन्हें न्याय मार्ग में चलाने के लिये मन की दृढ़ता, सत्य भाषण, कर्तव्य बुद्धि, सचिन्ता, सद्ग्रन्थों की आलोचना, परोपकार, इत्यादि वृत्तियों को परिमार्जित और उन्नत करने की नितान्त आवश्यकता है।

सबके ऊपर आध्यात्मिक वृत्तियों को सुपुष्ट रखना परम कर्तव्य है। उसके लिये देव, द्विज, गुरु और ज्ञानियों की सेवा, साधन और भजन, वैराग्य तथा सत्सङ्ग की आवश्यकता है। इन सबके यथार्थ अनुष्ठान से ज्ञान और भक्ति का उदय होता है। जिसके परिणाम में धैर्य, सन्तोष, और शान्ति की प्राप्ति होती है। चेष्टा और उद्योग द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शक्तियों को जागृत करने ही से हमारे जीवन की सार्थकता होगी, और हम धन्य हो सकेंगे।

पूर्व कर्म फल से जो दैव (भाग्य) बना है उसका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है। पर उसके कष्ट कर विभाग के फल मिलने के पहिले ही यदि हम शुभ कर्मों के द्वारा पुण्य-संचय करने के लिये कमर कस कर जुट न जायँगे, तो भीषण विनाश से कोई भी हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा।

तृतीय अध्याय

पुरुषकार

योग वाशिष्ट के मुमुक्षु प्रकरण में ज्ञानगुरु वशिष्ट ने त्रिलोकपावन श्री रामचन्द्र जी को उपदेश दिया था:— कि दैव ही बल प्रदान करता है—यह मूढ़ों की कल्पना है। पुरुषार्थ बिना किसी प्रकार की सिद्धि संभव नहीं है। सन्मार्ग का सहारा लेकर काय, मन, वाक्य से सत्कर्म का अनुष्ठान करना ही पुरुषार्थ है। दुर्बल और बलवान के युद्ध में जिस प्रकार दुर्बल का पराजय होता है, उसी प्रकार से दैव और पुरुषार्थ के संग्राम में दैव ही का पराजय हुआ करता है। जिस प्रकार उपवास आदि द्वारा अजीर्ण रोग की शान्ति होती है, उसी प्रकार वर्तमान पुरुषार्थ-भूत पुरुषार्थ (दैव) को नष्ट कर देता है। सैकड़ों महापुरुष दुर्निवार्य दारिद्र्य जनित दुःख में पड़कर भी बाद में पुरुषार्थ द्वारा इन्द्र जैसी विभूति को प्राप्त कर सके हैं। पुरुषार्थ द्वारा बृहस्पति देवताओं के तथा शुक्राचार्य दैत्यों के गुरु हो गये। दीन-हीन सामान्य मनुष्य भी पुरुषार्थ द्वारा ऐश्वर्य की प्राप्ति कर सकता है। पुरुषार्थ द्वारा ही मनुष्य के अभीष्ट सिद्धि और बुद्धि बल की वृद्धि हुआ करती है। दुःख के आ पड़ने पर मूर्खता से दैव की आड़ में चुप बैठे रहना, एक प्रकार से मन को कोरा आश्वासन देना है। जिसको अपना पौरुष नहीं वह किसी दूसरे उन्नतिशील व्यक्ति की उन्नति को दैव मूलक सिद्ध कर संतोष कर लेता है।

पौरुष किसे कहते हैं

अदृष्ट का अर्थ यही है कि जो दिखाई न दे। कार्यों का फल अप्रकट है, उसे वास्तव में कोई देख नहीं सकता।

दैव क्या है ?

पर चेष्टा और पुरुषार्थ द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। गुलाब की छोटी कलम में उसके नवीन पत्र पल्लव, पुष्प आदि की शोभा या सुगन्ध कुछ भी नहीं रहती। परन्तु पानी सींचते सींचते, और यत्न करते करते, उसी कंटक मात्र सूखी शाखा से नये पत्र-पल्लव प्रकट होते हैं। और चेष्टा के प्रभाव से वही धीरे-धीरे पेड़ के रूप में परिणत हो जाता है, और नये-नये पत्ते पल्लवों से विभूषित हो उठता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की नवीन कलिकाएं उसमें शोभा देने लगती हैं जो समय पाकर खिल जाती हैं। और अपूर्व सौन्दर्य तथा सुगन्ध का विस्तार कर जगत को मुग्ध करती हैं। यदि यह आश्चर्य जनक नहीं है तो मनुष्य के भीतर जो गुण वर्तमान हैं, वे भी चेष्टा और यत्न करने से क्यों नहीं प्रस्फुटित और प्रकाशित हो सकते हैं, दैव के प्रभाव से नहीं।

क्या पुरुषार्थ निष्फल, सी चेष्टा है ?

लोग कहा करते हैं कि बहुत से मनुष्य यथेष्ट परिश्रम, यत्न, और चेष्टा करने पर भी अपने कार्य में सफल नहीं होते, पर बहुत से चेष्टा किये बिना ही सब कामों में सफल हो जाया करते हैं। तब इसे दैव का प्रभाव न कह कर क्या कहा जाय? ऐसी अवस्था में तो यही कहना पड़ेगा कि दैव ही बलवान है पुरुषार्थ व्यर्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी ऐसा हुआ करता है। फिर भी पुरुषार्थ को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। जिसे तुम दैव कह रहे हो, वह पूर्व जन्म के ही कर्म का फल है। पूर्व जन्म के --!

से ही बहुतों का धन लाभ, यश लाभ पहिले ही से निश्चित हुआ रहता है, और थोड़ी सी चेष्टा करने से ही उन्हें सफलता मिल जाती है। परन्तु जिनके कर्म फल प्रतिकूल अवस्था में हैं, उनके लिये उसे दूर करने के वास्ते पुरुषार्थ के अतिरिक्त और क्या उपाय है ? भाग्य कैसा ही विपरीत क्यों न हो पुरुषार्थ द्वारा उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य किया जा सकता है, इस विषय में सन्देह करना व्यर्थ है। पतिव्रता सावित्री और राजर्षि ध्रुव का जीवन इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। फिर भी कभी-कभी यह देखा जाता है कि बहुत कुछ सोच-विचार कर पुरुषार्थ किये जाने पर भी उसका फल कुछ नहीं होता। इसमें पुरुषार्थ का कोई दोष नहीं है। वहाँ यही समझना होगा कि पूर्वजन्म का कोई बड़ा कठिन और उत्कट कर्म का फल मिलना आरम्भ हो गया है, उसकी प्रबल बाधा के कारण सारा पुरुषार्थ व्यर्थ हो रहा है। पर सब जगह यह बाधा सदा वर्तमान रहेगी—यह कोई ध्रुव बात तो नहीं है। पूर्व कर्म के फल का भोग एक दिन अवश्य नष्ट होगा। उस समय नये जोश से जो पुरुषार्थ किये जायँगे उनकी शक्ति को कौन बाधा दे सकता है। किन्तु एतदर्थ धीरज धरने की आवश्यकता है। योग वाशिष्ट में लिखा है कि पूर्व जन्म के कर्मफल और इस जन्म के पुरुषार्थ में युद्ध हुआ करता है। जिस प्रकार दो लड़ते हुए मेढ़े परस्पर एक दूसरे को हराने के लिये टक्कर लिया करते हैं और अन्त में जिसकी शक्ति कम रहती है वही हारता है उसी प्रकार से प्रबल पुरुषार्थ पूर्व जन्म के अशुभ कर्म फल को नष्ट भी कर सकता है। पूर्व जन्म के कर्मों के फल से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह भी तो पूर्व

पुरुषार्थ सर्वथा अवलम्बनीय क्यों ?

जन्म के पुरुषार्थ का ही फल है अतः पुरुषार्थ का ही अवलम्बन करना चाहिये।

पुरुषकार के व्यर्थ होने पर क्या कर्तव्य ?

पुरुषार्थ विफल होने पर शास्त्र, गुरुवाक्य, और विचार तीनों का अवलम्बन करना चाहिये। यदि दिखाई दे, कि इष्ट की प्राप्ति नहीं हो रही है तो यह समझना होगा कि पूर्व जन्म के दुष्कर्मों के फल का प्रभाव अभी भी प्रबल है। ऐसी अवस्था में अधिक से अधिक शुभ कर्म करना और पुरुषार्थ को और भी प्रबल कर देना होगा। जो ऐसा नहीं करता वह अपनी शक्ति का अपमान करता है। उसे कभी भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है :—

"असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्यं इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥"

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जिसका चित्त संयत नहीं हुआ है, उसे योग की प्राप्ति दुर्लभ है। जिसने मन को वश में कर लिया है, वही अभ्यास और वैराग्य के द्वारा योग की प्राप्ति कर सकता है।

आलसी ही दैव को प्रधानता देता है

ऋषि विश्वामित्र इसी पुरुषार्थ के द्वारा राजर्षि से ब्रह्मर्षि हो गये। ध्रुव भगवान् का साक्षात्कार कर सके। यत्न और चेष्टा बिना कोई भी काम सफल नहीं होता। सोये हुए शेर के मुँह में हिरन आप से आप जाकर नहीं गिर पड़ता। जो पुरुषार्थ नहीं करते वे ही केवल दैव-दैव चिल्लाया करते हैं। पूर्व जन्म का पुरुषार्थ अर्थात् दैव यदि इस जन्म के पुरुषार्थ को व्यर्थ करता रहे तो

भी पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि इस जन्म के पुरुषार्थ का फल भी अवश्य मिलेगा ही, अगले जन्म में यही 'दैव' के रूप में प्रकट होगा, जैसा कि गीता में कहा है :—

"तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते॥"

योगभ्रष्ट मनुष्य पूर्व जन्म के कर्मानुसार बुद्धि को प्राप्त करता है और उसे प्राप्त करके इस जन्म के किये हुये कर्मों के द्वारा अपने साधन में अधिकतर प्रयत्नवान् होता है। यदि वह न भी चाहे, तो पूर्व जन्म का अभ्यास इस जन्म में उससे बलात् कर्म कराता है। इससे यह पता लगता है कि अधिक प्रयत्न करने की इच्छा भी पूर्व जन्म के पुरुषार्थ का ही फल है। यदि पूर्व जन्म का कोई शुभ कर्म फल नहीं है और इस कारण स्वभाव से अच्छे कर्मों के करने का आग्रह नहीं होता, तब तो बुरे कर्मों से बचने की जी-जान से चेष्टा करनी चाहिये। यदि ऐसी चेष्टा न करेंगे तो अगले जन्म में बुरे कर्म और अधिक प्रबलता से बाधक हो जायेंगे और हमें अधिक गहरे में गिराने की चेष्टा करेंगे। पाश्चात्य ज्ञानियों के अग्रणी महात्मा सुकरात के मुख की आकृति देखकर किसी लाक्षणिक ने कहा कि वे बड़े कामी हैं। इससे उनकी शिष्य मण्डली बड़ी रुष्ट हो गई, और ज्योतिषी की दुर्दशा करना चाहा। तिस पर सत्य प्रिय सुकरात ने शिष्यों को रोकते हुए कहा—उस ज्योतिषी को क्यों तकलीफ पहुंचाने की चेष्टा करते हो। वह तो ठीक कहता है मैं तो सचमुच बड़ा कामी हूँ। पर साधारण मनुष्य में और मुझ में भेद इतना ही है कि मैं अपनी बलवान् इन्द्रियों को अपने पुरुषार्थ से बुरे कामों

से रोक कर रखता हूँ और दूसरे लोग ऐसा नहीं करने से बुरे कर्म करने के लिये विवश हो जाते हैं। दैवाधीन प्रवृत्ति के हाथ से पुरुषार्थ द्वारा मनुष्य कैसे छूट सकता है ? यह इस बात का एक उत्कृष्ट और उज्वल दृष्टान्त है। इस प्रकार का पुरुषार्थ सभी को करना होगा। यदि न करोगे तो यह जन्म तो गया ही, जन्म जन्मान्तर भी व्यर्थ होता रहेगा।

यह भी एक बात मन में जरूर आती है कि साधक तो अपनी साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिये जी जान से शक्ति लड़ा रहा है। पर सिद्धि लाभ मरु भूमि की मरीचिका की तरह उसको हस्तगत नहीं हो रही है। ऐसी अवस्था में नवीन साधक के लिये धैर्य धारण करना क्या कठिन नहीं है ? कठिन तो है पर उसके दूर करने के लिये पुरुषार्थ ही का तो सहारा लेना पड़ेगा। जैसे भी हो, पुरुषार्थ द्वारा ही इस भीषण बाधा को हटाना पड़ेगा। इसीलिए ज्ञानियों ने इस मार्ग को छूरे की धारा का मार्ग बताया है।

पूर्वजन्म के कर्मों को जीत कर सिद्धि की प्राप्ति।

बहुत कुछ चेष्टा करने पर भी जब वांछित वस्तु की प्राप्ति प्रायः असंभव हो जाया करती है, तो इसमें सदेह नहीं कि साधक के मन में सैकड़ों बिच्छुओं के डंक मारने जैसी पीड़ा का अनुभव होता है। फिर भी जो इस पीड़ा से व्याकुल न हो कर अपने उद्यम रूपी अग्नि को पुरुषार्थ द्वारा प्रज्वलित किये रहते हैं, और उस गाय की तरह जिसका बछड़ा खो गया हो और जो उसकी प्राप्ति के लिये विह्वल हो रही हो, अपने लक्ष्य प्राप्ति पर लगे रहते हैं; और सहस्रों विघ्नों के बराबर बाधा देने पर भी निरुत्साहित नहीं होते, उनका जन्म सार्थक है। उन को सिद्धि की प्राप्ति होती है। उनके दुःख की घनघोर घटा को मिटाती हुई साधना सिद्धि के

चन्द्रमा की निर्मल कौमुदी उनके चित्ताकाश में एक अपूर्व निर्मल स्निग्ध ज्योति को प्रकाशित कर देती है। बुद्धदेव की बात तो बहुतों ने सुनी है। तपस्या से उनका शरीर हाड़-हाड़ हो गया, प्राण कण्ठगत हो गये, तब भी वे सुमेरु पर्वत की तरह अटल बने रहे। तरह-तरह की माया और नाना प्रकार के प्रलोभन ने उनकी तपस्या भंग करने के लिये पूरा बल लगाया पर उस आदर्श तपस्वी के तप के तेज के आगे सारी काम्यवस्तु की माया को भस्मीभूत हो जाना पड़ा। उनकी गम्भीर वाणी सुनिए :

"इहासने शुष्यतु मे शरीरम्, त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्यबोधिं बहुकल्पदुर्लभं, नैवासनात् कायमितश्चलिष्यते।"

बहुत कल्पों में भी दुर्लभ ज्ञान प्राप्त किये बिना मैं इस आसन से कदापि उठने वाला नहीं हूँ। यही वास्तविक पुरुषार्थ का रूप है।

पुरुषार्थ कर्तव्य है। इसलिये मनमाने काम में उसका प्रयोग करना बुद्धिमानी नहीं है। अपनी शक्ति के अनुसार सत्कर्म करने की चेष्टा करना सफलता का एक मात्र उपाय है। इसमें सन्देह नहीं कि अमानुषिक पुरुषार्थ से कभी कभी असाध्यसाधन भी सम्भव हो जाता है। पर नये अभ्यासी के लिये विशेष सावधानता की आवश्यकता है। अनावश्यक कार्यों में पुरुषार्थ प्रकाश करने से कोई लाभ नहीं है। शास्त्रों में कहा है—व्यर्थ के कार्यों में यत्न करना केवल पागलपन है। श्रद्धा भक्ति से प्रकट हुआ जो विवेक और वैराग्य है उससे उत्पन्न ज्ञान और प्रेम के द्वारा ही भगवान् का साक्षात् करना जीवन का मुख्य उद्देश्य है। हमारे सब शास्त्र इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर नाना प्रकार के नियमों के पालन

पुरुषार्थ कहाँ करना चाहिये ?

का उपदेश प्रदान करते हैं। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे कर्म में लगा देती है। पर ऐसी प्रवृत्ति वाले कर्मों से आत्मा का साक्षात्कार होना बहुत कम संभव है। इसी लिये स्वाभाविक दुर्दमनीय प्रवृत्तियों का संयम करके परमार्थ की ओर लगाने के लिये ही शास्त्रों का विशेष प्रयत्न है। जीव को संयम करने के लिये ही शास्त्रों ने इन प्रवृत्ति मूलक चेष्टाओं को नाना प्रकार के उपायों द्वारा नियम में रखने का उपदेश किया है। पर जिनका अन्तःकरण दर्पण की भाँति स्वच्छ नहीं है और धूल से ढका है, 'भगवान् की शरण जाने से सर्व सिद्धि की प्राप्ति होगी' जिनका ऐसा विश्वास नहीं है और इसी लिये जिनका संसार का वासना रूपी अन्धकार ज्ञान रूपी सूर्य का दर्शन होने से दूर नहीं हुआ पुरुषार्थ द्वारा उनकी भी कामना सिद्ध हो सकती है। आलसी और अकर्मण्य हो कर घृणित जीवन बिताने की अपेक्षा सांसारिक विषय लाभ के लिये ही पुरुषार्थ करना अधिक अच्छा है। मुक्ति के लिये चेष्टा यदि कोई न भी करे तो संसार यात्रा के लिये ही पुरुषार्थ की आवश्यकता है। यदि उसे भी न करेगा तो सर्वत्र हो निन्दा का पात्र होगा। याद रखना चाहिये कि उसे लोक परलोक दोनों में दुःख ही दुःख की प्राप्ति होगी।

बहुतों को यह कहते सुना है कि 'भगवान् की जो इच्छा होगी वही होगा', हम क्या अपनी चेष्टा से अपना उद्धार कर सकेंगे? भाग्य में यदि मुक्ति लिखी होगी तो उसकी चेष्टा आपही होगी, नहीं तो नहीं। इससे बढ़ कर और कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती। अपनी मुक्ति या उद्धार यदि अपने हाथ की बात न होती तो श्रुति-स्मृतियों में क्यों कहा जाता कि ऐसा करो और इस प्रकार न करो। फिर तो

बुरे कामों से निवृत्ति करने और अच्छे कामों में लगाने के लि लिखने का कोई प्रयोजन ही नहीं था। विषय भोग और तत्सम्बन्धी पदार्थों के संग्रह करने के लिये दैव पर भले ही निर्भर किया जा सकता हो पर मोक्ष प्राप्ति के लिये तो चेष्टा करनी ही होगी। शरीर और भोग के संबंध में जो बातें कही गयी हैं, परमार्थ के विषय में भी उसी सिद्धान्त को मान कर चलना भारी गलती होगी। पूर्व जन्म के कर्मानुनुसार भोग आदि जो पदार्थ आप से आप प्राप्त होंगे, उनके लिये सिर खपाने की विशेष आवश्यकता नहीं है। वे तो जो भाग्य में होंगे आप ही मिलेंगे, इससे अधिक मांगने की कोई आवश्यकता नहीं पर जो हमारे पास नहीं हैं उसे संग्रह करने के लिये जैसे मुक्ति, उसके प्राप्ति के लिये दैव पर भरोसा करके बैठ रहना बुद्धिमानी नहीं है। जो लोग कुछ करना नहीं चाहते और आलस्य का पल्ला पकड़े हैं वे ही इस प्रकार से अपने आप को धोखा देते हैं। काशी के सुप्रसिद्ध राजयोगी श्री श्यामा चरण लाहिड़ी की यह उक्ति है कि "पूर्व जन्म के फल से यह देह मिला है, पूर्व के कर्मानुसार जो कुछ दुःख सुख मिलना है सो मिलेगा ही। चाहे राजा हो या भिखमंगा। इसलिये संसार यात्रा के लिये उतना ही काम करना उचित है, जितना कि किये बिना नहीं चलता। उसके लिये अधिक प्रयास ज़रूरी नहीं है, जब शरीर मिला है तो सुख दुःख होगा ही, भोजन वस्त्र रहने का स्थान भला बुरा जैसा भी हो कुछ न कुछ मिलेगा ही, परन्तु अपने मुक्ति की पूंजी तुम्हारे पास यथेष्ट नहीं है, यदि होती तो तुम्हें जन्म ही न लेना पड़ता। इसलिये अपना सब पुरुषार्थ उसी ओर लगा देना चाहिये जिसमें जन्म-मृत्यु से

छुटकारा मिल सके, और मनुष्य देह धारण का उद्देश्य विफल न हो जाय"

कुछ लोगों का यह कहना है कि कर्म से बन्धन की उत्पत्ति होती है इसलिये भला-बुरा कुछ भी कर्म नहीं करना चाहिये। यह बात भी ठीक नहीं। जिसे कर्म करने का अधिकार है उसके लिये कर्म न करना अधर्म का कारण होता है। सांख्य शास्त्र में जिस अवस्था में कर्म के त्याग का उपदेश है, उसे न समझने के कारण कुछ लोग कर्म को बंधन का कारण समझ कर कर्म मात्र का ही त्याग कर बैठते हैं। उनके उत्तर में भगवान् का यह कथन है--

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः॥"

ईश्वर की प्राप्ति के लिये भगवान् को लक्ष्य करके जो कर्म किया जाता है उसके अतिरिक्त और सब कर्म मनुष्य को बन्धन में डालने के कारण होते हैं। इसी लिये बहुत कुछ झंझट और बखेड़े से जान बचाने वाले अर्जुन को भगवान् ने उपदेश किया कि तुम्हारा हृदय अभी तक शुद्ध नहीं हुआ है। इसलिये तुम्हें कर्म में ही अधिकार है, मिथ्या, वैराग्य का बहाना करके कर्तव्य कर्म को छोड़ दोगे तो धर्म-भ्रष्ट हो जाओगे।

"नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायोह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥"

कर्म त्याग की अपेक्षा कर्म करना अधिक श्रेयस्कर है। सब कर्मों को यदि छोड़ दोगे तो शरीर की यात्रा कैसे चलेगी।

शास्त्र सम्मत और अशास्त्र सम्मत दो प्रकार के पुरुषार्थ हैं। उनमें से शास्त्र के अनुकूल पुरुषार्थ से परमार्थ की

सिद्धि होती है। और प्रतिकूल पुरुषार्थ से अनर्थ की वृद्धि होती है।

शास्त्रीय पुरुषार्थ द्वारा अनर्थ निवृत्ति और उसका लक्ष्य

"पराचः कामाननुयान्ति बालास्ते
मृत्योर्यान्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥" कठोपनिषद्

थोड़ी बुद्धि वाले मनुष्य बाहरी काम्य वस्तु की इच्छा करते हुए सर्वव्यापी मृत्यु की फाँस में बंधे रहते हैं। परन्तु बुद्धिमान मनुष्य वास्तविक अमृत के तत्व को जान कर सांसारिक नाशवान् पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते।

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥"

तपस्या तीन प्रकार की है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देवता, ब्राह्मण, गुरु, और ज्ञानियों का सत्कार पवित्रता, सरल व्यवहार, और ब्रह्मचर्य शारीरिक तपस्या है। सत्य, प्रिय, और हितकर वचन कहना और इस प्रकार कहना कि किसी को उद्वेग न हो और वेद का अभ्यास वाणी की तपस्या है। चित्त की प्रसन्नता, अक्रूरता, मौनावलंबन, इन्द्रिय निग्रह, भाव की शुद्धि अर्थात् जैसा मन में है वैसाही कहना यह मानसिक तपस्या है।

"दान करना, व्रतादि रखना, वेदाभ्यास, ब्रह्मचर्य

धारण इन्द्रियरूपी अश्वों को वश में रखकर शान्ति के मार्ग में चलाना, सब भूतों में समदर्शिता के भाव द्वारा दया दिखाना, सरलता का अवलंबन करना दूसरों के द्रव्य के प्रति लालच न करना, किसी भी प्राणी का बुरा न सोचना, माता, पिता, गुरुजनों आदि की सेवा करना, सुख और धर्म प्राप्ति के यही सब उपाय हैं। यही सनातन धर्म है। जो मनुष्य इन सब शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती। योगी पुरुष तो इस प्रकार के सदनुष्ठान करने वाले लोगों से भी श्रेष्ठ हैं। क्योंकि बिना योग बल के संसार-छेदन का कोई सहज उपाय नहीं। दया आदि सदनुष्ठान की जो सब बातें ऊपर लिखी गई हैं, उनके साधन से मुक्ति की प्राप्ति बहुत दिनों में होती अवश्य है, पर योग बल द्वारा मनुष्य मुक्ति शीघ्र प्राप्त कर सकता है।" — योगवाशिष्ठ

"धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"
"स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥" — मनुसंहिता

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी का त्याग), शौच (शरीर के भीतर तथा बाहर की पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह, तत्वज्ञान, विद्याध्ययन, सत्यपालन, क्रोध का त्याग धर्म के दश लक्षण हैं। वेदाध्ययन द्वारा ऋषियों का, होम कर्म इत्यादि द्वारा देवताओं का, श्राद्ध द्वारा पितरों का, अन्न द्वारा मनुष्यों का और इतर प्राणियों का बलि सत्कार करना चाहिये।

शारीरिक क्लेश और चित्त की उच्छृङ्खलता के सैकड़ों प्रकार के असंयम के भाव मनुष्य की आत्मा को निरन्तर व्याकुल करते रहते हैं, इसलिये होम इत्यादि क्रिया, योग द्वारा, गायत्री, उपासनादि मन्त्र द्वारा, यम नियमादि लय योग द्वारा चित्तको विशुद्ध करने पर पूर्व जन्मार्जित बुरे कर्मों से छुटकारा मिल सकेगा, दूसरा कोई और उपाय नहीं है। इसलिये प्रकृष्ट संग्राम के लिये सुसज्जित होना आवश्यक है। मैं दुर्बल हूँ, इसलिये चुपचाप बैठे हुए प्रार्थना करने ही से गले में जयमाल पड़ जायगी या सौभाग्य की वृष्टि हो जायगी ऐसी आशा करना निरा पागलपन है। यथेष्ट चेष्टा बिना कोई एकाएक योगी नहीं हो सकता। इसलिये दैव का भरोसा किया जायगा तो उलटा ही फल होगा। मनुष्य की जो कुछ उन्नति होनी है वह भी नहीं हो पायगी इस-लिये भव रोग से पीड़ित मनुष्य के लिये पुरुषार्थ ही एक मात्र औषध है। शास्त्र के अनुसार विधि सम्मत पुरुषार्थ द्वारा यदि कुछ न हुआ करता तब तो हम यह कह देते की संसार की नियम, शृङ्खला, सत्य, ज्ञान, धर्म आदि सब जाल और धोखे की टट्टी है। जीव सुख-दुःख की कठोर चक्की में पीसा जा रहा है। तब इस जगत् में सत्य और न्याय की मर्यादा कहाँ रही, भगवान् यदि हो भी तो ऐसे भगवान् को पाखण्डी और धोखेबाज कहना चाहिये। मनुष्य को आजतक बहुत सी ढाढस देने वाली बातें जो सुनाई गई हैं, सब धोखा ही धोखा है, पर ये बातें ठीक नहीं हैं। भगवान् पर यह कलंक नहीं लगाया जा सकता। उनकी बातें अक्षरशः सत्य हैं। वे तो पूर्ण और निष्कलंक हैं। इसीलिये भक्त लोग आदर पूर्वक उन्हें निरंजन कहकर बुलाया

विधि-सम्मत पुरुष-कार का अव्यर्थ फल

करते हैं। वह तो अपने हाथों से भक्तों के कलंक को मिटा दिया करते हैं, इसीलिये उन्हें कलंक भंजन भी कहते हैं। भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—

> उद्धरेदात्मनात्मनं नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
> इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
> तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

मनुष्य अपने ही द्वारा अपना उद्धार कर सकता है, अपनी आत्मा को अधोगति से बचा सकता है यह जीवात्मा ही, अपना मित्र अथवा शत्रु है। इन सब विधि वाक्यों का प्रयोग बिलकुल असंगत होता है, यदि अपने को आप उद्धार करने की शक्ति हमारे में न होती अथवा जड़ता-रूपी कीचड़ में फँसने से बचने की शक्ति न होती। 'तयोर्न-वशमागच्छेत्' कहकर सावधान करने की भी आवश्यकता न थी, क्या भगवान् को हमसे दिल्लगी करना था कि एक ओर हमें सावधान करते जायँ और दूसरी ओर हमारी असफलता पर हँसी उड़ाया करें। इस प्रकार के भाव की कल्पना तो उन्हें न मानने वाले नास्तिक लोग भी शायद न करेंगे। इसलिये जिन सब साधनों के साथ हमें इस संसार में भेजा गया है, उन सब साधनों के द्वारा उचित है कि लक्ष्य-प्राप्ति के लिये हम दृढ़-संकल्प हो जायँ। हे भाई! व्यर्थ भयभीत होकर संग्रामक्षेत्र से भागने की चेष्टा न करो। हम यथार्थ शक्ति के भण्डार हैं। इस विश्वास को मत खोओ कि हममें यथेष्ट शक्ति है। मनुष्य मात्र को यह बात याद

पुरुषकार की चेष्टा ही भगवान् का अभिप्रेत नियम है।

अपनी रक्षा की शक्ति अपने ही में है।

दिलाने के निमित्त ही भगवान् ने अपने भक्त और सखा को यह उक्ति कही है :—

"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रहृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप"

भगवान् के भक्त सेवक अपने हृदय के एक छिपे कोने में उनकी इस उपदेश वाणी की ध्वनि सुना करते हैं।

इस पर सम्भव है, कुछ लोग यों कह उठेंगे—यह तो आपने अच्छी कही, सारे कामों के कर्त्ता तो भगवान् है, हम तो केवल उनके हाथ के खिलौने हैं। हममें करने कराने की शक्ति कहाँ है? वे जो करते हैं, वही होता है। घमण्ड में फूले हुए हम नाहक अपने को कर्त्ता मान कर बैठे हुए हैं। इत्यादि। इन सब बातों में नम्रता तो अवश्य दिखाई पड़ती है, पर इन बातों से सत्यता की मर्यादा की यथेष्ट हानि होती है। अहंकार करना कोई अच्छी बात नहीं। इसमें दो मत नहीं हो सकते। पर जिस बात की क्षमता हमारे में सचमुच मौजूद है, उसको मानकर चलने से ईश्वर का अपमान होगा, ऐसा मैं नहीं मान सकता उलटे न मानने से ही ईश्वर का अपमान हो सकता है। हममें जो शक्ति है, वह आखिर हमने पाई कहाँ से? यह भी तो उसी ईश्वर की ही शक्ति है? हमारे भीतर शक्ति की जो यह लीला चल रही है, सब उसकी ही महिमा है। यदि कोई मूर्खता वश अपने में भगवान् की उस प्रत्यक्ष शक्ति की उपेक्षा कर झूठी मन की दौड़ के पीछे पड़ कर परेशान होता है और पुरुषार्थ द्वारा उस अपनी शक्ति को कार्य में लगाकर भगवान की दी हुई शक्ति के माहात्म्य को नहीं सम-

अपनी शक्ति में विश्वास करना ही ईश्वर के प्रति विश्वास है।

सुना चाहता अपितु अलीक दैव के भरोसे बैठा रहता है, ऐसा उत्साह-हीन जीव पग-पग पर धोखा खाता और कलंकित होता है और दुर्दशा भोगता है। सब जगह लोग उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। वेदों ने जीव और ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है :—

जीव नश्वरता का विषय नहीं।

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचकाशीति॥" मुण्डकोपनिषद्

'एक ही साथ रहने वाले और एक ही स्वभाव वाले दो पक्षी एक ही समय एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं उनमें एक तो उसके स्वादिष्ट फलों का भक्षण करता है और दूसरा केवल देखता ही रह जाता है।'

जीव और ईश्वर की भिन्नता क्या दूर नहीं हो सकती

"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ
नीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य,
महिमानमिति वीतशोकः॥"

जीव उसी शरीर रूपी वृक्ष में फंसा हुआ ईश्वर की सत्ता से अनभिज्ञ दुःखी और शोकित होता है, पर जब वह अपने से अलग सुख दुःख से परे ईश्वरता और उसकी महिमा का दर्शन करता है, तब प्रसन्नता से वह शोक रहित हो जाता है, अर्थात् अपनी सीमित सत्ता को वह उस असीम सत्ता में विलीन देखता है। फिर तो वह दुःख और शोक के झगड़े में पड़ता ही नहीं।

हम जिस मैं-मे के अहंकार में डूबे रहते हैं वह 'मैं' मिथ्या है, नितान्त असार है। यह तुच्छ मोह उत्पन्न करने वाला

'मैं' का मिथ्या बोध, जैसे कुहरा प्रकाशमान सूर्य को ढँक रखता है उसी प्रकार से, असली "मैं" तत्व अर्थात् आत्म-ज्ञान को ढँक रखता है। जैसे समुद्र तट का अतिक्रमण न कर सकने के कारण गरजता रहता है, वैसे ही मन इस सत्य पदार्थ को न समझने के कारण निरन्तर एक विषय से दूसरे विषयों पर दौड़ता हुआ कुछ भी शान्ति और आनन्द नहीं पाता और मर्म भेदी रोदन कर उठता है। इतना कष्ट पाने पर भी न तो उसका मोह छूटता है, न अभिमान ही के हाथ से छुटकारा मिलता है इस प्रकार का झूठे "मैं" पनका अभिमान अहंकार होते हुए भी हमारे अन्दर असली "मैं" ही है, यह सनातन है, नित्य है, ध्रुव है। इस सत्य की महिमा का दर्शन करके ही मनुष्य शोक रहित होता है। इस अपनी सत्ता को न मानना एक प्रकार से ईश्वर या सत्य को ही नहीं मानना है।

कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि उस विश्व शक्ति के आगे हम हैं ही किस गिनती में और उस पर निर्भर करना निरा पागलपन है। हम तो कहते हैं कि यह बिल्कुल ही पागलपन नहीं है। जीव उस परमात्मा ही का तो अंश है। इसके भीतर भी उस परमात्मा की शक्ति का निवास है। भगवान् सत्य संकल्प हैं इसलिये उनके सारे संकल्प भी सत्य सिद्ध हैं। मनुष्य भी यदि अपने चित्त की शुद्धि कर ले तो उसके भी सारे संकल्प सिद्ध हो सकते हैं। इस चित्त की अशुद्धि ही ने उसे ईश्वर से अलग कर रखा है। जब यह जीव पुनः विशुद्ध होकर सत्य संकल्प हो जाता है, तब संसार की कोई भी वस्तु उसके हाथ से बाहर नहीं रहती। इसी विशुद्ध चित्त द्वारा ही यह वाक्य सिद्ध होता

जीव और ईश्वर का भेद कैसे ?

है, कि "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" अतः जब हम अहंकार छोड़कर मोह त्याग कर अपने पैरों पर आप खड़े हो जाते हैं, तो हमें उसी शक्ति पर सचमुच निर्भर करना पड़ेगा। अपने भीतर की इस शक्ति को तुच्छ या साधारण न समझो। हमारी मूर्खता ही उस असीम शक्ति को छोटा समझ कर भ्रम उत्पन्न कर रही है। इसी का नाम है 'अविद्या'। हमें सूर्य छोटा दिखाई देता है, अपनी ही क्षुद्र नेत्र शक्ति के कारण पर सूर्य छोटा नहीं है। उसी प्रकार सूक्ष्म शक्ति का अनुभव न होने के कारण ही हम अपने भीतर की उस महान् शक्ति की महानता को देख नहीं पा रहे हैं। पर यह बात तो सभी को माननी पड़ेगी कि एक बड़े अग्नि कुण्ड में जो जलाने की शक्ति है, वही उस अग्नि की एक सामान्य चिनगारी में भी है, और सावकाश आधार पाते ही वह चिनगारी बृहत्तर अग्नि का रूप धारण कर सकती है। इसी प्रकार जीव जब अपने आप को पहचान लेता है, फिर तो उसके सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं। असीम ज्ञान हो जाता है। प्रेम की असीम धारा का प्रवाह उसके अन्दर से बहने लगता है। हृदय सदा चैतन्य एवं मधुर रस का अनुभव करता रहता है, उसे प्रतीति होने लगती है, कि सत्य, निर्विकार, द्वन्द्वातीत, ब्रह्म और उसमें कुछ भेद नहीं है। फिर वह रोग, शोक, इन्द्रियों के विकार जन्य मोह से मृतप्राय सामान्य जीव नहीं रहता, तब वह अपने को पूर्ण शक्तिमान, असीमवीर्य सम्पन्न, शुद्ध, अपापविद्ध, आनन्द शान्ति का नित्य झरना, कभी न मुरझाने वाले मनोहर सुगन्धि युक्त वसन्त पुष्पों का नित्य प्रफुल्ल नन्दन कानन, ब्रह्मानन्द के अमृतपान से अजरामर, भगवान् का नित्य सखा मानने लगता है।

यही तो अनन्त की महिमा है कि वह सर्वत्र ही अनन्त है। सर्वाधार में सीमाविहीन होकर विराज रहा है। तब तो प्रत्येक जीव एक प्रकार से असीम और अनन्त ही है। तो फिर जो महात्मागण यह कहते हैं कि ईश्वर से भिन्न कोई कर्त्ता नहीं, वह क्या गलत कहते हैं ? फिर जो गीता में लिखा है:—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥"

इसका और क्या तात्पर्य ही है ? यह अनुभव साध्य है और इसके अनुभव प्राप्त होने का एक विशेष समय (Stage) भी है। साधारण पुरुषों की तरह ईश्वर वाक्य में भ्रान्ति नहीं हो सकती। इसके भीतर जो कुछ रहस्य है उसे समझने *की योग्यता भी भिन्न है। बात यह है कि अवस्था भेद से* भावों में भी भेद हो जाया करता है। यदि बालक बढ़ बढ़ कर बातें करता है तो हम उसे बुजुर्गी छाँटना कहते हैं, पर कोई बूढ़ा वही बात करता है तो उसे ज्ञानी कहकर उसका सम्मान करते हैं। अब इन दोनों अवस्था की बातों को कुछ और स्पष्ट रूप से समझना चाहिये। बाल्य, यौवन और वार्धक्य ये एक ही जीव की तीनों अवस्थाएँ होती हैं। पर अवस्था भेद से कार्य भेद होता है। बालकों के हर एक कार्यों पर चलने-फिरने, खाने-पीने, उठने-बैठने, पढ़ने-लिखने, सोने-जागने, खेल-कूद इत्यादि सभी बातों में उसपर कड़ी निगाह रखने की जरूरत है नहीं तो उसके भीतर जो भावी आदर्श मनुष्यता है उसके विकास में बाधा हो सकती है। माता-पिता उन बाधाओं को हटा कर उसके जीवन पथ को सरल करने की चेष्टा किया करते हैं। जब यह बालक बड़ा हो जाता है और उम्र के साथ-साथ होश संभालने लगता है

तब उस पर उतनी कड़ी निगाह रखने की जरूरत नहीं रहती, क्योंकि तब वह अपनी संभाल स्वयं करने के योग्य हो जाता है। एक ही मनुष्य को जब भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न भाव से चलना पड़ता है तो मनुष्य की भीतरी· शक्ति के विकास के भी कर्तव्य की विभिन्नता माननी ही पड़ेगी। जैसे बहुत से बाहरी कर्तव्यों को ज्यों-त्यों कर सम्पादन कर लेना ही अन्त है। वैसे ही अन्तर्विकास के भी बहुत से कर्तव्य हैं जिन्हें ज्यों त्यों कर निपटा देने से काम नहीं चलने का। खींचा-तानी जोर-जुल्म से भी कुछ बनने का नहीं, धैर्य के साथ उन कर्तव्यों का पालन करते रहने ही से इस अन्तः शक्ति का धीरे-धीरे विकास होता जायगा और सफलता होती जायगी तो देह और मन के बन्धन भी धीरे-धीरे ढीले पड़ते जायेंगे। इसकी प्रथम अवस्था में अहंभाव रहता ही है, न रहे तो साधन में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसलिये हर प्रकार की साधना की प्रथम अवस्था में यदि सकाम अवस्था न हो तो साधन में प्रवृत्ति नहीं होगी और तत्व का साक्षात्कार होगा ही क्यों कर। आरम्भ में ही अज्ञान का पर्दा हट कर ज्ञान रूपी सूर्य का उदय थोड़े ही हो जायगा। इसलिये भगवान् ने गीता के प्रथम भाग में मनुष्य को कर्तव्य कर्म पर दृढ़ रहने, और मनुष्यों के शक्ति-साध्य कार्यों को स्वायत्त करने का बारंबार अर्जुन को उपदेश किया है। यथा "मामनुस्मर युद्ध्य च" "जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्" "युद्धस्व विगत ज्वरः" "ये मे मतमिदं नित्यं अनुतिष्ठन्ति मानवाः" "श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः" तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौनियम्य भरतर्षभ ! 'पाप्मानं प्रजहिह्येनंज्ञान विज्ञान नाशनम्' 'कुरुकर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्,"तद्विद्धिप्रणिपातेन'

'श्रद्धावान् लभतेज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत !' 'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात्'। काम क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।" इत्यादि वाक्यों का उपदेश किया है।

गीता के इन उपदेश पूर्ण वाक्यों का तात्पर्य यही है कि मनुष्यों को पूरे प्रयत्न, चेष्टा और उद्यम के साथ इन साधनाओं का अभ्यास करना होगा। "भगवान् सब कर देंगे" कहकर आलस में पड़े रहने से कुछ न होगा। यदि ऐसा ही होता तो अर्जुन ऐसे भक्त को भी इतने प्रकार के उपदेश देने की कोई आवश्यकता न थी। करना होता तो उनका भगवान् सब कर्मों का कर ही दिये होते।

भगवान् की शक्ति ही जीव की शक्ति है

मनुष्य में जितनी शक्ति है, उसी के बल पर जब साधन करता हुआ मनुष्य का मन अन्तर्मुखी होता है, करते करते धीरे धीरे जब ध्यान जमने लगता है और बाहरी विषयों और इन्द्रियों के भोग्य विषयों की प्रीति कम हो जाती है, तब उसे स्वयं ही आत्म 'अनुभव हो जाता है, और वह समझ जाता है कि उसकी अपनी कोई अलग सत्ता नहीं है सब परमात्म शक्ति तथा आत्म सत्ता ही से पूर्ण है। तब तो यही जीव उस आद्यन्त रहित परमात्मा की परिपूर्ण सत्ता में अपने आपको विलीन करने के लिये व्यग्र हो जाता है। इसीलिये गीता या अन्य शास्त्रों में सभी जगह आत्मा और परमात्मा के अभेद का ही वर्णन किया गया है। उसी परमात्मा के शक्ति पुंज में अपने 'अहं' को विलीन कर सकना ही साधना की चरम सिद्धि की प्राप्ति है। इस अवस्था में मिथ्या "अहं" का ज्ञान बिलकुल जाता रहता है। तब साधक देखता है "तुम्हीं सब हो" "तुम्हारा ही सब कुछ है"

मैं भी जो कुछ हूं, सब तुमही हो"। "तत्त्वमसि" वाक्य का असली ज्ञान तभी होता है। इसी "तत्त्वमसि" महा वाक्य के दो अंश 'तत्' और "त्वं" के ऐक्य का यथार्थ अनुभव करके "अहं ब्रह्मास्मि" का सच्चा अनुभव होता है।

इस अवस्था को समझाने के लिये किसी साधक ने गाया है :—

आमाते ये आमि सकले से आमि,
आमि से सकल सकलि आमार।
आमि निराकार नित्य निर्विकार,
आमार आमित्व जगते प्रचार॥
जनक रूपे ते जन्माई सन्तान,
जननि हईया करि स्तन दान।
शिशु रूपे पुनः करिस्तन पान,
ए सब निमित्त कारण आमार॥
सम्भवा सम्भव आमाते सम्भव,
असम्भव भाव हय जीव भाव।
(आमि) भावमय भाव नाम सदाशिव,
भावुक भकत भावे भावाकार॥
नाम रूपे एई जगते प्रचार,
से सब अनित्य आमि नित्य सार।
आमार आमित्वे उन्मत्त संसार,
सत्यतत्त्व आमि आमि सत्यकार॥
आधेय आधार आमि सर्व मय,
स्थूल सूक्ष्मरूपेव्याप्त जगन्मय।
रूप रस गन्ध आमि अनुबन्ध,
उत्पत्ति निवृत्ति आमाते सबार॥
सृष्टि स्थितिलय बारे-बारे हय,
रविशशि ग्रह आसे पुनः जाय।

सोऽहं आमि सत्य अच्युत अव्यय ,
चरमे तुरीय आमि मात्र सार ॥

यही सच्चा " मैं पन " या 'अहं' है।

यह "अहं" क्या चीज़ है यह समझने के लिये शास्त्रों में कहा है कि कम से कम एक वार नित्य इस श्लोक को स्मरण अवश्य करना चाहिए :—

"अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानंद रूपोहं शुद्ध मुक्त स्वभाववान् ॥"

असली अहं शब्द का लक्ष्य यही है। अव यदि असली "अहं" सत्य को भूल कर मोह के वस होकर जव हम इस शरीर मात्र को ही "अहं" समझने लगते हैं तभी भारी भूल होती है। आत्मा की ओर जिसै "अहं" का संकेत है वही सच्चा अहं है। और जो अभिमान से उपजा अहंकार जिसे भूल से हम अपनी आत्मा में आरोप कर लेते हैं वह आत्मा नहीं, प्रकृति का विकृत गुण है। जव अव्यक्त अवस्था या साम्यावस्था से प्रकृति व्यक्त अवस्था में आने लगती है, तभी सृष्टि का प्रारम्भ होता है। सृष्टि की प्रथमावस्था में (First Stage) सत्त्वगुण प्रवृद्ध होकर ज्ञानात्मक या सुखात्मक महत्तत्त्व या बुद्धि का आविर्भाव होता है। रज और तमो गुण प्रवृद्ध होकर अभिमानात्मक अहंकार को उत्पन्न करते हैं। अहंकार का सात्विक अंश प्रवृद्ध होकर पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मनको उत्पन्न करता है इसी अभिमान द्वारा जीव स्थूल से स्थूल दशा को प्राप्त होता जाता है और अपने ही जाल में आप ही फँस जाता है और तव भागने की कोई राह नहीं सूझती। और इस स्थूल शरीर ही को "अहं" समझ लेना यही सवसे भारी अहंकार है, इसी का दूसरा

नाम है—अज्ञान। इसके जाल से छूट जाने ही को मुक्ति कहते हैं।

अब देखिए, एक ही प्रकार का जल—कूप, तालाव और गंगा में संचित होता है, पर वही जब गंगा में एकत्रित होता है तो पवित्र "गंगाजल" कहलाता है और कुवें में रहने से "कुवें का पानी" कहलाता है उसी प्रकार से यह अकेला ही "अहं" जब तक देह का सहारा लिये रहता है तो अपवित्र रहता है और नाना प्रकार के दोषों का आकार बना रहता है मोह को उत्पन्न करता है; किन्तु जब यही अहं भगवान् का आसरा पकड़ता है (सेव्य-सेवक संबंध से) और उनसे योग युक्त होता है तो वही परम पवित्र और पाप नाशक कहलाने लगता है।

महर्षि वशिष्ठजी ने चार प्रकार के भेद "अहं" के कहे हैं।

(१) देहोऽहम् (२) सूक्ष्मोऽहम् (३) सर्वदश्योऽहम् (४) शून्योऽहम्।—इनमें पहिला तो तृष्णा और वासना का कारण है, इसलिये बन्धन का हेतु है।

"एतेषां प्रथम, प्रोक्तास्तृष्णयावद्धयोग्यता।
शुद्ध तृष्णात्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्त विलासिनः॥"

पहले में तो विषय की तृष्णा के कारण बंधन में फँसने की योग्यता होती है, और बाकी तीनों में शुद्ध निर्मल तृष्णा और विषय भोगेच्छाशून्य तृष्णा रहने के कारण, जीवन्मुक्त पुरुष इसमें ही रमण करते हैं। इसी प्रकार के "अहंभाव" को समझने की चेष्टा करने से, धीरे-धीरे वह समझ में आवेगा।

प्रकृत्यैवच कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

शुभाशुभ कर्मों में प्रकृति ही का कर्तृत्व है। प्रकृति ही देहेन्द्रियाकार बनकर भले-बुरे कर्मों को किया करती है। देहाभिमान के कारण आत्मा में कर्तापन दीखता मात्र है, पर वास्तव में आत्मा कर्ता नहीं है। इस प्रकार से जो देखता है वही यथार्थ देखता है। जब आत्मा ही का कर्तृत्व नहीं रहा तो फिर हम कर्त्ता कैसे हो सकते हैं ?

अपने को जब तक कर्ता समझते रहोगे, तब तक शान्ति मिलने की नहीं, यह तो ठीक पर, जब तक उस परात्पर के दर्शन न होंगे और न हृदय ग्रन्थी खुलेगी, तब तक यह अहंभाव या देहात्म बोध कभी भी जायगा नहीं, पर साधक या कर्मी का जो अहंभाव है, वह उतना मोहोत्पादक नहीं है। बद्ध प्राणी अपनी दीनता के वश, ज्ञानहीन होने के कारण आत्मा को न जानकर मोहवश जिस भ्रांति में पड़ जाते हैं, आरुरक्षुगण अर्थात् योग पर चढ़ने की इच्छा रखने वालों को वैसी भ्रान्ति में पड़ने की सम्भावना नहीं है। काँटे ही से काँटा निकाला जाता है, वैसे ही शुद्ध "अहं" की सहायता से वे लोग उस अशुद्ध अहं को भगा दिया करते हैं। शास्त्र का उपदेश है।

'नावार्थी हि भवेत् तावद् यावद् पारं न विंदति ।'

जब तक पार नहीं लगें नाव की जरूरत रहेगी ही। ज्योंही यह अहंकार गया और माया का यह पर्दा हटा, भेदज्ञान जाता रहा, त्योंही शाश्वत अभय पद के दर्शन हो गये। फिर यह अभिमान वाला "अहं" रहेहीगा कहाँ ? स्वामी को सामने देखते हुये अपने ही को स्वामी समझने का भ्रम क्यों कर रह सकता है। तब तो वह पुरुषोत्तम नारायण को अपने हृदय के सिंहासन पर अपनी महिमा से आप ही विराजमान देखता है। उस समय सारे अनर्थों का मूल

यह मिथ्या अहंकार सूखे पत्तों की तरह झड़ जाता है, फिर अपने कर्त्तापन या पुरुषार्थ का अभिमान कैसे रह सकता है। उस समय,

> "भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

इसके लिये जीवन व्यापी साधना की आवश्यकता है। इसीलिये वेदों में कहा है:—"तस्यै तपो दमः कर्म्मेति प्रतिष्ठा" तपस्या, दम, और कर्म यही ज्ञान के आश्रय हैं। इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिये तपस्या इन्द्रियनिग्रह और निष्काम कर्मादि की साधना आवश्यक है।

कच्चे और पक्के में ही हूँ

पर जब तक अवस्था पकती नहीं, अधकच्ची अवस्था में "जो कुछ है सब भगवान् ही हैं" ऐसा केवल समझ लेने से कर्तापन का अभिमान जाता नहीं है, क्योंकि वास्तव में उस अवस्था का स्वयं अनुभव करना होगा, और इस प्रकार के अनुभव से भीतरी और बाहरी लक्षण प्रकट हो जाते हैं। सुग्गे की तरह इन महावाक्यों को रट लेने मात्र से कोई लाभ नहीं। हम लोग तो सदा यही बोला करते हैं—"करने कराने वाले तो सब वही हैं, अपने तो केवल एक यंत्र स्वरूप हैं" पर काम के समय तो अभिमान की मात्रा कम दिखाई नहीं देती है। सुनने में बात चटकीली तो खूब लगती है, और कानों को मीठी भी लगती है, इसी लिये जब कभी किसी के मुँह से यह वाणी सुनते हैं तो समझ लेते हैं कि यह बड़े भक्त और अहंकार रहित पुरुष हैं, पर जब उनके कार्यों को देखा जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल उनका जबानी जमा खर्च है, वास्तव

में उनके मन में तो कुछ और ही है, यह तो केवल दीनता दिखलाने का नाटक मात्र है।

जब भक्त परिपूर्ण प्रेम में तन्मय हो जाता है, सच्चा आत्म समर्पण तभी होता है। यह बात ठीक पंछी के बच्चे के पंख निकलने की तरह है। कर्म द्वारा जब चित्त निर्मल हो जाता है तभी ज्ञान के पंख प्रकट होजाते हैं, तभी वह चिदाकाश में उड़ता हुआ माया राज्य से दूर प्रदेशों में साधन रूपी पर्वत के ऊँची चोटी पर जाकर प्रेम फल प्राप्त करता है। और उस मधुर फल का भोजन कर पूर्णानन्द को प्राप्त करता है।

कब आत्म समर्पण सम्भव है

बड़ी तपस्या और बहुत कुछ साध्य-साधना के बाद इस सौभाग्य की प्राप्ति होती है, तब भक्त अपने को फिर देह में बँधा हुआ नहीं देखता। वह अब अपनी पृथक् सत्ता को भी नहीं समझता और तब अपने सारे कर्म, सारी चेष्टाएँ, देह, मन, प्राण, सब कुछ भगवान् का ही जानता है, तभी भक्त अपने को यथार्थ रूप से "अकर्त्ता" समझता है। तब उसे स्पष्ट दीखता है कि ये भिन्न-भिन्न शक्तियाँ उसी एक अखण्ड आनन्दमय शक्ति से ही विकसित हैं। जैसा उपनिषद् में कहा है:—

अकर्त्तारं स पश्यति

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥"

तब तो प्रेम में डूबा हुआ भक्त गा उठता है:—

"तोमाते आमाते लागिल प्रेमेर फाँसि।
निश्चय करिया एकमत हइया हइनू चरणे दासी॥"

पर जब तक ऐसी अवस्था नहीं बनती, और इस प्रकार का गहरा अनुभव नहीं होता और जब तक व्यर्थ अभिमान के मोह में हम घिरे रहते हैं, तब तक तो अपनी शक्ति को अस्वीकार किये बिना कैसे बनेगा। उसी शक्ति को ईश्वर की शक्ति मान कर साधन करते जाना होगा। इसी तरह से अपने भीतर के अपने सच्चे 'अहं' का ज्ञान प्राप्त करना होगा। हम न तो छोटे हैं, न दीन हैं यह समझना होगा। क्षणिक मोह को नष्ट करते हुए प्रवृत्ति की चटकीली चपलता को हटाते हुए संस्कार के चलते हुए चक्र के प्रबल वेग को बल पूर्वक विभिन्न विचारों में डाल कर सत्य पथ और ज्ञान की ओर तथा प्रेम की ओर लगा देना होगा। जब तक जगत्-

ईश्वरीय शक्ति के सद्व्यवहार द्वारा लक्ष्य स्थान की प्राप्ति

कर्त्ता को शक्तिरूप से नहीं समझ पाते। तब तक तो अपनी शक्ति ही पर भरोसा रखते हुए यत्न और अभ्यास में जुटे रहना पड़ेगा। इसी अभ्यास से ही अपने "मैं" की पहचान कर सकोगे, और आत्मा द्वारा आत्मा पर विजय की प्राप्ति होगी। इससे सिद्धि की यथेष्ट संभावना है। हम में वही शक्ति विद्यमान है। इसीलिये गीता में भगवान् ने कहा है:—

"बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। "

मन से ही मन को जीतो। पहले आत्मजयी तो हो फिर उसे आत्म समर्पण की शक्ति होगी। पहले हम अपने तो हों तब समर्पण पीछे करने योग्य होंगे नहीं तो जो वस्तु तुम्हारी हुई ही नहीं उसे दूसरे को कैसे समर्पण करोगे? इसलिये पहले अपने आधीन आपको लाओ, फिर तो किसी दिन जैसे पंछी पके फल को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही भगवान् स्वयं ही तुम्हें अपना लेंगे।

हमने जीवन समर्पण किया या करते हैं कह देने ही से समर्पण नहीं हुआ करता। यह तो होता है, साधना द्वारा, बलवान लोग ही सुमिष्ट गुरुपाक द्रव्य को सहज में चबा और हजम कर सकते हैं। पर शक्ति प्राप्त करने के पहले ही जो गुरुपाक द्रव्यों का भोजन लोभ वश कर लेते हैं, द्रव्य के पुष्टिकारक होने पर भी उनके पाक यन्त्र निर्बल और रोगी हो जाते हैं। इसलिये पहले पुरुषार्थ और कर्म द्वारा शक्ति का संचय करो फिर तो ज्ञान, प्रेम, और भक्ति की तरंगें आप ही तुम्हारे चारों ओर नृत्य करती फिरेंगी, नहीं तो भाव राज्य का जो चरम मधुर रस है, वह कच्ची हालत में चखने से कुछ भी सुफल न देगा। प्रत्युत भाव को विकार युक्त करके सदा के लिये तुम्हारे चित्त को दुर्बल कर देगा। जयदेव जी की मधुर पदावलियों को सुनकर श्री चैतन्य महाप्रभू ध्यान मग्न हो जाया करते थे पर साधारण लोगों को तो विष रूपी विषय-विलास ही उसमें दीखती है। इससे नकली भक्तों का प्रेम न बढ़कर विकार ही बढ़ता है। इसलिये सबसे पहले अपने को "पक्का" करने के लिये पुरुषार्थ के साथ कर्म योग का ही आसरा लेना पड़ेगा और इसी में हमारा यथार्थ मंगल है।

योग्य न होकर योग्यता की ढोंग का कुफल

चतुर्थ अध्याय

सदभ्यास

संसार की आधि-व्याधि और जरा-मृत्यु से ग्रस्त मनुष्य के मन में जरा भी शांति नहीं रह जाती तज्जन्य ऐसी मूढ़ता हो जाती है कि इससे छूटने के प्रयत्न करने की भी लोगों में उत्साह या प्रवृत्ति नहीं देखते। रात दिन सांसारिक ज्वाला से जलता हुआ मनुष्य जैसे दुःख-ताप को सहता रहता है, वैसे यदि कुछ धीर मनसे इस पर विचार करे तो फिर संसार पर कोई आस्था रह ही नहीं जाती। इससे लोग ऐसा न समझलें कि हम लोगों को संसार छोड़ कर भाग जाने की सलाह दे रहे हैं। बात असल में यह नहीं है। संसार में रहते हुए ही उस असली सत्ता को न पहचान लेने से हमें दुःख के गहरे कूँए में डूब जाना होगा क्योंकि यह मनुष्य का मन ही उसे नित्य दुःख सागर में डुबाए रहता है। यह मन ऐसा चंचल और चपल है कि कुछ मिल भी जावे तो भी सन्तोष नहीं और न मिलने पर भी कल्याण नहीं होता। निरंतर भोग की लालसा जागती रहती है, और चाहे कितना ही भोग मिलता जाय लालसा की निवृत्ति होती ही नहीं। सीमित जड़ पदार्थों में सुख कितना भी खोजो वह मिलने का नहीं। उस आनन्द को इन जड़ पदार्थों में अथवा विलास-सामग्रियों में कितना ही ढूँढो भेंट नहीं होने की पर हाँ, यदि इस दुर्दशा से बचना है तो वैराग्य का सहारा पकड़ो। ब्राह्मण, शूद्र, भद्र, अभद्र जिसको देखो उसी पर विलास भोग का भूत सवार है। इससे कुछ वास्तविक सुख मिल रहा है या नहीं, कभी धीर चित्त होकर इसे सोचने की फुरसत किसे है? धनिकों की नकल करके

सभी-विषय-भोग में डूब-उतरा रहे हैं और संपत्ति बढ़ाने की दुराकांक्षा के शिकार हो रहे हैं। यह भयंकर दुराकांक्षा जब तक रहेगी तब तक शांति न मिलेगी, और न कभी सच्चे सुख के दर्शन होंगे। इतनी सामग्री और ठाट बाट की जरूरत ही क्या है? इसे कभी कोई नहीं सोचता। यहां तो केवल लालसा और दुराकांक्षा की प्रबल धारा में बहे जा रहे हैं, और निरन्तर उसी की तलाश में चैन से क्षण भर बैठ भी नहीं सकते। जिसके बिना काम चल ही नहीं सकता, उसका इन्तजाम करना तो सबको चाहिए ही। पर ज्यादा लालच अच्छी नहीं, क्योंकि उससे विशुद्ध ज्ञान का नाश हो जाता है।

"तेनत्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यचिद्धनम्।"

भगवान् ने हमें जो कुछ दिया है, उसी को संतुष्ट होकर भोग करो। दूसरों को देख कर लालसा के वशीभूत मत हो। इसका यह भी अर्थ है कि जब भगवान् के सिवाय संसार में और कुछ है ही नहीं, तब भोग बुद्धि को त्याग कर संसार के सारे पदार्थ को भगवान् का ही रूप जानकर त्याग बुद्धि द्वारा अनासक्त होकर उपभोग करो, दूसरों के भाग्य के प्रति लोभ न करो।

ऋषि सन्तान नाचिकेता ने किस प्रकार से यमराज के भोगैश्वर्य वरदान का प्रत्याख्यान किया था, यह भारत के भावी ऋषि संतानों को भूल न जाना चाहिये। देखिये नाचिकेता क्या कहते हैं।

"श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः,
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः अजीर्यताममृतानामुपेत्य।
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् अभिध्यायन्
वर्णरति प्रमोदान् अतिदीर्घे जीवित को रमेत।"—कठोपनिषद्।

"हे, धर्मराज, सारे भोग्य पदार्थ क्षण स्थायी हैं, और उनके भोगों से मरणशील मनुष्यों की इन्द्रियों के सारे तेज नष्ट हो जाते हैं, और चाहे जितना ही अधिक धन मिल जाय, मनुष्य की कभी भी तृप्ति नहीं होती। जरा मरणशील व्यक्ति पृथ्वी के भोग सुख की अनित्यता को जानता हुआ और आँखों के सामने उनके द्वारा अनिष्ट को देखता हुआ, इस भोग सुख के लिये क्यों दीर्घ जीवन की कामना करेगा" यही तो वेदों का उपदेश है। ओह! वेदों की इस अमृत-वाणी को मानकर चलने की हमें क्या प्रवृत्ति नहीं होती? जिसमें नाना प्रकार की सामग्रियों के प्रति हमें लोभ न हो, इसलिये वैराग्य और तितिक्षा (सहनशीलता) का सहारा लेना ही मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। पर जब तक सत्संग द्वारा भले बुरे की पहिचान न होगी और इस पर मनन करने की स्वयं इच्छा न होगी, तब तक वैराग्य आने का नहीं। जैसे अंधेरे मार्ग में रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकार में पड़े हुए प्राणी को नाना प्रकार के सुख-दुखों में मोह हो जाया करता है। सारे अनर्थ की जड़ यह जो अज्ञान है इसके दूर हुए बिना कैसे इस लालसा रूपी तरंगों वाली मोह नदी का नाश होगा। इसलिये वशिष्ठ जी के निरुपम उपदेश को बारंबार स्मरण करना चाहिये। वे भगवान् राम से कहते हैं "शान्ति, विचार, सन्तोष और सत्सङ्ग यही चारों मोक्ष द्वार के द्वार-पाल हैं। पूरे प्रयत्न से इन चारों की नहीं तो तीन ही की, अथवा दो की और अन्ततः एक का सेवन तो अवश्य करो, क्योंकि यदि एक भी मुट्ठी में आ जायगा तो और बाकी के भी सब आप से आप आ जायेंगे। वर्षा का तरल पानी जैसे जमकर ओले का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही मूढ़ प्राणी प्रगाढ़ अज्ञान इकट्ठे होने के कारण स्थावरादि जड़ योनियों को

प्राप्त हो जाया करते हैं। सूर्य के प्रकाश से कमल जैसे खिल उठता है, वैसे ही ज्ञान के प्रकाश से आत्मा की कली खिल उठती है। जिसे ज्ञान नहीं उसे जड़ ही जानो। जिसे विवेक नहीं वह अवस्तु ही है। जिसे विद्या नहीं वह पशु ही है और जिसे विचार नहीं वह कहने भर को मनुष्य है। जिसका नाश नहीं, वैराग्य और योगाभ्यास द्वारा उसी शांति और सौजन्य के आगार, परम संपद संचय के लिये यत्नवान् हो और सदा, सच्छास्त्र आलोचन, इन्द्रियसंयम और तपस्या द्वारा अपनी प्रज्ञा को बढ़ाते रहो तभी संसार से मुक्ति मिलेगी"। वैराग्य बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। बिना ज्ञान हुए बारंबार संसार के क्लेश का निवारण हो नहीं सकता। वैराग्य का अर्थ है—इन्द्रिय समूह में अनासक्ति का होना। जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं, उसमें प्रज्ञा ही नहीं होगी बुद्धि की प्रतिष्ठा तो दूर की बात है। इन्द्रियों के भोग की लालसा जब तक नहीं जायगी, "स्थित प्रज्ञ" होना कठिन है।

"वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।"

वैराग्य और मुक्ति

बहुत से लोग कहा करते हैं कि यदि वैराग्य और मुक्ति ही जीवन का एकमात्र ध्येय है तो फिर मनुष्यों की संसार धर्म में प्रवृत्ति होहीगी क्योंकर ? दूसरे, यदि मुक्ति ही एक मात्र सार वस्तु है तो व्यर्थ इस संसार के बोझे को ढोने से क्या फायदा ? जिसे छोड़ना ही पड़ेगा, उसे क्यों न पहले ही से छोड़ दिया जाय। कीचड़ में सन कर फिर उसे धोने के प्रयत्न से क्या लाभ ? पहले ही कीचड़ में सनाही क्यों जाय ? यहीं पर प्राचीन आर्य महर्षियों के कर्म रहस्य को जानना जरूरी है। अगले अध्याय में इसका विस्तार

पूर्वक वर्णन होगा। संक्षेप में एक बात यहाँ कह देना चाहते हैं। वैराग्य से मतलब यहाँ सब कुछ छोड़ कर बैठ रहने से नहीं है। सच्चा कर्मवीर ही सच्चा वैरागी हो सकता है, क्योंकि शुभ कर्म करने से ही सत्व संशुद्धि होना निश्चित है। जिन्हें फल की चाह लगी हुई है ऐसी स्वार्थ से अंधी दीन आत्माओं द्वारा कभी भी बड़े शुभानुष्ठान नहीं हो सकते। सत्व संशुद्धि हुए बिना कोई भी शुभा-नुष्ठान का अधिकारी हो नहीं सकता। इसलिये शुभाकांक्षी प्रत्येक मनुष्य को वैराग्यवान होना ही होगा। वैराग्य-हीन मनुष्य कभी भी निष्काम भाव से, निस्वार्थ भाव से संसार के मंगलार्थ आत्म त्याग नहीं कर सकता। बहुत से लोग यह समझे बैठे हैं कि धन कामना ही सारे कर्मों का सार है। इसीलिये जिस काम में वे अर्थलाभ या सांसारिकलाभ की गंध नहीं देखते उधर फटकते ही नहीं। समझ की इस फेर ने संसार में सारी आपदाओं को खड़ा कर दिया है। वर्तमान समय के स्वार्थान्धों को यह समझना कठिन है कि ऐसे भी मनुष्य हैं जो लाभ की आशा न रहने पर भी निरालस्य होकर काम करते हैं कि रभी यह असंभव नहीं, यह भूल न जाना चाहिये। जो लोग खूब हिसाबी हैं, और कौड़ी-पैसे तक की गांठ बाँधा करते हैं, उनके लिये इसका मर्म समझना कठिन अवश्य होगा पर जो सत्य की मर्यादा को समझते हैं उन्हें कहना ही पड़ेगा कि केवल स्वार्थ देखने ही से काम नहीं चलने का। केवल स्वार्थ के वश होकर चलने से सब काम सिद्ध नहीं होंगे। दरिद्री तो उसे ही कहना चाहिये, जिसकी वासना कभी मिटती ही नहीं, अथवा जो अपने ही स्वार्थ के कूएँ का मेंढक बना हुआ है। यदि सच्चे वैराग्य और

निष्काम कर्म का रहस्य जानना चाहते हो तो विचारवान् बनो, और कुछ दिन तक मन लगाकर साधना करो, विचार आने पर देखोगे कि वासनाही पुनर्जन्म का कारण है। इसी वासना ही से संसार के सारे बन्धन होते हैं, प्रतिदिन नियम पूर्वक परात्पर परमात्मा के सुमिरन, मनन, उपासना द्वारा मन की मलीनता नष्ट हो जाती है। वासना समूह का आश्रय नष्ट हो जाता है। इसी विचार और साधन के अभ्यास से ही साधकों को सत्य का प्रत्यक्ष हुआ करता है। जब तक यह सत्य प्रकाशित नहीं होता, तब तक अपने सदभ्यासों द्वारा सत्य की खोज के लिये कमर कस कर लगे रहना चाहिये। महाभारत के युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्वजनों के विनाश रूपी घोर कर्म में लगने का उपदेश देते हुए भी, निष्काम कर्म और वैराग्य का उपदेश देते हैं। कहते हैं "हे अर्जुन, कर्म तो तुम्हें करना ही पड़ेगा, तब कर्म बन्धन में पड़ोगे, इसलिये मत डरो अपने सुख की इच्छा जब नहीं है तो ईश्वरार्पण कर्म के करने से संसार का कोई बन्धन हो नहीं सकता।" जो लोग यह कहते हैं कि फल की आशा से ही मनुष्य को कर्मप्रवृत्ति हुआ करती है, इसलिये फल की आशा त्याग देने से कर्म में प्रवृत्ति असम्भव है, उनकी यह बात सार युक्त नहीं। भगवान के अर्पणचित्त से किये गये कर्म करनेवाले निष्कामी पुरुष, कर्म करके फल की आशा नहीं किया करते, पर कर्म करने में सकामी पुरुषों से उन्हें कम उत्साह नहीं रहता। श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने जीवन में ही इस प्रकार का कर्म करके संसार के सामने निष्काम कर्म का आदर्श रक्खा है। उन्होंने कंस को मारकर अधर्मी का नाश किया, पर स्वयं सिंहासन पर नहीं बैठे। संसार के

विषयों की लालसा उन्हें नहीं थी। पर स्वधर्म या कर्तव्य से कभी मुँह नहीं मोड़ते थे। यद्यपि इस पार्थिवता-सर्वस्व सभ्यता के जगत् में ऐसे मनुष्य का मिलना कठिन है, पर असम्भव भी नहीं। शुभ कर्म करने के सुकृत के फल स्वरूप वैराग्य की उत्पत्ति अपने आप हो जाया करती है, क्योंकि शुभ कार्य करते करते सात्त्विक गुणों का उदय हो आता है, फिर तो चित्तमें कर्म फल की ओर लालसा रहती ही नहीं। अतः कर्तव्य कर्म के करने में सात्त्विक पुरुषों में, कभी भी उदासीनता, आलस्य या उत्साह की कमी, नहीं देखी गई। प्रत्युत सकामी पुरुषों की अपेक्षा वे अधिक उत्साह से कर्म में लगे रहते हैं, इसीलिये त्रिलोकी-नाथ श्रीभगवान् का यह उपदेश है,

"यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥"

जो लोग ज्ञानेन्द्रियों को मन द्वारा संयत करके अर्थात् विषय भोग में लालच न करते हुए कर्मेन्द्रिय द्वारा सब कर्मों को करते हैं वे अनासक्त पुरुष ही विशिष्ट हैं। अर्थात् ऐसे पुरुष को ही चित्त शुद्धि के निमित्त ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है, इसलिए हे अर्जुन! तुम भी अनासक्त होकर अर्थात् कर्तापन के अभिमान को छोड़कर आवश्यक कर्मों को करते रहो। अनासक्त होकर कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है। शुद्ध चित्त से पुरुष को परम पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। वैराग्यविहीन चित्त में शान्ति नहीं। इसलिए सच्ची शान्ति प्राप्ति करने के लिए वैराग्य

आवश्यक है। विचारवान चित्त में विषयों के प्रति उस प्रकार का लोभ नहीं रह सकता। इससे फिर यह दृढ़ निश्चय हुआ कि विचार के प्रभाव से ही वैराग्य की उत्पति होती है। वैराग्य से ही चित्त निर्मल होता है। जब तक विषयों की लालच लगी रहती है, तब तक चित्त विक्षिप्त रहता है। विक्षिप्त अवस्था को ही चित्त की मलीनता समझिये और मलिन चित्त में ठीक ठीक विचार भी नहीं आते इसीलिए भले बुरे की ठीक ठीक पहिचान ही नहीं होती। भले बुरे की ठीक ठीक पहिचान हुए बिना सामने के अच्छे लगने वाले रसीले विषयों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, और उन विषयों के न मिलने से चित्त में भारी अशान्ति हो जाया करती है। शरीर को ही सब कुछ मान लेना इस अवस्था में स्वाभाविक हो जाता है और रात दिन उसी की पूजा में लगे रह जाना कुछ असम्भव नहीं हुआ करता। यही है शरीर को आत्मा मान लेना और यही है गहरी भ्रान्ति और यही प्रमाद का घर है। ऐसे ममत्वभाव में रहते हुए सुख की आशा करना दुराशा मात्र है। देहात्म-वादी देखते हैं कि उनके चारों ओर के लोगों की अवस्था उनसे बहुत अच्छी है वे लोग उनसे बढ़िया खाते पहनते हैं। हम भी वैसे ही क्यों नहीं। इसीलिए वे नाना प्रकार की अधर्म पूर्ण चेष्टा द्वारा सदा धन कमाने की चिन्ता में व्याकुल होकर घूमते रहते हैं, और जिनके चित्त की अवस्था इस प्रकार की होगी वे सत्य का अनुसन्धान क्या कर सकेंगे। सत्य की चाह न कर हम जो पदार्थ चाहते थे मान लो कि वह यदि मिल ही गया तो क्या? उसके मिल जाने ही से क्या सुख की प्राप्ति होगी।

"जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई"

इसी तरह से तृष्णा बढ़ती ही जाती है और हम भी उन्मत्तों की तरह आशा के पीछे दौड़ते दौड़ते थक जाते हैं, फिर भी आशा का पल्ला नहीं छोड़ते। कितना परिश्रम किया कितनी चेष्टा की तब भी देखा कि आशा का पारावार नहीं। वांछित वस्तु चिरकाल तक न मिली, आशा मरीचिका की तरह, अथवा स्वप्न में दीखे पदार्थों की तरह सुख कभी भी मुट्ठी में नहीं आते। इसीलिए हमारा चित्त किसी समय भी शान्ति नहीं पाता। असली सुख क्या है? वह कहाँ है और किस प्रकार से मिलता है? उसे खोजकर बाहर निकाल लाना ही पड़ेगा, नहीं तो यह शरीर धारण व्यर्थ हो जायगा। आत्मा की खोज आरम्भ करते ही हमें पता लग जायगा कि हम उचित और आदर्श मार्ग पर नहीं चल रहे थे किन्तु बुरे संग के कारण हम पथभ्रष्ट हो गये थे। ठीक रास्ता खोज निकालने के लिए हमें अपनी चाल को रोककर एक बार खड़े हो जाना पड़ेगा, और विचार कर देखना होगा कि किस मार्ग पर चलने से हम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकेंगे। कौन कौन से साथियों को संग लेना होगा और किसका किसका त्याग करना होगा। भ्रान्ति यहाँ भी बहुत कुछ बाधा देने की चेष्टा करेगी, पर मिथ्या मोह की खुमारी में पड़े रहने से काम न चलेगा। झूठे सुख के मोह को चित्त से निकाल कर फेंक देना पड़ेगा। नहीं तो शान्ति की प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं। अब देखना है, कि यह मोह छूटे तो क्यों कर छूटे? शास्त्रों में कहा है कि साधु संग द्वारा ही चित्त की यह विकलता नष्ट होती है। साधुओं

वैराग्य की उत्पत्ति कैसे होती है?

का निर्मल चरित्र, पवित्र भाव, उनके चित्त की स्थिरता और आनन्द, हमारे मनमें एक अलौकिक, अपूर्व, चिन्मय राज्य के संवाद को ला दिया करते हैं। वह सत्य की सुवर्ण ज्योति जो उनके अन्तःकरण में प्रकाशित हो जाती है उसके प्रकाश की किरणें हम लोगों के चित्त के मोह रूपी अंधकार को नष्ट कर एक अपूर्व ज्ञानमय प्रकाश की किरणें चारों ओर फैलाने लगती हैं। इसीलिए सत्संग की इतनी महिमा कही गई है। श्री मद्भागवत में महात्मा भरत राजा रहूगण को यों उपदेश कर रहे हैं।

साधुसङ्ग का माहात्म्य

"रहुगण तत्तपसा न याति,
न चेज्ययानैर्वापनाद् गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥"

साधु की कृपा विना इस परम दुर्गति से छुटकारा कैसे मिलेगा। साधुओं की कृपा से ही हम अपने जीवन के लक्ष्य-पथ को पहिचान सकते हैं। और वे ही मार्ग दर्शक के रूप में हम लोगों को इस अपार भवसंसार के उसपार उतार देंगे।

मुक्ति का सोपान- साधुसङ्ग, सन्तोष, विचार और शान्ति।

इस प्रकार साधुसंग, सन्तोष, विचार और शान्ति इन चारों का सहारा लेकर हम धीरे-धीरे मुक्तिमार्ग पर बढ़ते हैं। ऊपर लिखे हुए चारों में पहिले तीन तो कारण स्वरूप हैं, और चौथा उनका फल स्वरूप प्रकट होता है। पहिले तीनों की साधना द्वारा ही हमारे चित्त के मल नष्ट हुआ करते हैं। जब तक चित्त शुद्ध न होगा तब तक यथार्थ रूप से हमारा अध्यात्ममार्ग में प्रवेश न होगा। जिसमें चित्त शुद्धि हो जाय और मोक्ष

मार्ग का द्वार खुल जाय इसलिये सब लोगों को यथा साध्य पुरुषार्थ करना चाहिये। वर्तमान समय में चित्त शुद्धि न होने के कारण ही जिस कर्म का जो फल है वह हमें नहीं मिला करता। जो वृक्ष अभी पूरी तरह बढ़ा नहीं, और समय के पहले ही यदि उसमें फल लग जायं तो वे फल किसी काम के नहीं। इसी प्रकार से हमारी भी अधकची शुभ इच्छायें यथार्थ रूप से पुष्ट नहीं हुईं और इसीलिये फलवती भी नहीं हुआ करती, उनका अकाल में ही उदय और नाश हुआ करता है। इसलिये बारंबार विफलता के निर्दई चाबुक से पिटते पिटते हम क्षत-विक्षत हो जाया करते हैं। कोई शुभ अनुष्ठान अथवा ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा के लिये मन कभी कभी व्याकुल अवश्य हो उठता है। पर बहुत दिनों तक चेष्टा करके उन्हें प्राप्त करने की शक्ति को मानो हम खो बैठते हैं, शिक्षा के अभाव के कारण यथार्थ रूप से हमारी मन की पुष्टि नहीं होती। हम गृहस्थ होना चाहते हैं, पर गृहस्थी चलाने की योग्यता हम में है ही नहीं। ब्रह्मचारी या सन्यासी होना चाहते हैं पर उस आश्रम की भी मर्यादा की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इसलिये वह केवल एक स्वांगसा ही हो जाता है। इसीलिये हम कहते हैं कि आरम्भ से ही कुछ अच्छे अभ्यासों का धारण कर रखना विशेष आवश्यक है। इसके लिये पहिले ही से चेष्टा करनी चाहिये। यदि कोई विद्या पढ़ना चाहता हो, लेकिन किसी कारणवश पढ़ना छोड़ कर गाड़ी हाँकने लगे तो उसका परिणाम क्या होगा? यह समझ लेना कठिन नहीं है, इसलिये हम जो कुछ होना चाहते हैं पहिले ही से उसके अनुकूल-प्रणाली को ग्रहण न करेंगे तो सफलता की प्राप्ति एक बार ही असम्भव है। इस बात को विशेष प्रकार से और क्या कहें? इसलिये आन

की बाजी लगा कर लक्ष्य प्राप्ति की चेष्टा करनी होगी। यह शास्त्रों में निश्चित रूप से लिखा है कि निर्धारित रूप से कार्य करने पर वे अवश्य सुसम्पन्न होंगे।

"यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वंतुतपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः॥"

जो कोई जिस किसी काम के लिये तपस्या करेगा कुछ न कुछ सफलता होगी ही। तपश्या का यह प्रभाव ही है यह तपस्या ही सदभ्यास है।

पाठक यदि अदृष्टवादी हों तो उनका भी चेष्टा करना कर्तव्य है। क्योंकि निश्चेष्टता जड़ पदार्थों का धर्म है, चेतन पदार्थों का नहीं। चेष्टाहीन होकर रहना बिलकुल अन्याय और नियम विरुद्ध है इस बात को बुद्धिमान मात्र को प्रणिधान करके देखना चाहिये। जो लोग अदृष्टवादी हैं अर्थात् पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहते, उन्हें तो और भी अधिक उद्यमी होना चाहिये। उन्हें जब अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है, और ज्ञान बुद्धि से परे सर्वश्रेष्ट शक्ति सम्पन्न ईश्वर की शक्ति पर ही जिनका विश्वास है। उनके लिये तो और भी उद्यमशील होना स्वाभाविक है। जो लोग केवल अपनी शक्ति का भरोसा रखते हैं कभी-कभी शक्ति की कमी के कारण निराशा से उनके उद्यम में कमी भी हो सकती है। पर जिन्होंने दैव को ही सफलता की एक मात्र कुंजी समझ रखा है, उनके उत्साह हीन होने का तो कोई कारण नहीं दीखता। गत शताब्दि के योरप के सर्वश्रेष्ठ वीर और धीमान् सम्राट् नैपोलियन ने अदृष्टवादी होते हुये भी कभी पुरुषार्थ को नहीं छोड़ा। और यह जानते हुए भी कि भाग्य में जो लिखा है वह तो होगा ही कापुरुषों की तरह चुपचाप न बैठे।

इसीलिये घोर सग्राम के बीच या भयकर तोपों के मुख के सामने मौत को मुँह वाए देख कर भी भाग्य में जो कुछ होगा सो तो होगा ही यह विश्वास रख कर उन्होंने विपत्ति के सामने छाती डटा कर आगे बढ़ने से कभी मुँह नहीं मोड़ा। और हम लोग दुर्भाग्य वश उसी अदृष्ट को प्रबल मानकर आई हुई विपत्ति को देखकर ऐसे व्याकुल हो जाते हैं कि जिसे देख कर स्त्रियाँ भी लजा जायँ। पुरुषार्थवादी अदृष्ट को नहीं मानते—यह बात नहीं है। पर उनका कहना है कि जो होना हो सो होगा इसलिये वे अपनी चेष्टा और भी प्रबल कर देते हैं। क्योंकि वह जानते हैं कि पूर्व कर्म के कुफल को वर्तमान कर्म की प्रबलता ही नष्ट कर सकती है। इसलिये शास्त्र और सदाचार को मानकर कर्म करने से ये कभी भी विमुख नहीं होते। पर आत्मदृष्टिहीन जड़ बुद्धि लोग जो होने वाला है सो तो होगा ही। ऐसा सोच कर रजाई ओढ़कर टाग पसार कर मजे में सोए रहते हैं।

"रोगस्थान सहस्राणि भयस्थान शतानिच।
दिवसे दिवसे मूढम् आविशन्ति न पाडतम्॥"

यही इस जड़ ससार का नियम है। मूढ़ लोग तो ऐसे सभी अवसरों पर हाथ पैर ढील कर बैठ जाया करते हैं। किन्तु बुद्धिमान तो ऐसे अवसर पर कभी भी साहस नहीं छोड़ते, अवश्यम्भावी दुर्भाग्य के लिये वे आसू नहीं बहाया करते। प्रयत्न द्वारा जो हो सकता है, उसे करने के लिये दृढ़ प्रयत्न किया करते हैं। देहात्मवादी मूर्खों के लिये सब दुःख ही दुःख है। भय ही भय है। मृत्यु ही मृत्यु है। चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा है। पर जिनके आत्मा की

आंखें खुल गई हैं उन्हें तो चारों ओर आनंद ही आनंद भासता है ब्रह्म के स्वर्ण किरणों की झलक दीपती है। उनके लिये कोई बात पहेली सी नहीं, सब स्पष्ट और सहज सा दीपता है। इसलिये उनके पास तो शोक फटकता ही नहीं। न दुःख है न विरह है न सन्ताप है। सारा संसार पूर्णानंद का आगार है। वे तो कहते हैं "अमृत पीकर मैं अमर हो जाऊँगा। कुछ लोग कहा करते हैं—उद्यमेच्छा होती ही नहीं तो क्या करें? ठीक है, प्रत्येक अवसर पर उद्यम नहीं हो सकता। पर क्यों नहीं हो सकता? यह भी कभी सोचा है? गीता में कहा है :—

"अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥"

अर्थात् अनवहित (असावधान) विवेकहीन, उद्धत, शठ, दूसरों का अपमान करने वाले, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री को तामस कर्ता कहते हैं। अर्थात् तामसी प्रकृति के लोग स्वभाव से ही निश्चेष्ट आलसी और विवेकहीन हुआ करते हैं। तमोगुण से आच्छन्न रहने के कारण धर्माधर्म का भी ठीक से विवेक नहीं कर सकते। इसलिए आसक्तिशून्य 'अहं' और अभिमान शून्य धैर्य, उत्साह युक्त सिद्धि या असिद्धि में विकार शून्य सात्विक कर्त्ता की अवस्था को वह कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसीलिये तामसी प्रकृति के लोगों के लिए शास्त्रों में जिस प्रकार के कर्मों की विधि कही गयी है, उसी को करने से उनमें सात्विक भाव के विकास की सम्भावना हो सकती है। तमोगुण का प्रधान लक्षण है—आलस्य। अतः सर्वप्रथम वृत्तियों का रजोगुणी होना भी कुछ बुरा नहीं, तमोगुणी जड़ता की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है। परन्तु इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि रजोगुण

इतना न बढ़ जाय कि जिससे चित्त सहसा डाँवाडोल होने लगे। क्योंकि यदि रजोगुण अधिक बढ़ जायगा तो तमोगुण के प्रबल हो जाने की सम्भावना है। अतः प्रति दिन नियम से सदालाप, भगवान् की चर्चा, कथा वार्ता आदि के सुनने-सुनाने का अभ्यास करते रहने से ये विडम्बनायें दूर रहेंगी और रज तम को दमन कर धीरे-धीरे मन निर्मल होता जायगा। ज्यों-ज्यों मन जितना निर्मल होता जायगा त्यों-त्यों नाशवान् वस्तुओं से उतना ही वैराग्य होता जायगा और नित्य वस्तु की ओर स्वयं झुकाव होता जायगा। इसी प्रकार मन धीरे-धीरे सात्त्विक भाव धारण कर लेगा। सतोगुण का स्वभाव है—प्रकाश, इसलिए सतोगुण जितना ही बढ़ता जायगा, उतना ही नित्य, सत्य और ध्रुव पदार्थों का ज्ञान स्वतः होता जायगा। पहले ही पहल वैराग्य या विवेक का उदय नहीं होता। क्योंकि जिसपर विषय लोलुपता की गहरी छाप पड़ चुकी है, उसमें सर्व प्रथम मुमुक्षुता के भाव जागने की सम्भावना करना विडम्बना है। पर हाँ, जो लोग बहुत दिनों तक सत्संग करते रहेंगे और सन्तों के मुँह से भगवान् का गुणानुवाद सुनते रहेंगे, उन्हें स्वधर्म और सदनुष्ठान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी ही। जीवन इस प्रकार कृतार्थ हुआ करता है। शास्त्रों में वैराग्योत्पत्ति का कारण इस प्रकार बताया गया है:—

"स्ववर्णाश्रम धर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनाच्च भवेत्पुंसां वैराग्यादि चतुष्टयम्॥"

अपने अपने वर्णाश्रम विहित धर्मों के अनुष्ठान से और तपस्या से हरितोषण करने पर वैराग्य आदि साधना चतुष्टय की प्राप्ति होती है। इसका फल भी शास्त्रों में कहा है:—

"सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपकोपमा।"

अर्थात् सत्संग और तपस्या द्वारा जिनके पाप क्षय हो जाते हैं, उन्हीं में परमार्थदर्शिनी समुज्ज्वल बुद्धि प्रकाशित होती है। जो व्यक्ति तपः साधन से हीन है उसे परमार्थ प्राप्त करने की क्षमता ही नहीं और ब्रह्म को जानने की बुद्धि का उसमें उदय होना ही असम्भव है। देखिए मन की दो प्रकार की गति होती है, एक निर्मल, दूसरी मलिन। जिस प्रकार समुद्र में ऊपर की ओर लहरों का विक्षेप तो प्रकट रहता है पर उसके गम्भीर नीचे के प्रदेश में स्थिरता रहती है। उसी प्रकार मन का वाहरी भाग विषय विप से अवश्य जर्जरित रहता है, पर उसका भीतरी भाग खूब स्वच्छ और निर्मल रहता है। मनके उसी भीतरी भाग तक पहुँच जाना होगा। मनका जो भाग निर्मल, निर्विकार है और जड़ता आदि दुर्गुणों से रहित है, वहाँ स्वतः आत्म विचार की शक्ति का विकास हुआ करता है। मनके इस निर्मल भाग में पहुँचने का उपाय महर्षि वशिष्ठ जी ने इस प्रकार कहा है:—

विचार में प्रवृत्ति कैसे हो ?

"क्रिया क्रमेण महता तपसा नियमेन च।
दानेन तीर्थ यात्राभिश्चिर कालं विवेकतः॥
दुष्कृतैः क्षयमापन्ने परमार्थविचारणे।
काकतालीय योगेन बुद्धिर्जन्तोः प्रवर्तते॥"

'बहुत दिनों तक यज्ञदानादि करने कराने से कठिन तपस्या, नियम, तीर्थ यात्रा आदि द्वारा विवेक बढ़ता है और इनके द्वारा बुरे कर्मों का नाश हो जाने पर काकतालीय न्याय से मनुष्य में परमार्थ-बुद्धि प्रस्फुरित हो जाती है।"

नित्य नियम पूर्वक पूजा, अर्चना, सन्ध्या, हवन, तर्पण

और सदाचार का अनुष्ठान करते करते मलिन वासनाओं का पुंज क्षय होता रहता है। मन धीरे धीरे निर्मल एवं शान्त होता चलता है।

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।"

इस प्रकार के निर्मल चित्त में ही आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

"अन्तः करण संशुद्धौ स्वयं ज्ञानं प्रकाशते।"

ज्ञान का उदय कैसे होता है ?

ऐसी अवस्था हो जाने पर जगत्. नाम रूप मिथ्या प्रतीत होने लगता है। जिस प्रकार सूर्योदय के साथ साथ अन्धकार का नाश होता रहता है, वैसे ही ज्ञानोदय के साथ साथ देह की ममत्व बुद्धि जाती रहती है। उसी समय सच्चे विवेक का संचार और परा वैराग्य की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार की बुद्धि को जगाने के लिए विचार-निष्पन्न ध्यान और साधन से उत्पन्न स्थिर बुद्धि की आवश्यकर्ता है। जब तक मन मलिन रहेगा, तब तक ऐसा विचार उत्पन्न नहीं हो सकता। यहाँ शास्त्रों का लक्ष्य बाहरी वस्तुओं के विचार से नहीं है। क्योंकि उसका विचार तो साधारण वैषयिक बुद्धि से भी हो सकता है। उसके लिए संयम, नियम, तपस्या तीर्थ यात्रा आदि की कोई आवश्यकता नहीं। शास्त्रों का विचार उसी निमित्त है, जिससे कि आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसकी प्रणाली इस प्रकार है :—

विचार प्रणाली

"कोऽहं कथमिदं जातं
को वै कर्तास्य विद्यते।
उपादानं किमस्तीह
विचारः सोऽयमीदृशः॥"

'मैं कौन हूँ ? यह दृश्य जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका कर्ता कौन है ? यह किस पदार्थ से बना है ? इन्हीं सब बातों के अन्वेषण को विचार कहते हैं।'

इसी प्रकार के विचारों को करते हुए धीरे-धीरे परमार्थ तत्व की जिज्ञासा जब बढ़ जाती है तब साधक इस भूमानुसन्धान की चिन्ता किये बिना किसी प्रकार स्थिर नहीं रह सकता। उस अवस्था में भगवान् की कृपा, प्रकाश की तरंगों जैसी जो विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं—उसे दिखाई देने लगती हैं। भगवान् को पाने के लिये वह आतुर हो उठता है और भगवान् भी, भक्त अपने को अर्पित कर सके इसका उपाय स्वयं ही कर देते हैं। स्वयं गीता में कहते हैं:—

लगन वाले व्यक्ति को भगवत्कृपा का लाभ, और उसके द्वारा ज्ञान लाभ।

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

इसी प्रकार—

"अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥"

'जो प्रेम पूर्वक सतत मेरा भजन करते हैं उन्हें ज्ञान देने वाला मैं ही हूँ। अनन्य चित्त होकर जो केवल मेरा ही स्मरण करता है उसके लिये मैं सुलभ हूँ।' इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रतिदिन भगवान् का सुमिरन, चिन्तन करते रहने से उनके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। जब तक इस प्रकार से योगयुक्त न हुआ जायगा, तब तक इस बाहरी दृश्य संसार के पदार्थ और शोभा-शृङ्गार आदि से मन हट नहीं सकता। वशिष्ठ जी ने कहा है—

भोगेच्छा की निवृत्ति कैसे हो ?

"न तपोभिर्न दानेन न तीर्थैरपि जायते।
भोगेषु विरतिर्जन्तोः स्वभावालोकनादृते॥"

आत्मदर्शन के विना तपस्या, दान और तीर्थ दर्शनों से भी भोगेच्छा की निवृत्ति नहीं होती।' इस पर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि यदि आत्म-दर्शन विना भोगेच्छा नहीं मिट सकती तो फिर तीर्थादि साधनों की आवश्यकता ही क्या है ? सम्पूर्ण भोगेच्छा की निवृत्ति यद्यपि आत्म-दर्शन के विना नहीं होती, तथापि आत्म-दर्शन के लिए मन के निवृत्ति की आवश्यकता तो है ही। मन को वश में करने के लिए पापनाश और वासना-क्षय की भी आवश्यकता है। इसीलिये पहले ही कह चुके हैं कि तीर्थ-भ्रमण, दान और तपस्यादि साधनों द्वारा वासना की शुद्धि और पापों का क्षय हुआ करता है।

प्रभुकी कृपा की प्रेरणावश, ईश्वरोपासना तथा तपस्या में निरत साधक के अन्तःकरण में, कह नहीं सकते कि किस प्रकार ज्ञान का प्रकाश हो जाया करता है। पर हो जाता है, यह निश्चित है। जब एक बार भी यह ज्ञान का प्रकाश प्रत्यक्ष हो जायगा, तो मन उधर को ही झुकेगा। मन की पूर्वावस्था के संस्कार एक-एक करके अदृश्य होने लगते हैं। तब किसी भी कर्म की छाप मन पर गहरी नहीं पड़ती और तभी समस्त कार्य भगवान् की प्रीति के लिए ही हुआ करते हैं। इस अवस्था के परिपक्व हो जाने पर ही साधक सचमुच निष्काम हो जाता है। 'वही सब कुछ है,' 'उसी का सब कुछ है,' 'न मैं कुछ हूँ,' 'न मेरा कुछ है,' ऐसी अवस्था की सच्ची उपलब्धि तभी होती है। उस समय उसे स्त्री-पुत्र संसार सब कुछ रहते हुए भी उसका कुछ

नहीं रहता। तब वह चाहे जिस अवस्था में भी हो, वह सर्वत्र अपने को 'अकर्त्ता' ही देखता है और उसी प्रकार से सारे कार्यों के करने की उसकी आदत पड़ जाती है। किसी कार्य के हानि-लाभ और दुःख-सुख उसे तनिक भी डिगा नहीं सकते। इस प्रकार योगी पुरुषार्थ के प्रभाव से बड़े-बड़े असम्भव कार्यों को भी अपनी श्रद्धा, वीर्य और नित्य अविस्मृति अर्थात् आत्म चिन्तन द्वारा सम्भव कर देते हैं मानसिक-व्यापार शून्य बुद्धि को निश्चल करलेने पर सभी कामों को करते हुए भी स्मृति-साधन द्वारा वे बँधते नहीं। क्योंकि किसी कर्म के फल की उन्हें अपेक्षा नहीं रहती। मन का इस अवस्था को प्राप्त हो जाना कोई असम्भव न मानें।

भगवान् रामचन्द्र जी ने अपने भाइयों को उपदेश देते ए कहा है :—भाइयो! यह जगत् कुछ भी नहीं है, इसलिये तुम हम भी कुछ नहीं है, सदा इसी निश्चय को मान कर कभी किसी विषय में लिप्त मत हो, आसक्त मत हो। परम पद की सबसे ऊँची मंजिल में पहुँचने की सब से सीधी सीढ़ी यही है। हे भाइयो! जब संसार ही कुछ नहीं है तो शत्रु-मित्र, अपना पराया यह भी मन की कोरी कल्पना है। न तो हम कुछ हैं, न हमारा कुछ है। जो कुछ भी देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं, आस्वादन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जो कुछ बोध होता है, वह सब उसी का प्रकाश है। इसलिए वही सब कुछ है और उसी का सब कुछ है—इस प्रकार की दृढ़ भावना करते करते इस प्रकार की विचार-प्रणाली का अवलम्बन करते हुए, उन उन विषयों में ध्यान लगाते-लगाते, आत्मा-अनात्मा क्या है, वस्तु-अवस्तु

क्या है इन सब का ठीक-ठीक पता लग जाता है और धारणा दृढ़ हो जाती है। तभी वास्तव में मन से विषय-लालसा और कर्त्तापन का अभिमान लोप हो जाता है। तब तप बिना भी स्वाध्याय और परमात्मा के नित्य स्मरण, चन्दन रूप ईश्वर प्रणिधान के द्वारा साधक परमात्मा में अपने 'अहंभाव' के अभिमान को विलीन कर देता है। ऐसा होना कोई अनहोनी घटना नहीं। मन को विषय-शून्य किया जा सकता है, केवल चेष्टा की आवश्यकता है। चेष्टा करके देखने से सब अपने जीवन में सफल हो सकते हैं। मन की यह विचित्र शक्ति है कि जिसको अच्छा समझ लेता है, उसके सारे खेल उसे अच्छे ही लगते हैं और जो चीज़ बुरी लगी, उसकी सारी बातें चाहे कैसी ही क्यों न हो, बुरी ही लगती हैं। इस प्रकार अनुकूल या प्रतिकूल दोनों अवस्था का ग्रहण कर लेना मन के लिए सहज और स्वाभाविक है। जल का यही धर्म है कि वह जब जिस प्रकार के पात्र में रहता है, तब उसी प्रकार की आकृति ग्रहण कर लेता है। वैसे ही मन जब जिस भाव को आश्रय करके रहता है, वैसी ही उसकी आकृति हो जाया करती है। इसी प्रकार जो मन इस समय संसार-वासना में डूबा हुआ मलिन हो रहा है, उसे ही जब चेष्टा द्वारा भगवान् की ओर लगाया जाता है तो वही परमात्मा के निर्मल भावों को ग्रहण करता हुआ निर्विकार ब्रह्म के साथ भावापन्न हो जाता है। अभ्यास और विचार द्वारा इस प्रकार की स्थिति की साधना के लिए सभी का उद्योग करना कर्तव्य और धर्म है। इसीलिए वशिष्ठ जी ने ज़ोर देकर कहा है कि:— चित्त है इसीलिए संसार है। अतः 'तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणम्,' रोग और कहीं बाहर से नहीं आया है। यह रोग

अपने मन का ही उत्पन्न किया हुआ है। इसीलिए उसकी चिकित्सा करो। शास्त्र कहते हैं:—

"परस्य पुंसः संकल्पमयत्वंचित्तमुच्यते।
अचित्तत्वमसंकल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते॥"

'परमपुरुष का जो संकल्पमयत्व है उसीको चित्त कहते हैं। उस संकल्प के मिट जाने से चित्त भी मिट जाता है, तभी मुक्ति हो जाती है।

"कोई संकल्प नहीं करेंगे", इस प्रकार मन में दृढ़ निश्चय करके बैठ जाओ, देखोगे कि थोड़ी देर में वह क्षीण होता जायगा और अन्त में सर्व संकल्प शून्य बन सकोगे। इस प्रकार की धारणा जितनी बढ़ती जायगी, उतना ही मुक्ति के निकट पहुँचते जाओगे। पर कमर कस कर डट जाना चाहिए। 'अच्छा देखा जायगा, कर लेंगे, जल्दी क्या है।' इस प्रकार के टालमटोल से काम नहीं होगा, मुक्ति होगी नहीं। नाना प्रकार की विषय वासना ही इस आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधक है। जैसे किसी अन्तःपुर को एक दीवार के बाद दूसरी दीवार की रचना करके दुर्भेद्य कर दिया जाता है वैसे ही मन की अगणित कल्पनाओं द्वारा रची गयी विषय रूपी दीवार ही आत्मज्ञान के लिए दुर्भेद्य प्राचीर है। इस कल्पना की मोटी दीवार को तोड़ने के लिए बड़े-बड़े तोपों की आवश्यकता है। विचार ही वह आग्नेयास्त्र है। उसके द्वारा साधन चतुष्टय में प्रधान साधन नित्यानित्य वस्तु विवेक ही अरुणोदय के रूप में साधक के हृदयाकाश में प्रकाशित होता है। तत्पश्चात् इहामुत्र, फल भोग में वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान

विचार और ध्यानाभ्यास

और श्रद्धारूप षट् सम्पत्ति जो मुमुक्षुओं के अधिकार की है उसमें आजाती है। विचार क्या है यह पहले ही कह आये हैं। 'आत्मा क्या है और आत्मा क्या नहीं है,' इसी तत्व का निश्चय करना ही विचार कहलाता है। यह भी पहले ही कहा जा चुका है कि केवल बाहरी विचार से विवेक की जागृति नहीं हुआ करती। इसके लिए मनन, निदिध्यासन, ध्यानाभ्यास करना होगा। ध्यानाभ्यास द्वारा मन की सच्ची संकल्प रहित अवस्था की प्राप्ति होती है और वासनाशून्य अवस्था प्राप्त करके योगी मुक्त होते हैं। उस समय उसे यह सारा संसार और संसार के समस्त जीव, समस्त पदार्थ ब्रह्म स्वरूप ही दीखते हैं। रज्जु में जब तक सर्प का भ्रम रहता है, तभी तक भय भी रहता है; भ्रम दूर हो जाने पर वह भय-रहित हो जाता है। उसी प्रकार से इस संसार में, जीव को सुख दुःखादि का तभी तक भान होता है, जब तक यह चराचर ब्रह्मरूप प्रतीत नहीं होता। साधकों में जो ऊँचे उठ चुके हैं, वे इस मन को व्योम स्वरूप और व्योम का परव्योम के साथ एकाकार देखते हुए सारी चिन्ताओं से छुटकारा पा जाते हैं। संसार और देहादि अनात्म पदार्थों से आत्मबोध के हट जाने से ही आध्यात्मिक जागृति की अवस्था प्राप्त होती है। गीता में कहा है—

"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

इस प्रकार के जागरण का अभ्यास किए बिना मन का सन्देह कभी भी मिट नहीं सकता और शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान भी उन्हें नहीं हो सकता। जो लोग असली सत्य का दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें इस प्रकार से प्रबुद्ध होने की चेष्टा जी जान से करनी चाहिए। उसे किए बिना

ज्ञानादिक की आलोचना केवल मौखिक जल्पना (कोरी बातें) ही होंगी। देहेन्द्रियों में आत्मबुद्धि का रहना ही वास्तव में अविद्या का बन्धन है। श्रोत्रादि सारे इन्द्रियों का कार्य और देहादि बाहरी वस्तुओं का अभिमान जब चला जायगा कल्पना का अहं ज्ञान जाता रहेगा। तभी प्राणी परिपूर्ण चैतन्य समुद्र में गोता लगाकर अमृतत्व की प्राप्ति कर सकेगा। इसीलिए विचार तो सदा करना ही होगा, जहाँ विचार छोड़ा, कि विषयों के दृश्य सामने आने लगेंगे। इसीलिए आत्मस्वरूप के प्रतिपादक वेद वाक्यों का बार बार श्रवण और मनन आवश्यक है। आत्मा के सिवा और जो भी कुछ है, सब दुःख का मूल और अनित्य है। इसे निश्चय समझ कर नित्य श्रवण और मनन का अभ्यास करते हुए आत्म विषय की स्मृति धारा प्रवाह के समान जब मन में उदित हो जायगी, तब ही चित्त का निरोध होगा। आत्मस्वरूप प्रतिपादक वाक्यों के अर्थों को सुनने से आत्मा के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानने की स्पृहा बलवती होती जाती है और आत्मध्यान द्वारा आत्म विषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है, पर जहाँ इस स्मृति धारा का प्रवाह रुकाकि मोह का आगमन हुआ। इसलिए आत्मज्ञान हो जाने पर भी बार बार उसीकी आलोचना करनी होगी, जिसमें इस स्मृति धारा का लोप न हो जाय। पहले की विचारी हुई बातों पर बार-बार विचार करना 'विज्ञाय अपि प्रज्ञान कुर्वीत्'— यह श्रुति का शासन है। जिस अज्ञान के कारण प्राणी बँधा है और दुःख क्लेश, जन्म मरण के कष्ट से निरन्तर जर्जरित हो रहा है, किसी प्रकार भी अपने को समझ नहीं पा रहा है, उसी अज्ञान का मिटाने के लिए माता के समान कल्याणमयी श्रुति दारान्निक्लिष्ट जीव के परित्राण के लिए, और जीव

के बारंबार देह धारण करने के कष्ट के निवारण के लिए श्रुति ने जीव-ब्रह्म विषयक अभेद सूचक इन वाक्य समूहों का उपदेश किया है। ज्ञेय पदार्थ—आत्मा के, स्वरूप-ज्ञान में अवरोध होने से उसके विपरीत ज्ञान की उत्पत्ति होगी ही। जैसे अंधकार में रस्सी में सर्प भ्रम होने के पूर्व उसके वास्तविक स्वरूप ज्ञान 'रस्सी' का लोप रहता है और साथ ही 'यह सर्प है' इस अज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार से अनादि अविद्या के प्रभाव से, आत्म स्वरूप का ज्ञान आच्छन्न रहने से इसमें 'कर्तृत्व,' 'भोक्तृत्व' 'स्थूलत्व' 'ह्रस्वत्व' 'सुखी' 'दुःखी' इत्यादि अनात्म धर्म की परिकल्पना हुआ करती है। श्रुति इसीलिए 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', प्रभृति महावाक्यों द्वारा जीव की मोहमूर्च्छा भंग करने की चेष्टा में सदा तत्पर है। इन्हीं महावाक्यों पर ध्यान और विचार करते करते मोह पाश से छुटकारा मिलता है, इसमें एक रहस्य की बात और है कि यदि तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है तो इन स्थूल चक्षुरादि इन्द्रियों के अगोचर जो एक सूक्ष्म और कारण देह है उसे जानना आवश्यक है, सूक्ष्म देह को देख लेने से बहुत कुछ भ्रम दूर हो जाता है। क्योंकि जब सूक्ष्म तेजोमयदेह का प्रकाश हो जाता है तब कहीं आत्मविषय की ओर गूढ़ बातों के रहस्यों का उद्घाटन होता है और सारी भ्रान्ति जाती रहती है। जैसे सूर्य, चन्द्र और अग्नि के प्रकाश में सारे रूप हमें स्पष्ट दीखते हैं, वैसे ही अध्यात्म जगत में जब ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित हो जाती है तभी हमें सच्चा ज्ञान होता है और सारे संशय सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं।

इन सब विषयों में पुरुषार्थ न करके हम निरंन्तर सारे अनर्थों के मूल विषयों के लिए वृथा परिश्रम किया करते

हैं और अन्त में नास्तिक हो जाते हैं। क्योंकि मस्तिष्क की जिस शक्ति के रहने से ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास सहज में हो जा सकता है, बुरे आचरण और बुरे व्यवहारों द्वारा हमने अपने विचार के उस अंश को इतना मलिन कर दिया है कि अच्छी बातों के प्रवेश की गुंजाइश ही न रही। भारतीय आर्यों में त्रिवर्ण के बीच, विशेष कर ब्राह्मणों का प्रधान लक्षण आस्तिकता ही कहा गया है। "ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।" अब कर्मों के फेर को देखिए कि इन्हीं ऋषिसन्तानों को ईश्वर का अस्तित्त्व जानने के लिए तर्क का सहारा लेना पड़ता है। इन सारी विडम्बनाओं का एक मात्र कारण यही है कि अब हम लोग पहले के समान आर्य सदाचारों का निष्ठा के साथ पालन नहीं करते हैं। हम चिरकाल से अभ्यास पराङ्मुख रह कर चित्त को इतना नीचे गिरा चुके हैं कि अब वह सहज में नहीं उठाया जा सकता। इसलिए हमें पुनः विचारवान होकर सदाचार के अभ्यास से पहली अवस्था को फिर से प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार से यत्न करना होगा। अब भी यदि यत्न करना आरम्भ करदें तो इस गिरी हुई अवस्था में भी आर्य जनोचित मनः प्राण, आर्य जनोचित नियम निष्ठा, आर्य जनोचित सदाचार और सभ्यता की पुनः प्राप्ति कर लेना कुछ आश्चर्य नहीं है। जो लोग अपने को भारतीय आर्य सन्तान होने का गर्व करते हैं, क्या वे भारत के इस कठिन समय में अपने पहले समय के गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अभ्यास और प्रयत्न नहीं करेंगे?

——:०:——

पञ्चम अध्याय

कर्मयोग और भक्तियोग

अभ्यासयोग समझने के पूर्व कर्मयोग समझ लेना आवश्यक है। इसलिए कर्म क्या है, इसे पहले बतलाते हैं :—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं।' यह हिन्दू के घरों की ही कथा (विश्वास या धारणा) है। इसीलिए हमारे प्राचीन मनीषीगण आलस्य रहित होकर कर्म करते थे। वे कर्म करके हाथों-हाथ फल प्राप्त करने के लिए व्याकुल नहीं रहते थे। इस प्रकारका ब्राह्मणोचित धैर्य, उनके द्वारा किए गये कर्म का शुभाशुभ फल, और उससे होने वाले सुख-दुःख की ओर से उन्हें उदासीन रखता था। भूदेव ब्राह्मणगण यज्ञ याग, और तपस्या आदि जो कुछ भी करते थे, सभी कुछ विष्णु प्रीत्यर्थ,*

*'विष्णु प्रीत्यर्थं' का अर्थ 'लोक कल्याणार्थं क्यो कहा इसका कारण बताते हैं 'विष्णु प्रीत्यर्थं' का अर्थ 'विष्णु को प्रसन्न करने के लिए' नही है। वह तो स्वय ही आनन्द स्वरूप है, उन्हें प्रसन्न करने का प्रयोजन ही क्या ? उनके यहां तो किसी दिन किमी मुहूर्त में आनन्द का अभाव नहीं है। वह तो नित्य आनन्द और रसपूर्ण है। तो इसका अर्थ यह है कि सच्चिदानन्द का विश्व में व्याप्त जो आनन्द है, उसी की वृद्धि के लिए जो कर्म किया जाय, वही हुआ विश्वमानव के लिए कल्याणकारी, अतः विश्व के समस्त प्राणियो में समान रूप से प्रीति करने ...

सभी कुछ उस भूमापद के लिए और सभी कुछ लोक कल्याण के लिए करते थे। केवल अपनी मङ्गल कामना या अपनी चिन्ता करने से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। 'विष्णु प्रीति' अर्थात् लोक कल्याण के लिए भगवान् को प्रसन्न करना ही उनके समस्त कर्मों का लक्ष्य था। उनके निजी सुख दुःख चाहे कितने ही बड़े हों, उन्हें वे कुछ नहीं समझते थे। इस प्रकार की साधन-सुलभ एवं विलक्षण दिव्य दृष्टि को उन्होंने प्राप्त कर लिया था। इसीलिए उनकी उपदेशात्मक वाणियों में निष्काम कर्म की प्रशंसा, सुमधुर वंशी की सुरीली तान के समान हमारे मन और प्राणों को शीतल कर देती है और उससे होने वाली एक अनिर्वचनीय शान्ति की सुमधुर स्निग्धता हृदय को मुग्ध कर देती है। इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ग भी अपना राज्य शासन, कर ग्रहण आदि, सब कुछ लोक-स्थिति के लिए किया करते थे, अपने लिए कुछ नहीं। इसीसे त्रिभुवन विजयी सम्राट् रघु मिट्टी के पात्र में भोजन करते थे। सभी धार्मिक राजे यज्ञ कर लेने के उपरान्त अपना सर्वस्व दान कर देते थे। प्रार्थियों को प्रार्थना पूर्ण किए बिना, दीनों की दीनता दूर किए बिना और आर्तों (दुखियों) की शुश्रूषाका प्रबन्ध किए बिना उनके हृदयों का शान्ति नहीं मिलती थी। इस प्रकार की उनकी विश्व प्रीति थी और

'विष्णुप्रीति।' अत विष्णुप्रीति अर्थात् जीव मात्र के कल्याण के लिए किये गए कर्म को कहते हैं—'विष्णु प्रीत्यर्थं।' 'विष्णु' शब्द के धात्वर्थ से भी यही अर्थ सिद्धि होगी। विश व्यापन धातु से 'नुक्' प्रत्यय होता है। शास्त्रों में—

'यस्मात् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्माद्देवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्॥'

विष्णु शब्द का अर्थ इस प्रकार से किया गया है।

इस प्रकार के वे उदार-स्वभाव-सम्पन्न थे। आश्रय में आए हुए श्येन पक्षी के लिए शिवि ने अपने शरीर से माँस के टुकड़े काट-काटकर व्याध को प्रदान किये थे, क्योंकि पक्षी के प्राण भी बचाने थे और व्याध की भी भूख मिटानी थी। पक्षीको एक सामान्य पक्षी कह कर और व्याध को भी इतर (नीच) जाति का मानकर उनकी उपेक्षा नहीं किया। ऐसी होती है—निष्काम कर्म की साधना! कर्ण ने अपने वक्षःस्थल से चीरकर कवच का दान कर दिया, अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ सोचा तक नहीं। दुःखित और शत्रुओं से पीड़ित पाण्डवों को पितामह भीष्म ने अपनी मृत्यु का उपाय स्वयं बतला दिया था। धर्मराज युधिष्ठिर अपने परम शत्रु आततायी दुर्योधन के प्राण और मान रक्षा के लिए व्याकुल हो उठते हैं! वनवास जन्य क्लेश और नाना प्रकार के अत्याचारों से पीड़ित होने पर भी वे शत्रुओं की पीड़ा देखकर अपने को उदासीन न रख सके—ऐसे वे धर्मप्राण और आश्रितों के प्रति वत्सल हृदय थे! इस पवित्र धर्म का इस प्रकार का अनुष्ठान (आचरण) प्राचीन भारत में ही होता था। इस प्रकार की जगत् को पवित्र करने वाली धर्मकथाएँ संसार की अन्यान्य जातियों के इतिहास में शायद ही मिल सकेंगी। सांसारिक विषयों में आसक्त जो पुरुष धन-धान्य-उपार्जन में तल्लीन थे, उन्हें 'वैश्य' कहा गया, क्योंकि वे लोग फल की कामना करनेवाले और लोभी थे, अतएव वे निष्काम धर्म करने में असमर्थ थे। इसीलिए गीता में भगवान् कृष्ण ने इन लोगों की ओर संकेत करते हुए कहा:—'कृपणाः फल हेतवः'। शूद्रों के चित्त की व्यवस्था और भी मलिन थी, इसी लिए उन्हें वेद विधि से बाहर कर दिया गया। उनका हृदय दुर्बल, बुद्धि अपरिमार्जित, अत्यन्त

विषयासक्त और वे स्वयं अत्यन्त शोक और मोह के वशीभूत थे, अतः वे वेद विधि ग्रहण करने के सर्वथा अयोग्य थे—इसीलिए उन्हें 'शूद्र' कहा गया। आज शूद्रों से ही समस्त भारत व्याप्त है। तभी तो हम निष्काम धर्म की कथा सुनकर सिहर उठते हैं! वास्तव में आज के युग में हम लोग केवल आशापाश में बँधकर कामोपभोग परायण होकर विषय भोग को ही परम पुरुषार्थ माने हुए हैं। अर्थ संग्रह के ही महान् आग्रह में हम सब निबद्ध है। 'त्यागाच्छान्ति निरन्तरम्' इसका अर्थ हम लोगों में से कितने लोग समझ पाए हैं? "कः धर्म्म भूते दया" इसे ही हम लोग कितने व्यक्ति प्रतिपालन कर सकते है? परमार्थ-चिन्ता में निःशेषरूप से अपने मन को निमज्जित रखने का आग्रह और सामर्थ्य हम लोगों में से कितने लोगों को है? हम लोग में से कितने व्यक्ति परार्थ (याने दूसरे के उपकार के लिये) अपने को उत्सर्ग करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि फिर भी हम ब्राह्मण, पण्डित, विद्वान्, कुलीन, साधु, देश हितैषी, समाज सुधारक, धर्म प्रचारक आदि अपने को कहते हुए किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं करते। हमारी खूब उन्नति हो रही है, यह कह कर स्पर्द्धा भी करते हैं! यही तो हमारे विचारों की क्षमता है। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।' ठीक यही अवस्था आज हमारी हो रही है। इसीलिए सम्यक्दर्शी और अभ्रान्त ऋषि वाक्यों पर हमारी श्रद्धा या आस्था नहीं होती, यही कारण है कि हम उनके कृतज्ञ भी नहीं होते। पाश्चात्य सभ्यता और रीति-रिवाजों का अनुकरण करके हम व्यर्थ मोहान्ध हो रहे हैं। अपने घर की ओर देखने का हमें अवसर ही नहीं। जिन लोगों

यही तो विधि की विडम्बना है !! ऐसेही लोग तो हमारे आप्त-काम एव शास्त्रकार ऋषियों को स्वार्थी कह कर उनकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। यदि शूद्रा का वेदाधिकार छीन न लिया जाता तो आज तक ससार में धर्म नाम का कोई पदार्थ शेष रह जाता—इसमें सन्देह है। शूद्र शब्द से हमारा अर्थ वर्तमान शूद्र *जाति से नहीं किन्तु शूद्र* वह है, जो वेद प्रोक्त विधि पालन करने में असमर्थ हो और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के अयोग्य हो। शास्त्रों में ब्राह्मण किसे कहा गया है—देखिए—

का अनुकरण करने के लिए हम इतने लालायित हो रहे हैं, वे लोग स्वयं अपनी सभ्यता रूपी विष की अग्नि में झुलस रहे हैं और छुटकारे के लिए रोते हुए छटपटा रहे हैं।* पाश्चात्य गुरु वर्ग अपनी सभ्यता से स्वयं सन्तुष्ट नहीं हैं, किन्तु उनके शिष्यों की उनके प्रति अचल भक्ति रहती है।

---

*कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी सभ्यता और देश यवस्था का उल्लेख करके उन पर आक्षप भी किया है, उनका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्रसिद्ध लेखक मैक्सम्यूलर कहते हैं —

"अपने गौरव का अनुभव करना ही 'सभ्यता' है, स्वाभाविक हँसी को दबा कर मुस्करा देना, बडी भारी बात समझी जाती है। स्वाभाविकता को छिपा जो हम हैं, उससे अपने को बढ़कर दिखलाने का ढोंग करना, अपनी शक्ल-सूरत, चाल-ढाल, कपडेलत्ते और धन दौलत के दिखाने पर—जो कि हमने गरीबों से छल कर लूटा है विशेष ध्यान रखना, यही है सभ्यता।

किसी साधारण कपडो वाले आदमी के सीधे सादे प्रश्न का जवाब देने से भी मुँह मोड लेना, अपरिचित मानवर विदेशी द्वारा कुछ पूछे जाने पर उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखना और उसका जबाब न देना यह है गौरव का स्वाँग, यह है फैशन, की बात ···· बिना शत्रुता के एक दूसरे का गला घोटते जाना—यही सभ्यता के लक्षण हैं।

पृथ्वी मनुष्यो के रक्त से रँग रही है। उसके हरे-भरे खेत मानवता के सूखे हाडो की राख से ढँक गए हैं। एक जाति की उन्नति दूसरी जाति के सर्वनाश का द्योतक है ······ मनुष्य ने इस पृथ्वी को एक बड़ा भारी नरक कुण्ड (Pandemonium) या नाबदान बना दिया है, जिससे मलेरिया रोग की भाप निकली, मलेरिया के जीवाणुओं की भरमार हुई परिणाम में टेढ़ी-मेढ़ी शक्ल वाले, भ्रान्त मन वाले,

यही तो विधि की विडम्बना है !! ऐसेही लोग तो हमारे आप्त-काम एवं शास्त्रकार ऋषियों को स्वार्थी कह कर उनकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। यदि शूद्रों का वेदाधिकार छीन न लिया जाता तो आज तक संसार में धर्म नाम का कोई पदार्थ शेष रह जाता—इसमें सन्देह है। शूद्र शब्द से हमारा अर्थ वर्तमान शूद्र जाति से नहीं किन्तु शूद्र वह है, जो वेद-प्रोक्त विधि पालन करने में असमर्थ हो और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के अयोग्य हो। शास्त्रों में ब्राह्मण किसे कहा गया है—देखिए—

हीन आत्मा वाले जीवो की उत्पत्ति हो रही हैं। शोक है कि इन थोथे विचारो से हमने भगवान या प्रकृति को कितना नीचे गिरा दिया! प्रकृति ने हम पर जो जिम्मेदारी डाल दी थी, हम उससे जी चुराते हैं और बाबा आदम के समान अजीर वृक्ष के पत्तो की आड़ में अपने नङ्गे पन को छिपाते फिरते हैं। जिन अपने कर्मों से हमारा सिर झुक जाता है उसे दैव, प्रकृति, सयोग या अवसर के माथे मढ कर अपना पल्ला छुड़ाते हैं।

[अव देखिए भारत की परम ज्ञान की ज्योति से मुग्ध हो मैक्समूलर साहब की 'भारत हमें क्या सिखा सकता है' नामक पुस्तक में 'सिविल सर्विस' में उत्तीर्ण छात्रो को लक्ष्य करके ये निम्नलिखित बातें कही गयी हैं।]

"यदि मुझे ससार भर में कही भी प्रकृति के सुन्दर से सुन्दर धन, वैभव, शक्ति और सौन्दर्य पूर्ण देश को देखाना हो अथवा ससार में देवलोक के ही दर्शन करने हो तो—मैं भारत को दिखा दूगा। यदि हमसे कोई पूछे कि विश्व के किस आकाश भाग के नीचे मानवता के विचार ने पूर्ण उन्नति की है? प्रकृति के श्रेष्ठतम दान से किसने सर्वाधिक लाभ उठाया है? जीवन के उन गम्भीर प्रश्नो पर गम्भीर तम विचार किसने किया है—जिन पर प्लेटो और काण्ट के विद्यार्थियों

"क्षान्तं दान्तं जितात्मानं जितक्रोधं जितेन्द्रियम्।
तमेवं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा इति स्मृताः॥

निष्काम धर्म को लेकर आज कल बहुत-कुछ कहा-सुना जा रहा है। आज कल एक बच्चा भी 'निष्काम धर्म' की आवाज लगा रहा है। प्रतीत होता है सबसे सरल बात यही है जिसे सहज ही में लोग प्राप्त कर लेगें। गीता के संस्करणों के ऊपर सँस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। बहुत से लोग उसकी व्याख्या भी प्रकाशित करते जा रहे हैं;

निष्काम धर्म

ने भी ध्यान नहीं दिया है ? तो मैं भारत की ओर अगुली उठाऊँगा। यूरोप में हम विशुद्ध ग्रीक और रोमन् की विचार धाराओं पर पले-पोसे हैं और एक सेमेटिक जाति यहूदियों की भी कुछ अंश में सच्ची विचार धारा का दर्शन पाए हुए हैं अपने आध्यात्मिक जीवन को पूर्ण करने के लिए जिसकी नितान्त आवश्यकता है, यदि मुझसे कोई पूछे कि वह कौन साहित्य है जिसके अध्ययन से हम अपनी तथाकथित त्रुटियां दूर कर सकेंगे और जिससे हमारा भीतरी जीवन (आध्यात्मिक जीवन) अधिक पूर्ण, अधिक विवेचनात्मक, समधिक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाला बनेगा और वस्तुत: अधिक मनुष्योचित हो सकेगा, केवल इसी जीवन के लिए नहीं, वरन् आने वाले दिव्य जीवन के लिए भी, तो फिर भी हम भारत की ओर ही संकेत करेंगे।" मैक्समूलर साहब के उस ग्रन्थ में 'हिन्दू जाति का असली चरित्र चित्र' के अध्याय को एक बार हिन्दू मात्र को अवश्य पढ़कर देखना चाहिए। उन्होंने बहुत से चीनी, यवन, अंग्रेज और अन्यान्य यूरोपीय विभिन्न साम्प्रदायिक ग्रन्थ कर्ताओं के मत उद्धृत कर यह स्पष्ट दिखा दिया है कि 'हिन्दू लोग सत्य का कितना आदर करते थे।' इस उद्धरण को ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सका।

अच्छा ही है, परन्तु निष्काम धर्म किसी आदमी के हृदय में कुछ स्थान पाता है कि नहीं कुछ समझ में नहीं आता। गीता को जितने लोग पढ़ते हैं यदि उनमें से उसके सहस्रांश भी निष्काम धर्म को समझ पाते तो भारत की आध्यात्मिक अवस्था आज कुछ और ही होती। हाय भगवन्! तुम्हीं ने तो अर्जुन से कहा था—

"To be dignified is the glory of civilization To suppress natural laughter, and smile instead, is grand, to "put the best side out" and to conceal the natural; to pretend to be greater or better than we are, to think more of our looks, walk, manners, clothing, and the wealth we have robbed the poor of—this is civilization.

To turn away from one poorly clad, not deigning an answer to a civil question, to look coldly in the eye of a stranger, without speaking when accosted, because you have not been introduced This is dignity, this is fashionable to murder each other without enmity—this is to be civilized

This earth is drenched with human gore, and her fair fields are rich with the bone dust of humanity. The glory of one nation is the destruction of another

Man has made this earth one vast pandemonium—cesspool, out of which came malarial vapours and malarial beings, distorted in body, deformed in mind, dwarfed in spirit

Alas, how we degrade nature or God in the bare idea Not willing to assume the responsibility that nature puts upon him, he, Adam like, hides

'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥'

"हे अर्जुन ! गीता के इस परम तत्त्व को जो तपस्वी न हो, जो भक्त न हो, जो इसे सुनने की इच्छा न रखते हो और जो मुझ से द्वेष करता हो, ऐसों को कभी न सुनाना" जो अभी 'धर्म' क्या है, यह तक समझते नहीं, उन्हें 'सकाम'

---

behind the fig leaves his nakedness and ascribes to fate, nature, chance or necessity the actions he is ashamed of

If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power, and beauty that nature can bestow—in some parts a very paradise on earth—I should point to India If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India And if I were to ask myself from what literature we, here in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semitic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life, again —I should point to India.

'निष्काम' की बात कैसे ज्ञात होगी। तो फिर हमारे जैसा तपोहीन व्यक्ति गीता पाठ करके क्या लाभ उठा सकता है? समस्त शास्त्रों का निचोड़ तत्त्व गीता है तो भला इसका मर्मार्थ साधारण लोग क्या समझ सकेंगे? हम तो गीता के एक श्लोक का भी मर्म ग्रहण करने में असमर्थ हैं। सारी गीता पढ़ लेने के बाद भी चित्त की शुद्धि तो दूर रही, इसके विपरीत हम लोगों का देहात्मभिमान और भी वृद्धि को प्राप्त होता है। हमें पता नहीं है कि:—

"साधोर्गीताम्भसि स्नानं संसारमल नाशनम्।
श्रद्धाहीनस्य तत् कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत्॥"

'गीतारूपी जल में अवगाहन करने पर साधु पुरुष का सांसारिक मल धुल जाता है, परन्तु श्रद्धाहीन मनुष्यों के लिए वह गजस्नान के समान व्यर्थ है।' बगुला चाहे कितना ही ध्यानमग्न होकर आँख मूद कर क्यों न बैठे, उसका लक्ष्य तो मछली पकड़ना'ही रहता है।' इसी प्रकार आज हम 'निष्काम धर्म' को लेकर कितनी ही उछल-कूद क्यों न करें, पर वस्तुतः हमारी दृष्टि आज भी 'कामोपभोग' को अति क्रमण नहीं कर सकी। यही बात नित्य देखी जाती है। जो निष्काम धर्म की लम्बी चोड़ी बातें किया करते हैं, वे वास्तव में 'निष्काम धर्म' क्या वस्तु है—इसे स्वयं नहीं समझते। यदि वे वास्तव में 'निष्काम धर्म' के अधिकारी होते तो उनकी हार्दिक दुर्बलता दूर हो गयी होती। यह तो हो नहीं पाता, इसीलिए वे मुँह से कुछ और ही कहते हैं और आचरण उसके विपरीत करते हैं। एवं विध कपटाचरण करना ही शूद्र का लक्षण है। इस प्रकार के लोगों को कभी नित्य और सत्यज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मुख से बड़े-

यड़े ज्ञान विज्ञान की चर्चा मात्र कर लेने से ही क्या ? इस प्रकार के कपटी, इन्द्रियपरायण और देहात्मवादियों के निकट, शरीर से आत्मा पृथक् है यह उच्च आध्यात्मिक विज्ञान कभी भी प्रकाशित नहीं हो सकता। अतः 'निष्काम धर्म क्या है ? यह उनकी समझ में आ ही नहीं सकता। जब ऐसे धर्मोपदेशक लोग उस गद्दी पर बैठ कर उपदेश करने लगते हैं तो गड़बड़ी का एक नया द्वार खुल जाता है। धर्म, साधन की वस्तु है, केवल वाक्य मात्र नहीं है। शब्दार्थमात्र समझ लेने से ही धर्म को नहीं पहचान सकते। धर्म जानने के जो विधान हैं, उनका पालन करेंगे नहीं, धर्म का मर्म समझ जायँ—यह कैसे सम्भव है ? इस अवस्था में जो लोग—'यह सब कुछ नहीं' इस प्रकार का निश्चय कर लेते हैं; उससे उनकी हठवादिता ही प्रगट होती है। अच्छे लोग ऐसी बुद्धि की कभी प्रशंसा नहीं करते। अनुष्ठान और अभ्यास द्वारा जो लोग अपना जीवन पवित्र कर चुके हैं, जिनके हृदय के द्वार खुल गए हैं, जो अपनी आत्मा में परमात्मा की दिव्य ज्योति के दर्शन कर चुके हैं, वे ही महान् व्यक्ति ऋषियों की अलौकिक शक्ति और असाधारण ज्ञान को प्रत्यक्ष करके आनन्दित हुआ करते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि केवल मौखिक जमा खर्च से ही इन्द्रियों से अगोचर विषयों की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं, इसीलिए मौन रहते हैं। ऐसे ही आस्तिक बुद्धि वाले महात्मा अपने आचरणों से धर्म और ऋषि प्रणीत शास्त्रों को यथार्थ रूप से जानने की चेष्टा करते हैं, व्यर्थ की चर्चाओं में समय गँवाना उचित नहीं समझते। ऐसे ही सत्य पुरुष एक दिन उपदेशक हो सकते हैं। परन्तु उन्हें भी कहना ही पड़ता है :—

"भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत, यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्यामः॥"

"तुम लोगों को और एक वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा पूर्वक यहाँ रहना होगा। इसके उपरान्त अपनी इच्छा भर प्रश्न पूछना यदि हमें आवेगा तो हम तुम्हें भली भाँति बता देंगे।" परन्तु आज कल सभी, शिष्य का सर्वस्व लूट लेने की धुन में स्वांगी सर्वज्ञ गुरु बनने के चक्कर में रहते हैं। धर्म इस प्रकार सहज में जाने जा सकने की वस्तु तो नहीं है। यदि यह इतना ही सहज में जानने की वस्तु होती तो बुद्ध भगवान् राज-पाट, घर-द्वार छोड़ कर कठिन तपस्या में लीन न हुए होते। शंकराचार्य जी सन्यास धारण न किये होते। चैतन्य देव आँसू बहाते हुए गली गली न भटकते। धर्म की जिज्ञासा प्रबल क्षुधा से भी अधिक व्याकुलता जनक है। जिसे इसकी लगन लग जाती है, वह इसके पीछे बावला हो जाता है। सिवा इसके शास्त्र और सदाचार को न मानकर केवल मनमाने ढंग से और शारीरिक बल से कोई भी कभी धर्म के तत्त्व को नहीं पा सकता, हम निष्काम धर्म को क्या समझेंगे जब कि, हमारा अन्तःकरण इतना मलिन हो गया है कि हम वास्तविक नरक में निवास कर रहे हैं या इस पृथ्वी पर यही समझना प्रायः कठिन हो गया है। हममें ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है कि जिनको यह कहते सुना गया है—"यह खूब रही, हम तो एड़ी-चोटी का पसीना एक कर निरन्तर खट कर जान दें और हमारी इस पसीने की कमाई से ऐरे-गैरे मौज करें यह कैसे सहा जायगा!" हाय! भारत की आर्य सन्तानो! अपने पितामह ऋषियों के समस्त वाक्यों को क्या तुमने एक बार ही भुला दिया? उन्होंने ही तो यह

कहा था--'अतिथि देवो भव;' इसी देश में भक्त प्रह्लाद ने प्रार्थना करते हुए कहा था—'नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षो एकः।' 'और भी अभक्त असुर बालकों को छोड़ कर अकेले में मुक्त होना नहीं चाहता।' और एक भक्त अपनी भूख मिटाने के लिए श्री अन्नपूर्णा से भिक्षा याचना करते हुए कहता है—"माता यह मेरे अकेले की भूख नहीं है, मैं केवल अपने ही लिए तुम्हारे द्वार पर भीख माँगने नहीं आया हूँ। "जायासुता परिजनोऽतिथयोऽन्नकामा," सभी के लिए आज तुम्हारे आगे भिक्षा के लिए झोली डाल दी है।" उसी देश के लोग कैसे आज यह कहना सीख गए कि– "तुम सब लोगों के मिल कर खा डालने से हमारे अर्थ का अपव्यय होता है।" अपनी छोटी सी गृहस्थी के अतिरिक्त हम दूसरे को अपना समझने के लिए तैयार नहीं, इससे छोटी बात और क्या होगी। अपने पुत्र-परिवार के अतिरिक्त हमारे कमाई से औरों का उदर-पोषण क्यों हो? यह कितनी स्थूल दृष्टि है, ऐसी ही स्थूल बुद्धि वाले कुछ समझ भी नहीं पाते हैं। क्या यह बात सच नहीं कि हमारी उपार्जित आर्थिक सम्पत्ति में सभी का अधिकार है? न जाने कितने युग-युगान्तरों से हमारे शरीर और मन को पुष्ट करने के लिए कितने लोग परिश्रम करते आये हैं। तब न आज यह हमारा मनुष्य शरीर बना है। और मनुष्योपयोगी ज्ञान एवं अध्यात्मविज्ञान को हम प्राप्त कर सके हैं। कुछ विचार करने पर ही यह बात भली भाँति समझ में आजायगी। इसके लिए हम विश्व भर के मानवों के ऋणी हैं। इस अधिकार को सच्चे हृदय से स्वीकार करना और इस विश्व नियम के आगे सिर झुकाना—यही यथार्थ में निष्काम धर्म की भित्ति है। विश्व में, समस्त

जड़ और चेतन में यही कर्म का प्रवाह निरन्तर अविश्रान्त गति से चल रहा है। हम ऐसे मूर्ख हैं कि इधर देखना भी नहीं चाहते। वायु स्वधर्म से वह रहा है, सूर्य आलोक और उत्ताप देकर सारे विश्व में जीवन-सञ्चार कर रहा है, चन्द्र अपनी स्निग्ध ज्योत्स्ना से समस्त जगत् को प्रसन्न और शीतल कर रहा है, अग्नि, जल, आकाश, और मृत्यु सभी अपने निर्दिष्ट नियमों के अनुसार संसार की परंपरा का निर्वाह करते चले जा रहे हैं। इसके लिए वह किसी से कुछ चाहते नहीं। परन्तु वे सभी अपने-अपने कार्य में संलग्न हैं। कुछ मिलना नहीं—यह समझ कर कोई अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होते हैं। जीवन का यह अनन्त प्रवाह शतमुखी होकर भगवान् के चरण सिन्धु की ओर दौड़ रहा है। न तो उसे मार्ग में विश्राम है, न रुकना है। क्यों चला जा रहा है—यह प्रश्न भी कभी उठता नहीं। क्योंकि यही भगवान् का उन्हें आदेश है। इसी प्रकार विना सोचे-समझे उसका आदेश मानकर चलना ही निष्काम कर्म है। इससे कर्म बन्धन नहीं होता। और जो कुछ भी करोगे— सभी में बन्धन भय है और सभी मोह की फांसी होगी।

कर्म बन्धन के सबध में गीता का अभिप्राय

भगवान् ने गीता में कर्म का उपदेश दिया है एवं जिस रूप से कर्म करने पर कर्म बन्धन होता नहीं, उसे भी भगवान् ने अर्जुन को सुनाया है। निष्काम कर्म का तत्त्व समझाते हुए भगवान् ने कहा है—'बुद्धयायुक्तः यया पार्थ कर्म बन्धं प्रहास्यसि' इसकी टीका करते हुए श्रीधर स्वामी लिखते हैं—'यथा बुद्धया युक्तः परमेश्वार्पित कर्मयोगेन शुद्धान्तः करणसंस्तत् प्रसाद लब्ध्वा परोक्ष ज्ञानेन

कर्मात्कं बन्धं प्रकर्षेण हास्यसि तक्षसि।' अर्थात् "ईश्वरार्पित चित्त से कर्म करते करते चित्त की शुद्धि होती है। तब भगवान् की कृपा से मिले हुए अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा कर्म के सभी बन्धन ढीले हो जाते हैं।" भगवान् ने और भी कहा:—

"मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्म चेतसा।
निराशीः निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥"

इसका शांकर भाष्य इस प्रकार है:—"मयि वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वात्मनि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य निक्षिप्य अध्यात्म चेतसा विवेक बुद्धयाऽहं कर्त्तेश्वराय भृत्यवत् करोमीत्यनया बुद्धया। किंच निराशीः त्यक्ताशीः निर्ममो मम भावश्च निर्गतो यस्य एव सः त्वं। निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व। विगतज्वरो विगत सन्तापो विगत शोकः सन्नित्यर्थः।" श्रीधर स्वामी इस श्लोक की टीका में 'अध्यात्म चेतसा' का यह अर्थ लिखते हैं—'अन्तर्याम्यधीनोऽहं कर्म करोमीति-दृष्ट्या—वस्तुतः दोनों बातें एक ही हैं। कर्म की फलाकांक्षा न करते हुए, कर्म में ममत्व बुद्धि न रखते हुए विवेक युक्त होकर अर्थात् जगत् कर्ता परमात्मा का मैं दास हूँ, केवल उसकी आज्ञा का पालन कर रहा हूं—मैं फल फल को कुछ भी नहीं जानता। इसी प्रकार से कर्म करने को 'निष्काम कर्म' कहते हैं। जब कर्म में ममत्वबुद्धि ही नहीं रहेगी तब उससे होने वाले लाभ-हानि जनित हर्ष और सन्ताप की सम्भावना ही कहाँ रहेगी?

कर्म के विषय की सभी बातें अभी समाप्त नहीं हुई हैं, पर निष्काम कर्म की सामर्थ्य कैसे हो सकती है। इसे यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है। भगवान् कहते हैं—

निष्काम कर्म करने की सामर्थ्य कैसे होती है।

'जरा मरण मोक्षाय
मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्न-
मध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥'

"जरा मरण को नष्ट करने के लिए जो लोग मेरा आश्रय लेते हैं, (इस प्रयत्न की चर्चा अभ्यास योग के प्रभाव का वर्णन करते समय स्पष्ट की जा चुकी है।) वे ही उस परब्रह्म, अध्यात्म और सारे कर्मों को जान सकते हैं।"

अब यह समझ में आ रहा होगा कि कर्म का रहस्य जानने के लिए भगवान् का आसरा लेना ही होगा, प्रपन्न होकर (सब आशा छोड़कर) उसके शरण में जाना पड़ेगा इस प्रकार के प्रयत्न का जिन्हें अभ्यास हो चुका है, उनके सारे कर्म ही निष्काम कर्म का रूप धारण कर लेते हैं। उनकी शरण में जाना हँसी खेल नहीं, केवल मुँह से 'शरण हूँ तिहारे' कहने मात्र से कुछ होने का नहीं। सच्चा शरणागत वही है जो लगन से भजन करता है, जिसके पाप क्षय हो गए हैं और पुण्य कर्मों द्वारा जो मोह से छूट चुका है। भगवान् कहते हैं:—

'येषांत्वन्तगतं पापं जनानां पुण्य कर्मणाम् ।
ते द्वन्द मोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥

अर्थात् जिन पुण्यात्माओं के पाप नष्ट हो चुके हैं, द्वन्द्वों का मोह मिट चुका है, वे ही लगन के साथ मुझे भजते हैं। द्वन्द्वों का मोह छूटना क्या सहज है? इच्छा और द्वेष इसी द्वन्द्व के मोह से उत्पन्न होते हैं और उस इच्छा-द्वेष का कारण है यह स्थूल शरीर। इसलिए सर्व प्रथम इस स्थूल शरीर का मोह छोड़ना होगा। जिनका स्थूल शरीर का

मोह गया नहीं वे किस प्रकार निष्काम कर्म कर सकेंगे। इसीलिए :—

'प्रयत्नात् यत मानस्तु योगी संशुद्ध किल्विपः ।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥'

अर्थात् प्रयत्न के साथ धीरे-धीरे योग साधन में लगा हुआ योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मों की साधना के फल स्वरूप मिले हुए योग साधन के द्वारा सिद्धि पाकर परम गति को प्राप्त होता है। योगाभ्यास के प्रभाव से मन में सात्विक भाव बढ़ता है, मन के सकल्प मिटते हैं और चित्त स्थिर हो जाता है। उसी अवस्था में भगवान् से योग युक्त हुआ जाता है। पापों के क्षय हो जाने पर निरन्तर भगवान् का स्मरण होता रहता है। इस प्रकार योगी जब अनन्य चित्त होकर भगवान का स्मरण कर सकता है, तभी उस नित्य युक्त योगी को वे सहज में ही प्राप्त हो जाते हैं। इसे भगवान् ने स्वयं अपने मुँह से स्वीकार किया है।

पहले जिस प्रकार से कर्म करने की बात कही गयी है, उसी प्रकार से कर्म करके मुक्ति की इच्छा रखने वाले मुक्ति प्राप्त करते हैं। परन्तु कर्म का रहस्य अति कठिन और दुर्बोध्य है। बुद्धिमान् और पण्डित लोगों को भी इस सम्बन्ध में समय-समय पर भ्रम होता रहता है। इसीलिए कहा गया है कि निष्काम भाव से कर्म करने ही से सब कुछ नहीं हो जाता। भगवान् अर्जुन से कहते हैं :—

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म कृत ॥'*

* श्री श्रीधरस्वामी की टीका में—'अकर्मणि च विहिता करणे कर्मैव पश्येत् प्रत्यवायोत्पादकत्वेन बधन हेतुत्वात्। परमेश्वराराधन लक्षणे

जो लोग कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखते हैं, वे ही मनुष्यों में बुद्धिमान् और सब कर्म करते हुए भी युक्त हैं।' अर्थात् कर्म बन्धन के भय से या आलस्य अथवा शारीरिक क्लेश के भय से जो कर्म नहीं करना चाहते, वे लोग यदि कर्म न भी करें तो कर्त्तव्यकर्म-त्याग के कारण पाप के भागी होते हैं। पर जो लोग यह जानते हैं कि— ईश्वरार्पित चित्त से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं होता—वे कर्म करने से कभी भय भीत होकर पीछे नहीं हटते। वे सहस्त्रों प्रकार के कर्मों में अपने को नियुक्त रख कर भी कर्म बन्धन में नहीं पड़ सकते इसलिए उनका कर्म, कर्म न करने के समान हो जाता है। और जो कर्म नहीं करते हैं उनका अकर्म ही कर्म करने के समान हो जाता है क्योंकि कर्तव्य का पालन न करने के कारण उन्हें कर्म बंधन हो जाता है। पर जो लोग (भगवान् को सब कुछ समर्पण किए हुए) घर में ही रह कर कर्म करते हैं और जो लोग घर छोड़कर सन्यासी हो जाते हैं, इन दोनों में अधिक लाभ किसको होता है-इसका निर्णय करना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। वास्तव में बात ऐसी है कि कर्म करने में जब आनन्द की प्राप्ति होने लगती है, और कर्म जब केवल कर्तव्य ही समझ कर नहीं किया जाता, किन्तु उसके करने में प्रीति होती है और हृदय में प्रसन्नता होती है। मानो निर्झर-जल धारा के समान यह प्रसन्नता स्वतः प्रवाहित होती है तो उसके करने से मन कभी ऊबता नहीं और उसे ही निष्काम कर्म या भगवदर्पित कर्म कहना चाहिए। और

कर्माणि कर्म विषये। अवर्म कर्मेद न भवतीति य पश्येत् तस्य ज्ञान हेतुत्वेन वन्धकत्वाभावात्। य एव भूत स तु सर्वेषु मनुष्येषु बुद्धिमान् पण्डित ।

जिस कर्म के करने से हृदय में खिन्नता हो जाय, एक भार के समान उसकी प्रतीति होने लगे तथा चित्त उससे विमुख हो जाय, तो समझना चाहिए इस प्रकार का कर्म कभी भी ईश्वरार्पित कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि भक्तों के लिए भगवान् का कर्म बड़ा ही आनन्द दायक और बड़ा ही सुख दायक हुआ करता है। एक भक्त कवि ने गाया है:—

"तुमि यत भार दियेछ से भार करिया दियेछि सोझा"
आमियत्ते भार जमिये तुलछि सकलि होयेछे वोझा।

इसलिए किस प्रकार से कर्म करने पर कर्म अकर्म न बनकर वास्तव में निष्काम कर्म हों इस प्रसङ्ग को भगवान् ने गीता के आठवें अध्याय में विशेष रूप से स्पष्ट किया है। अर्जुन के यह पूछने पर कि 'कर्म क्या है?' भगवान् इसका इस प्रकार उत्तर देते हैं।

'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः'*
"भूतानां भावाः भूतभावाः तेषां उद्भवकरः विसर्गः त्यागः।"

जिस त्याग क्रिया से जीव में भाव की उत्पत्ति होती है— उसी का नाम है—कर्म। जीवों के अन्तर्गत जो भाव-समूह

---

*भूताना भावो भूतभाव। तस्योद्भवो भूतभावोद्भव। त करोतीति भूतभावोद्भवकर। भूतवस्तु उत्पत्तिकर इत्यर्थ। विसर्गो विसर्जन देवोद्देशेन चरुपुरोडाशादे द्रव्यस्य परित्याग स एप विसर्ग लक्षणोयज्ञ कर्म सञ्ज्ञित कर्म शब्दित इत्येतत्। (शङ्कर)

भूताना जरायुजादीनाभाव उत्पत्ति। उद्भवश्च अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टि वृष्टेरन्न तत प्रजा। इत्युक्त क्रमेण वृद्धि तौ भावोद्भवौ करोतीति यो विसर्गो देवोद्देशेन द्रव्य त्यागरूपो यज्ञ। सर्व कर्मानामुपलक्षणमेतत्। सच कर्मशब्द वाच्य। (स्वामीकृत टीका)

अस्फुट या सुप्त अवस्था में हैं उनका स्फोट कर देने या जगा देने का ही नाम कर्म है। देवताओं के लिए त्याग रूपी क्रिया के द्वारा ही ये भाव रूपी पुष्प प्रस्फुटित हो उठते हैं। जो विसर्ग या त्याग भूतों के भावों का विकास करते हैं और जो देवताओं के उद्देश्य से ही निष्पन्न किये जाते हैं, उन्हीं को कर्म कहा जाता है। किन्तु जिसके द्वारा शक्ति का अपव्यय होता है, उसी का नाम है अकर्म। इस प्रकार करने वाला तो एक ही होता है, परन्तु कर्म करने वाले के भावानुसार ही कर्म, अकर्म और विकर्म ये तीन भेद हो जाया करते हैं। पाद टिप्पणी में श्रीमद् शंकराचार्य ओर श्रीमद् श्रीधर स्वामी ने जैसी व्याख्या की है उसे यहाँ ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। परन्तु पाठक यदि विचार पूर्वक देखेंगे तो भाष्य और अर्थ में भिन्नता पावेंगे किन्तु कोई विशेष अन्तराय नहीं है। उन लोगों ने 'भूतभाव' शब्द का अर्थ 'जीवों की उत्पत्ति' किया है ओर हमने इसका अर्थ किया है—'जीवों का आन्तरिक भाव,' जीवों की उत्पत्ति का अर्थ है—सृष्टि, और सृष्टि का अर्थ है—भावों का विकास। जगत् पिता परमात्मा के भीतर जो जगत् भावरूप से विद्यमान है, कर्म द्वारा उसका विकास करना ही सृष्टि है। इसीलिए ब्रह्मा ने सृष्टि के पहले तपस्या की थी। 'सतपांस्तप्यत'—अर्थात् जो सृष्टि भाव रूप से विद्यमान थी, तपस्या के प्रभाव से वह धीरे-धीरे स्थूल रूप धारण कर जगत् के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है। यह दृष्टिगोचर होने वाला जो भी पदार्थ है, वह सब इसी प्रकार से भाव रूप में विद्यमान था इसीलिये स्थूल रूप में उनका परिणित होना सम्भव हुआ है। जगत में मनुष्य जो कुछ भी गढ़ता है क्या भाव रूप में (ठीक चित्रकार की चित्र-भावना के समान) उसके चित्ताकाश में पहले से ही विद्यमान नहीं रहता? अर्थात् रहता है।

पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है, तभी अपनी शोभा और सुगन्धि से दिग्-दिगन्त को आमोदित रख सकता है, य पुष्परूपी जीवन की पूर्ण सार्थकता है। ऐसा पूर्ण विकसित पुष्प देवपूजन के योग्य है, मनुष्य का जीवन भी ठीक इसी पुष्प के समान है। भगवत् चरणों की पूजा और उपहार के लिए ही उसका जीवन है। इसी में उसकी पूरी सार्थकता है। पुष्प जिस प्रकार वृक्ष की शाखा को भेदकर कलियों से बाहर निकलता है और ज्यों-ज्यों वह खिलता जाता है, डाल से किनारे होता जाता है और जब वह पूर्ण रूप से खिल जाता है तो डाल से सहसा गिर स्वतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार इस कलेवररूपी वृक्ष से साधन और अभ्यास के बल से आत्मा अपने को स्वतः प्रकाशित करने लगता है और धीरे धीरे अपने को शरीर के बंधन से पृथक् करने का अवसर प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार वृक्ष में पुष्प कलियों की सुगन्ध के समान मनुष्य के हृदय में अव्यक्तरूप से जो भाव छिपे रहते हैं—वे ही सब भाव यदि प्रस्फुटित हो जाँय तो उनकी सुगन्ध की मधुरता से मनुष्य समाज में नित्य नवीन आनन्द की धारा बहने लगे और न काल उसे नष्ट कर सकता है और न जरा ही जीर्ण कर सकती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के कितने जीवन-पुष्प पूर्णरूप से प्रस्फुटित होकर भगवच्चरणों में पुष्पाञ्जलिरूप से चढ़कर योग्यता लाभ कर

यही है भारतीय ऋषियों के 'कर्म' की विशेषता। जो लोग स्वयं भी यही समझे हुए हैं, और वही अन्य लोगों को भी समझाना चाहते हैं कि पहले के ऋषि लोग संसार को तुच्छ जानकर केवल अपनी ही मुक्ति की बातें सोचा करते थे—वे सर्वथा भ्रम में हैं इसमें सन्देह नहीं।* पुष्प जय

---

* शास्त्रों में ब्राह्मणों का यह लक्षण कहा है —

शमोदमो तप शौच क्षान्ति रार्जव मेवच ।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

शम, दम, तपस्या शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, अस्तिक्य ये सब हैं, ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म। इनके लिये ब्राह्मण सन्तानों को विशेषरूप से शिक्षा दिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, कम से कम इनमें से कुछ लक्षण ब्राह्मणों में अवश्य रहेंगे। यदि न हो तो समझना होगा कि ब्राह्मण नहीं है। गुण, कर्म और नाम इन तीनों से ब्राह्मण शब्द की सिद्धि है। जिनमें प्रथम दो लक्षण न हों उन्हें नाम के ही ब्राह्मण कहा जा सकता है, जो लोग उस समय के ब्राह्मणों को स्वार्थी समझते हैं, उन्होंने ब्राह्मणों के इन लक्षणों पर ठीक से विचार नहीं किया। देखिए ब्राह्मण का एक गुण है—'ज्ञान' वह ज्ञान वे लोग किनको बतलाते थे—सुनिये—

'सर्व भूतेषु येनैक भाव मव्यय मीक्षते ।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्विकम् ॥'

जिसके द्वारा विभक्त रूप सब जीवों में अविभक्त एव एक विकार-हीन भाव से देखा जाता है, उसी ज्ञान को सात्विक ज्ञान समझना चाहिए। इसलिए जिस उदारता या जिस ज्ञान के अधिकारी हुए बिना ब्राह्मण होना ही असम्भव है, उस प्रकार के धीमान् पुरुष स्वार्थान्ध होकर कभी भी शास्त्रों की रचना नहीं कर सकते। और क्या उनके समान उदार और पवित्र भाव वाले व्यक्ति पृथ्वी की अन्य किसी भी जाति में ढूढने से मिल सकेंगे?

पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है, तभी अपनी शोभा और सुगन्धि से दिग्-दिगन्त को आमोदित रख सकता है, यही पुष्परूपी जीवन की पूर्ण सार्थकता है। ऐसा पूर्ण विकसित पुष्प देवपूजन के योग्य है, मनुष्य का जीवन भी ठीक इसी पुष्प के समान है। भगवत् चरणों की पूजा और उपहार के लिए ही उसका जीवन है। इसी में उसकी पूरी सार्थकता है। पुष्प जिस प्रकार वृक्ष की शाखा को भेदकर कलियों से बाहर निकलता है और ज्यों-ज्यों वह खिलता जाता है, डाल से किनारे होता जाता है और जब वह पूर्ण रूप से खिल जाता है तो डाल से सहसा गिर स्वतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार इस कलेवररूपी वृक्ष से साधन और अभ्यास के बल से आत्मा अपने को स्वतः प्रकाशित करने लगता है और धीरे धीरे अपने को शरीर के बंधन से पृथक् करने का अवसर प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार वृक्ष में पुष्प कलियों की सुगन्ध के समान मनुष्य के हृदय में अव्यक्तरूप से जो भाव छिपे रहते हैं—ये ही सब भाव यदि प्रस्फुटित हो जाँय तो उनकी सुगन्ध की मधुरता से मनुष्य समाज में नित्य नवीन आनन्द की धारा बहने लगे और न काल उसे नष्ट कर सकता है और न जरा ही जीर्ण कर सकती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के कितने जीवन-पुष्प पूर्णरूप से प्रस्फुटित होकर भगवच्चरणों में पुष्पाञ्जलिरूप से चढ़कर योग्यता लाभ कर चुके इनकी संख्या नहीं। समय-समय पर सभी देशों में इस

गीता में भगवान् ने इन्हें 'भाव' कहा है —

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

प्रकार के पुष्प अप्रत्याशित रूप से प्रस्फुटित होते रहते हैं जेरूसलम में एक दिन ऐसा पुष्प खिला था, जिसकी सुगन्ध से आज समग्र क्रिश्चियन समाज सुगन्धित और शोभित हो रहा है। लूथर, हाउगार्ड, फादर-डेमीएन, मूलर, नाइटेंगेल, कार्पेन्टर, टालस्टाय, इमर्सन, कार्लाइल, हर्बर्ट स्पेन्सर, कान्ट और गेटे आदि उदार चेता मानवात्माओं ने यूरोप में जन्म लेकर पाश्चात्य देशों को धन्य किया था। फिर भारत तो इन पुष्पों की वाटिका ही रही। अतीत काल से लेकर आजतक प्रत्येक युगों में भारत के उद्यानों में ये शोभादायक पुष्प सदा खिलते ही रहे। यहाँ श्री रामचन्द्र, श्री कृष्ण, व्यास, वशिष्ट, जनक, याज्ञवल्क्य, कपिल, अष्टावक्र, बुद्ध, शंकराचार्य, ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, शुकदेव, युधिष्टिर, विदुर, भीष्म, अर्जुन, सीता, सावित्री, मैत्रेयी, गार्गी, दमयन्ती, शैव्या, कुन्ती और गान्धारी आदि कितने ही पुष्प खिले थे कि जिनके सौरभ से आज भी सारा जगत् आमोदित हो रहा है। आज से चार सौ वर्ष पूर्व वंगदेश में भी अनेक पुष्प खिले थे—नवद्वीप को प्रकाशित करके श्री मद्गौराङ्गदेव उन सबके शिरोमणि हुए। भक्तों के कथनानुसार "जिनके सौन्दर्य पर आँखें चकाचोंध हो जाती और गुणों पर मन मुग्ध हो जाता।" हमारे इन घोर दुर्दिनों में भी राजा राम मोहन राय, देवेन्द्र नाथ, भक्तवीर परमहंस रामकृष्ण, दानवीर दयासिन्धु विद्यासागर, द्विजवर भूदेव, योगिराट् तैलंगस्वामी, श्यामा चरण, वाग्मिप्रवर केशवचन्द्र, श्री कृष्णानन्द, विवेकानन्द, भावुक श्रेष्ठ श्री वंकिमचन्द्र आदि उत्पन्न हुए। महात्मागान्धी, श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर, द्विजेन्द्रनाथ तथा अश्विनीकुमार आदि अब तक इस पुण्यभूमि को पुण्यमयी करते रहे हैं। ये थे स्वर्गस्थ

महापुरुष। अब भी न जाने हमारे परोक्ष में कितने सुनिर्मल शोभासम्पन्न, संगीतमय जीवन पुष्प गुप्त भाव से खिले हुए हैं– उनमें से कितनों का पता हमें है? उनके गुप्त हृदय की साधना का असीम माधुर्य, अज्ञात रूप से इस क्षेत्र में सौरभ—संचार कर रहा है। और अपनी चरम सार्थकता को प्राप्त कर रहा है। ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है।

जीवन के इस माधुर्य को विकसित करके देवोद्देश्य से उसका त्याग कर सकने का नाम ही 'कर्म' है। जब भावरूपी पुष्प विकसित हो उठता है तो वह स्वयं ही सहज में भगवच्चरणों में अर्पित हो जाता है उसी अवस्था को—'प्रेम भक्ति' कहते हैं। और यही है—"ईश्वरे परानुराग"। जिस कर्म से ईश्वर के प्रति अनुराग न बढ़े, समझना चाहिए कि वह कर्म निष्काम कर्म नहीं है, बल्कि अकर्म और वृथा श्रम मात्र है।

निष्काम कर्म द्वारा भक्ति लाभ

शुभ कर्मों द्वारा निष्काम भाव जितना बढ़ता जायगा, उतना ही ज्ञान और प्रेम में गम्भीरता आती जायगी—यही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। यही मनुष्य जीवन की परम समाप्ति है। बहुत लोग 'भक्ति' की व्याख्या करते हुए भारी भूल करते हैं। भक्ति केवल भाव प्रवणता नहीं है। जो लोग कर्म द्वारा अशुभ वासनाओं को दूर नहीं कर सके हैं, जिनके चित्त में ज्ञान की उज्जवल ज्योति का प्रकाश नहीं हो सका है, बिना कुशल नाविक के समुद्र में पड़ी नैया के समान जिनका चित्त सदा डांवाडोल रहता है, उन्हें भक्ति की प्राप्ति दुर्लभ है। जो भक्ति मनुष्य को

मनुष्यत्व साधन में दीन बनाए रखनी है वह भक्ति उसे जड़ बना कर सब कर्मों से विमुख कर देती है। किसी प्रकार के झंझट में पड़ने से जो लोग जी चुराते हैं, वे चाहे 'हरे राम हरे राम' कह कर कितने ही आँसू क्यों न बहावें, चाहे कितने ही भावोन्माद के लक्षण क्यों न प्रगट करें, किन्तु उनकी इस क्रिया के लिए प्रेम शब्द वाच्य नहीं हो सकता। यह तो केवल भक्ति का आभास है। साधनसिद्धि भक्त कबीर ने ठीक ही कहा है—'प्रेम प्रेम सब कोइ कहैं प्रेम न जानै कोय।' प्रेमी को पहले अपने प्रेमास्पद के चरणों पर अपना शीश काट कर चढ़ा देना होगा, तभी वह प्रेमी हो सकेगा। प्रेम किसी वृक्ष का फल नहीं जो हाथ बढ़ाते ही तोड़ा जा सके। भक्त जो होंगे वे सरल, वीर्यवान् एवं सभी कर्मों में दक्ष होंगे* और जिन्हें सभी प्राणियों पर समदर्शिता रखनी है और सभी प्राणियों के लिये जो आश्रय होंगे उन्हें निर्बोध (जड़) होने से काम न चलेगा, ऐसे लोग कर्म की अवज्ञा करके जड़वत् होकर चुपचाप कभी बैठ भी नहीं सकेंगे। सुख दु:ख से परे एवं सभी प्रकार के कर्मा कर्मों से बहिर्भूत, जीवन्मुक्त पुरुष भी लोक रक्षा के लिए कर्म किया ही करते

---

*गीता में भक्ता के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं —

सन्तुष्ट सतत योगी यतात्मा दृढनिश्चय ।
मय्यर्पित मनो बुद्धियों मे भक्त समे प्रिय ॥
अद्वेष्टा सर्व भूताना मैत्र करुण एव च ।
निर्ममो निरहकार समदुख सुख क्षमी ॥
अनपेक्ष शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्त समे प्रिय ॥
तुल्य निन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेत स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर ॥

हैं। इसीलिए देखो जाता है कि अरण्यवासी, प्रतिग्रह हीन, योगैश्वर्य युक्त, मुक्त महात्मा गण भी समय-समय पर इस विचित्र कर्म की रंगभूमि वाले संसार के मञ्च पर खड़े होने के लिए वाध्य हो जाते हैं। लाभालाभ में आसक्ति न रहने पर भी वे लोग 'बहुजन हिताय' कर्म किया करते हैं। नहीं तो लोक रक्षा और समाज रक्षा हो नहीं सकती। भक्तशिरोमणि प्रह्लाद से जब असुर बालकों ने प्रश्न किया कि—'भक्ति का लक्षण और भगवद् भजन क्या है?' तो उन्हों ने उत्तर दिया—

"सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत समत्वमाराधन मच्युतस्य।"

हे दैत्यों! तुम लोग समत्व का व्यवहार करो। अर्थात् सबको समानभाव से देखना सीखो, किसी से द्वेष या हिंसा न करो। क्योंकि यही समता का भाव भगवान् की उपासना है। यह समता का भाव अथवा एकता की उपलब्धि, और सभी में समान दृष्टि रखना बिना कर्मयोग के नहीं हो सकता। यही आगे चलकर विश्वप्रेम या भगवत् प्रेम का रूप धारण करता है। पर्याप्त साधना करलेने के उपरान्त इस अवस्था की उपलब्धि होती है। भक्त को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। जो स्वयं बलवान् होगा, वही दुर्बल के अत्याचार को सहन कर सकेगा। जो स्वयं बल हीन होगा वह किसी प्रकार के उत्पीड़न को सहन नहीं कर सकेगा। जो संसार के या सांसारिक जीवों की हित चिन्ता के निमित्त चलेगा उसे संसार रूपी हिरण्य कशिपु का अत्याचार सहन करना ही पड़ेगा। इसीलिए जो साधक शिरोमणि हुए हैं और जिन्होंने संसार की

भक्तों का पर पीडन सहन

शुभकामना की है, उन्होंने संसार के सारे अपमान और अत्याचार को अपने सिर का मकुट बना लिया है। यदि ऐसा न होता तो संसार की मंगलकामना एक प्रकार से असम्भव हो जाती। सॉक्रेटिस ने जिन लोगों के अज्ञानान्धकार को दूर करना चाहा था, उन लोगों ने ही उसे विष पान कराकर मार डाला! जिसने सांसारिक प्राणियों के दुःख से दुःखी होकर सत्य और धर्म का प्रकाश फैलाना चाहा, उसी महात्मा यीशू को उसी के देश वासियों ने क्रूस में ठोंक कर उसकी हत्या कर डाली! आपके ही भारतवर्ष के धर्मराज कहलाने वाले राजा युधिष्ठिर को जो कि धर्मात्मा दृढ़संकल्प, मनुष्यों के श्रेष्ठतम आदर्श थे, धर्म के लिए कितने कष्ट और कितनी लाञ्छनाओं को सहना पड़ा! हमारी जगत्पूज्या, प्रसिद्ध साध्वी श्री सीता जी के प्रति मनुष्य समाज और मूर्ख प्रजा नें कैसे २ आक्षेप आरोपित किये। जिसके कारण भगवान् रामचन्द्र ने क्या क्या कष्ट न सहा? ध्रुव और प्रह्लाद ने स्वयं अपने निकटतम स्वजनों द्वारा कितने अशेष कष्ट सहे! महामुनि दधीचि ने परहित के लिए शरीर का ही दान कर दिया! भक्त हरिदास और भक्त कबीर ने क्या-क्या कष्ट नहीं सहा? इन सभी आदर्श पुरुषों ने सभी कुछ अत्याचार सह कर भी एक दिन के लिये भी उन्होंने अत्याचारियों का अहित न चाहा। क्योंकि उनका हृदय तो भगवान् प्रेम से ओत-प्रोत था।

मङ्गलमय आकाश अमङ्गल रूपी कुहरे से ढँक जाया करता है। जो श्रद्धाशील भक्त अपने पौरुष द्वारा इस कुहरे को हटा सकेंगे वे ही (अपने हृदयरूपी) निर्मल आकाश स्थित प्रस्फुटित उज्ज्वल कमल पुष्प के समान शरच्चन्द्र की चन्द्रिका से प्रकाशित मङ्गल लक्ष्मी के शुभ्र चन्द्रानन के

दर्शन कर सकेंगे और धन्य होंगे। परन्तु यह मार्ग सदा से विघ्नों से भरा और कण्टकमय रहा है।' इस मार्ग पर चलने वालों को पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं और लहु-लोहान होना पड़ता है। यह है, प्रेम की गली। प्रेम का पथ कहीं भी सुगम नहीं होता, जिससे कि प्रेमी का क्लेश निवारण हो सके। प्रेम ही प्रेम का पुरस्कार और पथ प्रदर्शक है। जो लोग इसे 'क्रय-विक्रय' की वस्तु समझते हैं, वे इस पथ के पथिक नहीं हो सकते। वे अव्यवसायी हैं। इसीलिए श्री चैतन्यदेव के 'तृणादपि सुनीचेन' आदि वैष्णव लक्षण वाक्य दुर्बलों का आश्रय लेकर नहीं टिक सकते। विषय-भोग को लात मार कर, सांसारिक पद-मर्यादा, मान-प्रतिष्ठा आदि को पैरों के तले रौंद कर, उस विश्वकल्याण साधन में अपनी सारी इन्द्रियों की वासनाओं का होम कौन करे? जो इसकी तनिक भी परवाह नहीं करते कि उस ओर उनके इस विराट आत्म त्याग की और दिवारात के आलस्य रहित उद्यम की किसी ने सराहना की या नहीं? किसी ने देखा या नहीं? ऐसे वीर पुरुष वे ही हैं जो सच्चे प्रेम और ज्ञान के बल से ही बलवान् हैं, जो लोग त्रैलोक्य को शरण देने वाले भगवान् के अभय चरण कमल का अनन्य सहारा पाकर वीत शोक हो चुके हैं, जिनकी जीवनकली सुमधुर विकसित हो चुकी है जो विपत्ति और मृत्यु के संघात में भी निर्वात् एवं निष्कम्प प्रदीप के समान अचल और स्थिर रह सके हैं, जो उस 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' मूर्ति के भीतर भी उस परमात्मा की करुणामयी शीतल मोहनी मुखछवि को निरख कर आनन्द से निश्चिन्त रह सके हैं, वे ही सच्चे भक्त हैं—और वेही सच्चे कर्मयोगी हैं। जीवन और मृत्यु उनके चरणों के दास और दासी हैं, और चित्त भावना रहित है।

चरण कमलों का जो परित्याग नहीं कर सकता, उसे सच्चा भक्त समझना चाहिए, और उसे ही यथार्थ प्रेमी समझना चाहिए। अति कठोर साधना और अनेक जन्मों की कठिन तपस्या के फल स्वरूप मनुष्य का ऐसा भाग्योदय हुआ करता है। जो लोग यह कहते हैं कि 'प्रेम का पन्थ अति सरल है, कुछ करना नहीं पड़ता केवल उसके माधुर्य्य रस के सम्भोग से मत्त होने का आनन्द लिया करे, निश्चय समझिए कि वे प्रेमी नहीं प्रत्युत वञ्चक हैं। विश्व के नाथ, समस्त प्राणियों के प्राण प्यारे श्रीकृष्ण का सेवक बनना क्या कम सौभाग्य का विषय है ? अन्धकार में भटकते हुए दुर्बल मनुष्य क्या उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं ? व्रज गोपियों के प्रेम की परछाईं को भी छूने की उनमें शक्ति कहाँ ? *भक्त के संग भगवान् जो ऊटपटांग खेल खेला* करते हैं, उसमें उनके सच्चे भक्त ही खरे उतर सकते हैं। जो स्त्री सच्ची सती है, वही पति के दैनिक भखरे और अत्याचारों को सहन कर सकती है। जो केवल विलासिनी है वे सीधे अपने सौभाग्य का तिरस्कार कर चल खड़ी होती हैं। सच्ची पतिव्रता भक्तिमती साध्वी के मुख से ही यह वाणी निकल सकती है :—

"उपपत्ति तोमार नहि ताई तो भूलाव नाको।
मिथ्या सुखे मिथ्या माने दूरे फेलाव नाको॥
पतिव्रता सती आमी ताई तो तोमार घरे।
हे भिखारी सब दारिद्र्य अमार सेवा करे॥
तोमार सुखेर भृत्य नहि (ताई) चाई ना सुखेर दान।
आमि तोमार प्रेमेर पत्नी एई तो अमार मान॥
कुण्ठा विना सकल दुःख दिच्छ आमाय दान।
वञ्चित करो ना प्रभु! एई तो आमार मान॥

भक्त दुःख और शोक में भी भगवान् का दर्शन करके शान्त रहता है। भक्त कहता है:—'हे प्रभो! तुम दुःख का भेष धारण करके आए हो तो क्या मैं तुमसे डर जाऊँगा? जहाँ भी पीड़ा या कष्ट की प्रतीति होने लगेगी वहीं तुम्हें बल-पूर्वक पकड़ लूँगा। हे प्रभो! हे मेरे स्वामी! अँधेरे में मुँह छिपाकर भी क्या मुझसे छिप जाओगे? हे प्रभो! मृत्यु के रूप में आने पर भी आपके चरणों को पकड़े हुए ही मरूँगा।*

इस प्रकार जो अपनी आत्मा को भगवान् के सम्मुख नैवेद्य रूप में चढ़ा सकेगा—वही सच्चा ज्ञानी और भक्त कहलाएगा। वेदों की यह अविनाशी वाणी निरन्तर हमारे हृदयों में निनादित होती रहेगी। "नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः" 'दुर्बल व्यक्ति इस आत्मा को नहीं पा सकता।' इसलिए भक्त होना कोई मौखिक बात नहीं। आँखों से दो बूँदे आंसुओं का टपका देना ही पर्याप्त नहीं, भक्त को अग्नि परीक्षा देनी पड़ती है। हरिदास के समान बत्तीस बाजारों में बेतों की मार सहनी पड़ती है। प्रह्लाद के समान नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। यीशु क्राइष्ट के समान क्रास पर कीलें ठोकवाना पड़ता है। कबीर के समान लांछित और अपमानित भी होना पड़ता है। इतना होने पर भी, सुरासुर सेवित विश्व वन्दित-

दुर्बल चित्त वाले भक्ति और ज्ञान लाभ में अयोग्य होते हैं।

*मूल कविता बंगला की इस प्रकार है:—

'दुखेर वेशे एसेछ बले' तोमारे नाहि डरिब हे।
ये खाने व्यथा तो मारे सेथा निविड करे धरिब हे।
आँधारे मूख ढाकिले, स्वामि, तोमारे तबू चिनिब आमि।
मरन रूपे आसिले प्रभु, चरन-धरि मरिबे हे।

चरण कमलों का जो परित्याग नहीं कर सकता, उसे सच्चा भक्त समझना चाहिए, और उसे ही यथार्थ प्रेमी समझना चाहिए। अति कठोर साधना और अनेक जन्मों की कठिन तपस्या के फल स्वरूप मनुष्य का ऐसा भाग्योदय हुआ करता है। जो लोग यह कहते हैं कि 'प्रेम का पन्थ अति सरल है, कुछ करना नहीं पड़ता केवल उसके माधुर्य्य रस के सम्भोग से मत्त होने का आनन्द लिया करे, निश्चय समझिए कि वे प्रेमी नहीं प्रत्युत वञ्चक हैं। विश्व के नाथ, समस्त प्राणियों के प्राण प्यारे श्रीकृष्ण का सेवक बनना क्या कम सौभाग्य का विषय है? अन्धकार में भटकते हुए दुर्बल मनुष्य क्या उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं? ब्रज गोपियों के प्रेम की परछाईं को भी छूने की उनमें शक्ति कहाँ? भक्त के संग भगवान् जो ऊटपटांग खेल खेला करते हैं, उसमें उनके सच्चे भक्त ही खरे उतर सकते हैं। जो स्त्री सच्ची सती है, वही पति के दैनिक नखरे और अत्याचारों को सहन कर सकती है। जो केवल विलासिनी है वे सीधे अपने सौभाग्य का तिरस्कार कर चल खड़ी होती हैं। सच्ची पतिव्रता भक्तिमती साध्वी के मुख से ही यह वाणी निकल सकती है:—

"उपपत्ति तोमार नहि ताई तो भूलाव नाको।
मिथ्या सुखे मिथ्या माने दूरे फेलाव नाको॥
पतिव्रता सती आमी ताई तो तोमार घरे।
हे भिखारी सब दारिद्र्य अमार सेवा करे॥
तोमार सुखेर भृत्य नहि (नाई) चाई ना सुखेर दान।
आमि तोमार प्रेमेर पत्नी एई तो अमार मान॥
कुण्ठा विना सकल दुःख दिच्छ आमाय दान।
वञ्चित करो ना प्रभु! एई तो आमार मान॥

संसार का सारा भार भक्तों के ही कंधे पर रहता है और वे भक्ति के बल पर ही यह बोझ उठा सकते हैं। निपट चतुरता से यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सकता। लोगों को धोखा देना सहज है, पर भक्ति का पाना सहज नहीं। यह देवताओं को भी सहज में न मिली। नारद जैसे भक्ताग्रगण्य को भी कठिन तपस्या करनी पड़ी। भक्त कबीर ने इस सम्बन्ध में कहा है :—

"भक्ति भेख बड़ अन्तरा, ज्यों धरती आकाश।
भक्त जो सुमिरे राम को, भेख जगत की आश॥"

जो लोग वास्तव में भक्ति के उपासक हैं वे कभी भी ज्ञान या कर्म का त्याग नहीं करते। ज्ञान और कर्म के माध्यम से ही भक्ति की पूर्णता होती है। इसीलिये प्रेमी भक्तगण अपने शरीर और मन को अपने प्राणनाथ की सेवा में लगाए रहते हैं। जो विश्व रूप से या जगत् के जीवों के रूप से नित्य ही प्रकाशित है, भक्त अपने उस इष्ट देवता को किसी एक मूर्ति से बाँधकर नहीं रक्खा करते। वे सर्वत्र अपने प्रेमी के भाव-विभोर मुख को देख-देख कर मगन हो जाया करते हैं। उस समय भक्त को जाति मान कुछ नहीं रहता। वह कह उठता है—

भक्त की आत्मविस्मृति और सर्वात्म-बोध का विकास

"आपनार नाम मोर नाहिं पड़े मने,
परान हरिल रागा नयन नाच ने।"

इस अवस्था में भक्त को सभी जीवों में उसके ही दो करुण लोचनों को देख देखकर विह्वल हो जाना पड़ता है और वह तन्मय हो जाता है। फिर इस जगत् को वह जड़

रूप से नहीं बोध कर सकता, वह उसे ब्रह्मरसपरिपूर्ण अथवा ब्रह्ममय भासमान होता है। मधुर रस से भक्त का मन, और प्राण मधुर ही मधुर हो जाता है। उस समय यह सारा नीलाकाश, पृथ्वी का कण-कण, वृक्ष-लता-पुष्पों से शोभित यह अरण्य, कानन, नदी, नद, पर्वत, मलयपवन, पवनान्दोलित सागर की तरंगें, पक्षियों का सुमधुर कलरव, झरनों आदि के जल की कलकल तान— सर्वत्र अपूर्व शोभामय उसे दिखायी पड़ने लगती है। तब भक्त को वास्तविक बोध होने लगता है:—"मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्तोषधीः मधुमत् पार्थिवं रजः।"—सभी मधुमय भासता है और सर्वत्र प्रेमानन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी जीवों में, समस्त विश्व में, भक्त उसी की पूजा करके कृतार्थ होता है। भगवान् ने कहा है:—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥"

इसीलिए भक्त सदा निर्भय रहता है, और साहस कभी भी नहीं छोड़ता। रोग, शोक, आपद्, विपद्, सम्पदा, सुख, दु ख, जीवन, मरण चाहे कुछ भी क्यों न हो उस पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। सरोवर में शोभित कमल के समान भगवान् के अरुण राग रञ्जित चरण कमल से शोभित भक्त का हृदय सरोवर निरन्तर प्रेम वायू के झकोरों से आन्दोलित होता रहता है। तब हृदय में भय या शोक आही किस प्रकार सकता है?

भक्त का अभय-पद लाभ

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन

भगवान् की कृपा के सम्बन्ध में भी लोग भ्रमात्मक धारणा किए हुए हैं। कुछ लोग कहा करते हैं—'वृथा हाथ पैर पटकने से क्या होगा, भगवान् कृपा करेंगे तो स्वयं ही सब कुछ हो जायगा। इससे तो यही समझा जायगा कि मानो भगवान् एक स्वेच्छाचारी सम्राट् विशेष हैं वे अपनी ही धुन के अनुसार कृपा करते रहते हैं। व्यक्ति विशेष के कर्म, अकर्म, योग्यता, अयोग्यता का वहाँ कुछ विचार नहीं है। उनके सम्बन्ध में ऐसी धारणा रखना बुद्धिमान आस्तिकों का लक्षण नहीं है। जो "यमः संयमतामहम्" के आधार पर साक्षात् कठोर नियम स्वरूप हैं, उनके विधान में क्या किसी प्रकार का अनियम (lawlessness) रह सकता है? वे अपने नियमों को स्वयंही कभी भङ्ग नहीं करते, और अन्य लोग भी इनको भङ्गकर छुटकारा नहीं पा सकते, चाहे वह देवता ही क्यों न हों। जब जगत् कर्ता ही अपने नियम पर अटल न रहते तो आज संसार की क्या दशा होती, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

भगवत् कृपा

संसार की नियम शृङ्खला को देखने से ही सहज में यह समझ में आ जाता है कि उनकी कृपा का कोई पारावार नहीं। उनके नियम ही उनकी अनन्त कृपा के द्योतक हैं। मानसिक निर्बलता के कारण थोड़े ही में भाव कातर होने वाले साधारण जीवों के समान उनमें भी उसी प्रकार की दया है या नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि इस प्रकार की दया को दया कहना ही भूल है। उनकी दया तो सूर्य के प्रकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है, किसी भी समय या किसी भी स्थान में उनकी इस दया की कमी नहीं है। यह

बात अलग है कि हम अपनी दुर्बलता के कारण उस दया को प्राप्त न कर सकें। जो घर का द्वार खिड़की आदि बन्द करके भीतर बैठे रहते हैं उनके यहाँ सूर्य का प्रकाश घर में घुसने नहीं पाता। उसी प्रकार जो लोग अपने मन को भगवान् में न लगाकर अनेक प्रकार के बुरे विचार और निन्दित कर्मों में लगाये हैं वे मानो अपने चारो ओर बुरी वासनाओं की एक मोटी दीवार खड़ी कर लेते हैं। वे, भगवत्कृपा की जो निरन्तर वर्षा होती रहती है, उसमें स्नान करने से अपने को वञ्चित रखते हैं। उनकी जो दशा हो जाय थोड़ी है। अच्छे अभ्यास में लग जाओ, चेष्टा करो, तपस्या करो देखो हाथों हाथ तुम्हें भगवत् कृपा मिलेगी। यदि बुरी बातों में लगोगे, तपस्या से भागोगे तो उनकी वही करुणा (कृपा) तुमको अपने असत् कर्म रूपी मेघ से ढँकी दीखेगी। इसीलिए भगवान् ने कहा है:—

"समोऽहं सर्व भूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयिते तेषु चाप्यहम्॥"

'मैं सभी प्राणियों में समान हूँ, न मेरा कोई प्यारा है न शत्रु, परन्तु जो लोग भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं, और मुझमें निमग्न रहते हैं मैं उनमें हूं और वे मुझमें हैं'—इस वाक्य की उन्हें सदा प्रतीति होती रहती है। तुम कुछ चेष्टा करोगे नहीं और अकस्मात् ध्रुव, प्रह्लाद हो जाओ—इस प्रकार की दुराशा को हृदय में स्थान भी न दो। जो कर्मी हैं, चेष्टाशील हैं, वे ही उसकी कृपा का रहस्य समझ सकते हैं। आलसी, निरुद्यमी सदा उनकी कृपा से वंचित रहता है और अपने सभी दोषों के लिये 'दैव दैव' कहकर निश्चिन्त हो जाता है। उन्हीं के लिए भगवान् ने कहा है:—

"आसुरी योनिमापन्ना
मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय
ततो यान्त्यधमां गतिम्॥"

ज्ञान और भक्तिहीन की दुर्गति

'हे कौन्तेय! मूढ़ लोग प्रत्येक योनि में आसुरी भाव को प्राप्त होते रहते हैं और मुझे न प्राप्त कर अधम गति ही को प्राप्त होते हैं।'

यह पहले ही बता दिया गया है कि प्रेम और ज्ञान के सुन्दर पुष्प हमारे हृदय में अस्फुट अवस्था में (in latent energies) सदा विद्यमान रहते हैं। उन का विकास करना होगा। शक्ति के इस विकास को ही कर्म कहते हैं। इसके विपरीत सब अकर्म हैं। पुनः यही कर्म निष्काम होना चाहिए। हमारे भीतर की जब सारी शक्तियों का विकास हो जाय, समस्त वृत्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित होकर परस्पर किसी शक्ति से किसी का विरोध न रहे और जब वह दूसरों की सेवा में लगा दी जाय* तभी वह कर्म निष्काम-कर्म कहा जायगा। भगवान् का अभिप्राय इसी निष्काम कर्म से है। जप, तप, नियमादि अनुष्ठान करते-करते, सद्विद्या और ज्ञान की आलोचना करते-करते मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है और अज्ञानान्धकार दूर होता है। पर केवल अपने अन्तःकरण का ही अन्धकार मिटाने से काम न

* ऋषि लोग संसार के उपकार के लिए ही यज्ञ किया करते थे। मन्त्र पढ़कर वे अग्नि में जो पवित्र हवि डालते थे, वह सूक्ष्म होकर पहले सूर्य लोक में जाता था, फिर वहाँ से जल होकर पृथ्वी पर बरसता था। इससे अन्न और प्रजा की उत्पत्ति होती थी। यही हुआ परार्थ-कर्म।

चलेगा, हमारी उपार्जित विद्या जब दूसरों के अविद्या तमस् को दूर कर सकेगी—तभी उस विद्या की सम्यक् सार्थकता होगी। हमें अपने धन की सार्थकता भी उसी प्रकार करनी चाहिये। हमारा परिश्रम से उपार्जित अर्थ दूसरों की आवश्यकता पूर्ति में नियुक्ति रह कर अर्थ को "अनर्थ" अपयश से मुक्ति प्रदान करेगा। यह शरीर भी दूसरों के कल्याणार्थ नियुक्त रहेगा, इसके लिए किसी तरह का आलस्य या क्लेश अनुभव न करेगा। क्योंकि यह "मैं" केवल मेरा यह शरीर ही नहीं है। यह "मैं" अखण्ड मण्डलाकार में, विश्वभुवन में परिव्याप्त हो रहा है इस सर्वव्यापी वृहत् "अहं" को स्वीकार न करने से किसी को भी स्वीकार करना नहीं होता। इस लिए समस्त जगत् में, समस्त जीवों में अपने को उपलब्ध करने का उपदेश शास्त्र में पुनः पुनः कहा गया है।

केवल प्रतिमा पूजा द्वारा ही भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

श्री मद्‌भागवत में भगवान् कहते हैं;—"सभी प्राणियों में मेरी भावना करना, धैर्य और वैराग्य, महद्व्यक्तियों के प्रति बहुमान प्रदर्शन, दीनों के प्रति अनुकम्पा, अपने समान लोगों के साथ मैत्री, यम और नियम, अध्यात्मिक शास्त्रों का श्रवण, नामसङ्कीर्त्तन, सरलभाव, आर्यसङ्ग, निरहङ्कार—इन सब गुणों से परिशोभित होकर जो पुरुष भगवद्धर्म का अनुष्ठान करते हैं—उनका चित्त अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है। मैं सब भूतों में ही आत्म-

रूप से अवस्थित हूँ, जो व्यक्ति उस भूत की अवज्ञा करता है, तथापि प्रतिमादि द्वारा मेरी अर्चना करता है—उसकी अर्चना व्यर्थ विडम्बना है। सर्वभूतों में आत्मरूप में अवस्थित मुझे ईश्वर न समझ कर मूढ़ता वश जो प्रतिमा की अर्चना करता है—वह केवल भस्म में ही घी डालता है। मानगर्वित, भिन्नदर्शी, जो व्यक्ति दूसरे के शरीर पर द्वेष रखता है, भूतों के प्रति वैर भावरखता है, वह व्यक्ति शान्ति-लाभ नहीं कर सकता। यदि कोई भूतग्राम की अवमानना करके मूल्यवान् द्रव्यों से मेरी प्रतिमा की अर्चना करता है—उस अर्चना से मैं परितुष्ट नहीं होता।"

"इस प्रकार सत्यभाव से अपने को और परमात्मा को जान सकना ही जीवन की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता है। नहीं तो "मृत्युः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।"

भावों का विकाश और परार्थ का उत्सर्ग ही निष्काम कर्म का प्राण है और यही कर्म का निगूढ़ रहस्य है। कर्म को इस प्रकार देखने की शिक्षा न पाने से शान्ति प्राप्त नहीं होती। विधिवत् कर्मों का अनुष्ठान न होने से दैवशक्ति परिवर्द्धित न हो कर आसुरी शक्ति परिपुष्ट होती है। इस लिए सारा परिश्रम ही निरर्थक हो जाता है।

स्वाभाविक कर्म क्या है?

इच्छा से हो, अनिच्छा से हो, सभी को यह 'कर्म' करना ही पड़ेगा। यूरोपीयों ने इस कर्म की साधना प्रारम्भ कर दी है—इसीसे उन लोगों की इतनी उन्नति है। केवल आर्थिक उन्नति नहीं, मानसिक उन्नति भी उन लोगों की यथेष्ट हो रही है। इसी कारण हम देखते हैं कि उन लोगों में करोड़पति धनवान यदि निःसन्तान होते हैं, तो भी वे

पोष्य पुत्र ग्रहण * नहीं करते। वे अपनी धनराशि जीवों के मङ्गलार्थ,—या तो धर्म प्रचार के लिए, अथवा ज्ञानोन्नति की सहायता के निमित्त या दुःख-दारिद्र्य दूर करने या पीड़ितों की सेवा के लिए—उत्सर्ग कर जाते हैं। और हमारे देश के धनवानों का अर्थ अधिकांश मात्रा में "न देवाय न धर्माय"—केवल "भूत भोजन में" खर्च होता है। प्राण रहते हम जो यह परार्थ में त्याग नहीं कर सकते, यह हम लोगों की आध्यात्मिक दुर्बलता और धर्म के प्रति अनास्था का फल है। यह हमारे निजकृत दुष्कृत का परिणाम है—यह अदृष्ट नहीं है!

जीवन को भगवद् मुखी करना मनुष्य की इच्छा के अधीन है।

अपने को आप ही विकसित कर देना और इस जीवन को भगवान् के कर्मों के योग्य बनालेना पूर्णरूप से मानव की इच्छा के अधीन है। मानव की इच्छा के अधीन जो मैं ने कहा इसका कारण है। यदि तुम अपने हाथ को किसी तरह का कर्म करने न दोगे तो उस

---

* हमारे शास्त्रो में दत्तक ग्रहण करने की विधियां है। इस दत्तक ग्रहण का प्रधान उद्देश्य उसको विषय (धन सम्पत्ति) का अधिकारी बना देना नही है। वंश का अनुष्ठित कर्म और विशेष साधना का प्रवाह विलुप्त न होने पावे और पूर्व पितामहो के जलपिण्डादि अक्षुण्ण रहेंगे इसी के लिए यह व्यवस्था है। किन्तु हाय! वह दिन चला गया है। अब तो औरसजात सन्तान ही अपने पूर्व पुरुषो को जलपिण्ड कब देते है—फिर पोष्य पुत्र! कोई कह सकते है कि आज कल विश्वास नष्ट हो चुका है—इसीलिए जलपिण्डदानादि अब कोई करना नही चाहता। अच्छी बात है—विश्वास के अनुसार काम करते जाओ। किन्तु पोष्य पुत्र लेना क्यो? धन सम्पत्ति रहे, तो देवसेवाय या 'बहुजनहिताय' किसी कर्म के लिए त्याग कर सकते हो—इससे कोई कुसंस्कार स्पर्श न करेगा।

भिनय उपस्थित हो सकता है। इनमें अग्नि का दोष या
ण नहीं है। अग्नि शक्तिमय है—व्यवहार करने वाले के
ण से या दोष से अग्नि की शान्त या प्रलय मूर्ति का प्रकाश
ता रहता है। मनुष्य जीवन भी ठीक उसी अग्नि के
मान है—ठीक मार्ग से चलाओ—इस मनुष्य जीवन में ही
र्ग की शोभा देख कर मुग्ध हो जाओगे। कुमार्ग में
लाओ जीवन दुर्गन्ध घृणामय हो जायगा। प्राणों में
नरक का अन्धकार छाया रहेगा। तुम
स्वयं ही अपनी बातें सोच कर सिहर
उठोगे। सम्भवतः तुम इसको भी भाग्य
ही मान लोगे। मैं कहता हूँ इसे तुम
भाग्य या अदृष्ट कहना चाहो तो कहो, किन्तु इस अदृष्ट
ा कर्त्ता और कोई नहीं है, तुम स्वयं ही हो। अवश्य ही
जो कोई मनुष्य अनायास ही अच्छा बन सकता है,
वभावतः ही मङ्गल के मार्ग से चलाता है; दूसरा कोई
सी तरह सहज ही में बुरा हो जाता है, स्वभावतः ही
अमङ्गल के पथ से चलने की उसकी प्रवृत्ति होती है—इसका
कारण क्या पूर्वापर परम्परा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं
? यह क्या पूर्णतः आकस्मिक घटना है? अवश्य ही
यह बात नहीं है। जो लोग जन्मान्तर स्वीकार करते हैं
वे लोग इसको पूर्वजन्म का फल मानेंगे; और जो लोग पूर्व
जन्म स्वीकार नहीं करते वे लोग भी इसको आकस्मिक नहीं
कह सकते। कारण यह जो मेरा वर्तमान "मैं" है, यह मेरी
अतीत चिन्ताओं, संसर्गों और कर्मों का फलमात्र है। यह
सिद्धान्त उन लोगों के लिये भी अखण्डनीय है। हम सभी
यह जानते हैं कि यदि किसी को बाल्यकाल से साधु
समाज, सत्सङ्ग और सत् वातावरण (Environments)

अपने भाग्य का निर्माता स्वयं ही मनुष्य स्वयं है।

में रख कर उसकी सत्‌शिक्षा की व्यवस्था कर दी जाय, तो स्वभावतः ही उस बालक की प्रवृत्ति भविष्य काल में कल्याण की तरफ प्रवाहित हो जाती है। फिर स्वभावतः साधु, सच्चरित्र शान्त और तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न होकर भी यदि उसका असाधु समाज और असत् संसर्ग में वास हो, तो उसकी तीक्ष्ण प्रतिभा और स्वभावसिद्ध बुद्धि कुछ भी उस को कल्याण के पथ में नहीं ले जा सकता। अनेक देशी और विदेशी श्रेष्ठ और निकृष्ट व्यक्तियों की जीवनी पर्यालोचना करने से इसकी यथार्थता प्रतिपादित हो जायगी। कभी कभी, इस नियम का व्यभिचार भी दिखाई पड़ता है यह सच है, जैसे हिरण्यकश्यपु के पुत्र प्रह्लाद—किन्तु इसी के लिए इसे नियम नहीं कहा जा सकता, वरन् नियम का व्यतिक्रम कहा जा सकता है। अवश्य ही इस व्यतिक्रम के मूल में भी भगवान् का कोई विशेष नियम कार्य करता है, यद्यपि हम लोग उसे जानते नहीं हैं। इसलिए, कोई जन्मान्तर मानें या न मानें, कर्म फल मानना ही पड़ेगा। कर्म ही हमारी शुभाशुभ गति का व्यवस्थापक और नियन्ता है इस बात को अस्वीकार करने का उपाय नहीं है। इसलिए यह बात इहलोक और परलोक दोनों दृष्टियों से ही उपयुक्त है। यदि यही बात है तो आदि से अन्त तक हमें यही चेष्टा करनी पड़ेगी कि जिससे हमारे कर्म "शुभकर्म हों" और "अकर्म" न हों; और चेष्टा न करने से भी निष्कृति पाने की कोई सम्भावना नहीं है। पुरुषकार द्वारा दुर्भाग्य को सौभाग्य में परिणत किया जा सकता है—ऐसा न करके जो मूढ़ सहस्र दुर्गतियाँ सहता है और उसके लिए अपने भाग्य को ही धिक्कार देता है—प्रतिकार की कोई चेष्टा नहीं करता, ज्ञानियों के शिरोमणि वशिष्टदेव ने उन "क्षीण कर्म क्षीण पुण्य

उत्साह उद्यम शून्य पुरुषों की तुलना गधों के साथ की है।

बहुधा देखा जाता है कि अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा समझने का ज्ञान रहते हुए भी, बहुत से लोग शुभ के बदले में अशुभ को, कल्याण की जगह पर अकल्याण को वरण करने को बाध्य होते हैं। ऐसा क्यों होता है? क्यों ये लोग इस जड़ता पङ्क से अपने को उद्धार करने में पुनः पुनः असफल होते हैं? बहुत सुचिन्तित और खूब सुविचारित विषयों में भी प्रमाद आकर उपस्थित हो जाता है, कोई मानों हमें बल पूर्वक विह्वल बनाकर दुष्कर्मों में आसक्त कर देता है। इसीलिए अर्जुन की भाँति महापुरुष के मुँह से भी यह कातरोक्ति उत्थित हुई है—"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥" जीवों के ये मर्मभेदी कातर क्रन्दन वास्तव में ही हमारे प्राणों को अवसन्न कर देते हैं। प्रवृत्ति यदि बल-पूर्वक मुझे असत् कर्मों में नियुक्त कर दे और मुझे भी उसको बाधा देने की शक्ति न रहे तो जीवन दुस्सह बोझ की तरह कष्टदायक हो जाता है। तो चेष्टा चरित्र क्या सभी व्यर्थ हैं सब ही का निरर्थक परिश्रम ही है? शृङ्खला बद्ध व्याघ्र जैसे निष्फल प्राप्ति की विफल चेष्टा के परिश्रम से क्लान्त होकर केवल मुंह से फेन ही उगिलता रहता है, हमारी सभी चेष्टाएं भी क्या उसी प्रकार दुराशा की व्यर्थता से परि-समाप्त हो जाती हैं? इतने बड़े मानव-जीवन का क्या यही परिणाम है? सोचने से हृत्कम्प उपस्थित हो जाता है। नहीं, ऐसी बात नहीं है—यह कभी सम्भव नहीं है। शास्त्र-वक्ता ऋषिगण भ्रान्त नहीं हैं। उन लोगों ने जीवों की अमृत प्राप्ति की बातों का पुनः पुनः उल्लेख किया है। "एषोऽस्य परमः सम्पद् एषास्य परमा गति":—ये ही जीवों

की परम-सम्पद् हैं, वे ही जीवों की परमा गति है।" उनको प्राप्त करके ही मानवात्मा पूर्णता प्राप्त करता है। ईसाई लोग मानवात्मा को जिस तरह 'अपूर्ण' कहते हैं मानवात्मा उस रीति से 'अपूर्ण नहीं है; बीजनिहित वृक्ष की भाँति अपूर्ण के बीच ही पूर्ण परमात्मा विराज रहे हैं—इसलिए जीव अपूर्ण होगा किस तरह ?* बाह्य दृष्टि से मानव की जो अपूर्णता प्रतीत होती है, वह विचार विभ्रम मात्र है। भ्रम शून्य होकर संस्कार (आवर्जना) वर्जित होकर देखने से—यह फिर अपूर्ण या अपवित्र न जान पड़ेगा। जल मलयुक्त जान पड़ता है, लवणाक्त ज्ञात होता है, किन्तु मल और लवण को निकाल देने से जो विशुद्ध जल है वही विशुद्ध जल ही रह जाता है। इस कारण से यह सम्भव हुआ है कि यह शोक-मोह-युक्त मानवात्मा ही किसी दिन परमात्मा में जाकर अवसान लाभ करेगा। अमल में समल, गुणोत्तम में गुणहीन, कभी सम्मिलित नहीं हो सकता। वे परस्पर के कभी सखा नहीं हो सकते। परन्तु आदि में दोनों ही एक वस्तु हैं, इसीलिए इस सुदीर्घ जीवन-यात्रा का एक मात्र उद्देश्य है, उसी परम बन्धु, जीवन मरण के सखा, परमात्मीय परमात्मा का सहवास लाभ करना। यही है यथार्थ ब्रह्मानन्द—यही है अनन्त आत्म विसर्जन। भूमानन्द के बीच इस प्रकार निमज्जित हो जाना ही, इस सुचिर जीवन-यात्रा का एक मात्र अमृतमय अवसान है। इसलिए निराश हो जाने से काम न चलेगा। पौरुष के प्रभाव से, अभ्यास की सहायता से अपने को अपने कल्याणपथ में अटल प्रतिष्ठ बना देना होगा।

* इस सम्बन्ध में अंग्रेज कवि की एक सुन्दर कविता है—
"A dim miniature of the Greatness Absolute.
A frail child of dust.
A worm a God."

हम लोग प्रवृत्तियों द्वारा 'बलादिव नियोजित' हो जाते हैं अवश्य, किन्तु यह दोष किसका है ? हम लोग प्रवृत्तियों का दासत्व करना पसन्द करते हैं इसीलिये आज वे हमारी गरदनों पर चढ़ कर बैठी हुई है, उतरने का नाम तक भी नहीं लेती—अब हाय ! हाय ! करने से क्या होगा ? प्रवृत्तियों को प्रश्रय तो हम लोग ही देते आये हे। कितने ही जन्म इस प्रकार बीत चुके हैं—अब वे हमलोगों से बल पूर्वक दासत्व का दावा करती हैं। किन्तु ऐसा दावा भी वे कब तक कर सकती है ? जब तक हम अपने सखा के भवन में जाने का दृढ़ सकल्प नहीं करते हे। माथे पर भारी बोझ लदा है, बहुत दूर तक हम कुमार्ग में चले आये हैं ; तो भी "कहाँ मार्ग है" कह कर चिन्ता में पड़ जाने की जरूरत नहीं है। उनको ढूँढ निकालने के लिए निकल पड़ने से ही राह देख पाओगे। व्याकुल अन्त.करण से "कहाँ हो तुम" कह कर पुकारने से ही उनका पाञ्चजन्य-शङ्ख-निनाद सुन पाओगे। ऐसा बन्धु भी और कोई नहीं, इतना सन्निकटस्थ भी और कोई नहीं है। जबही जो पुकारता है, तभी वह उनका उत्तर पा जाता है। पापी होने के कारण वे घृणा नहीं रखते, पहले पुकारा नहीं है इसके लिए अपराध ग्रहण नहीं करते—पुकारने पर तुरन्त ही आ जाते हे। किन्तु यह पुकारना ही बहुत कठिन हे। उनको पा लेना कठिन नहीं है, उनको चाहना ही बड़ा कठिन है। जीव कितने ही दिनों से कितनी ही चेष्टाएँ करता रहता हे, तो भी उनको पुकारने योग्य चाहने योग्य अवसर ही निकाल नहीं सकता। तो भी यह सच है कि इस प्रवृत्ति के साथ लड़ाई करते करते ही एक दिन ऐसा शुभ क्षण आ जाता है कि, हमारी अज्ञातावस्था में, हमारी अनिच्छा के रहते भी उनकी शुभ्र ज्योति

हमारे हृदय-मन को प्लावित करके एक दिव्यधाम का द्वार उद्घाटित कर देती है, तब मन-प्राण अनन्त की तरफ भागते हुए दौड़ जाते हैं। इसीलिए कह रहा हूँ कि अभ्यास त्याग कर देने से काम न चलेगा। अभ्यास के प्रदीप को प्रतिक्षण बराबर प्रज्वलित रखना होगा। अपने चिरन्तन कुअभ्यासों और कुसंस्कारों के ऊपर उठ जाना होगा। इसीलिए भक्त कवि ने कहा है—

"हरि से लागि रहो रे भाई, तेरी बनत बनत बन जाई।"
'सदा सर्वदा लगे रहो, लगते लगते एक दिन ठीक तौर से लग जाओगे।'

चित्त क्यों प्रवृत्तियों से परिचालित होता है और प्रवृत्ति-परिचालित चित्त को जिस रीति से पुनः स्ववश में लाया जाता है, उसका उपाय बता रहा हूँ, भगवान् ने अर्जुन को जो उपाय बताया है उस बात को पीछे बताऊँगा।

प्रधान उपाय है विचार पूर्वक लक्ष्य को स्थिर कर लेना। बाद को विचार और चेष्टा द्वारा लक्ष्य की तरफ पहुंचने की चेष्टा करना। पहले अच्छी तरह अपना हृदय अनुसन्धान करके देखो तुम 'उनको चाहते हो या नहीं?' यदि उनको चाहना ठीक हो तो उनको पाने में जितने प्रतिबन्धक हैं उन्हें भलीभाँति समझ बूझ कर देखने की आवश्यकता है। साधु-महात्माओं के उपदेश, शास्त्रचिन्तन, और आत्मचिन्तन के प्रभाव से, जो बात समझ में आ जाय, उसको धारण करना आवश्यक है—इस प्रकार धारणावशीकृत चित्त से लक्ष्य विषय में स्थिति प्राप्त हो जाती है और तब सभी 'अनर्थों की (विषयेच्छा, भोगेच्छा) उपशान्ति हो जाती है। नहीं तो केवल वाक्यों का पण्डित बना रहा, 'कार्य

कुछ भी नहीं किया, इससे किसी तरह भी दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में प्रथम उपदेश यह है—"ये हि संस्पर्शजाभोगा दुःख योनय एव ते"—इन्द्रिय और विषयजनित जो सब भोग सुख हैं—वे ही असीम दुःख के कारण हैं यह मान कर मनमें दृढ़ धारणा करो, क्योंकि विषयादिजनित जो सुख हैं—वे चिरस्थायी नहीं हैं, अत्यल्प समय में ही उनमें से दुःख की आग धाँय धाँय करके जल उठती है—उनका परिणाम इस प्रकार निश्चित जान कर ही "न तेषु रमते बुधः"—विवेकी उनमें आसक्त नहीं होते। यही एक प्रधान बात है। उसके बाद भगवान् का एक और उपदेश याद रखना पड़ेगा—

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्नवशमागच्छेत्तौह्यस्य परिपन्थिनौ ॥"

प्रत्येक इन्द्रिय का अपने अपने अनुकूल विषयों पर लोभ और प्रतिकूल विषयों पर "द्वेष" अर्थात् विराग रहना अवश्यम्भावी है। तो उपाय क्या है? "तयोर्नवशमागच्छेत्"—विषयों का स्मरण होने के कारण रागद्वेष उपस्थित हो जाने पर भी, उनके द्वारा परिचालित न होना। विषय-लोभ दूर न होने से शान्ति नहीं प्राप्त होती, इसलिए विषयों पर दोष-दृष्टि रहना उचित है। इन्द्रिय-संयम के बिना स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति नहीं होती। फिर भी जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक विषयों के प्रति आसक्ति भी पूर्ण रूप से दूर नहीं होती, यथार्थ विवेक उत्पन्न नहीं होता, किन्तु विचारशील और आत्मध्यान-परायण होने से ही बुद्धि आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाती है और इन्द्रिय-विषयों पर अनासक्त रहने के कारण स्थितप्रज्ञ की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार जीवन कृतार्थ

हो जाता है। अतः मोक्ष के विभिन्न यत्नवान विवेकी पुरुषों को भी, इन्द्रियाँ बलपूर्वक विषय-भोग में निरत कर देती हैं, और इन्द्रियाँ भी प्रमाथी लोभी और दृढ़ हैं, अतः योग-लाभेच्छु व्यक्तियों को उन सभी इन्द्रियों को संयमन करके मत्परायण हो जाना चाहिये। इस प्रकार धीरे धीरे "स्थित-प्रज्ञ" हो जाया जाता है।

तीसरी बात है—विषय चिन्ता का त्याग करना। भगवान् कहते हैं—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥"

विषयों का चिन्तन करते रहने से ही उन विषयों के प्रति आसक्ति या प्रीति बढ़ जाती है—अर्थात् उनकी और भी अधिक चिन्ता करने की इच्छा हो जाती है। इस आसक्ति से ही उन उन विषयों में और भी तृष्णा (काम) की वृद्धि हो जाती है। उसी से जीव का सर्वनाश हो जाता है। अर्थात् परमात्मचिन्तन और तज्जनित विशुद्ध प्रज्ञा का उदय नहीं होता, और प्रज्ञा का उदय न होने से मोह-पाश छिन्न नहीं होता। मोह-पाश छिन्न न होने से जन्म मृत्यु-के हाथ से छुटकारा नहीं मिलता। इसी का नाम है महा विनाश। इसीलिए शुभाकांक्षी को अनर्थ चिन्ता मन में आने ही न देना चाहिये, उसके आते ही मन को समझाना चाहिये, यदि इस विषय की चिन्ता करूँगा तो इसी क्षण इस वस्तु के लिए चित्त की उत्कंठा बढ़ जायगी और निरर्थक दुःख भोग कर के मर जाना पड़ेगा। विषय चिन्ता का वेग आ जाने पर वह बाढ़ के जल की तरह मन को बहा ले जाता है। इसलिए काम सङ्कल्प उत्पन्न होने के साथ

ही विचार द्वारा और धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा उसको अंकुरावस्था में ही नष्ट कर देना चाहिये। जरा धैर्य अवलम्बन करने से ही दिखाई पड़ता है कि प्रवृत्ति हमारे घर में सेंध डालने के लिए झॉक-झूँक करती हुई अवसर ढूँढ़ रही थी, वह हमारे गृहस्थित विचार खड्ग को भीषण धार देख कर दूर से ही भय पाकर भाग जायगी। दो बार दस बार प्रवृत्तियों को इस तरह रोक सकने से ही वे फिर सिर ऊपर उठाने की चेष्टा न करेंगी। अवश्य ही पुनः पुनः विचारों की सहायता से यह दृढ़ धारणा रखनी पड़ेगी कि ये विषय हेय हैं और ये ही तुमको विपद्सागर में डुबा देने की चेष्टा कर रहे हैं। अब भगवान् अर्जुन को जो बात कह रहे हैं उसे समझ कर देख लिया जाय।

"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृत ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥"

इच्छा के न रहते हुए भी चित्त जो पापकलुषित हो कर निरन्तर दग्ध होता जा रहा है, इसका मूल ही काम और काम का विकार क्रोध है। यह काम ही मोक्ष मार्ग का प्रधान वैरी है, यह दुष्पूर है, अत्युग्र है और ज्ञानियों का चिरशत्रु है। ये ही ज्ञान को आच्छन्न करके मोक्षमार्ग को अवरुद्ध कर रखते हैं। काम और क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होते हैं, रजोगुण जब तक प्रबल रहेगा तब तक हमारा

चित्त विषय से विषयान्तर में क्षिप्त कुत्ते की तरह घूमता फिरेगा। अतएव इस रजोगुण के पंजे से इन्द्रियों को समेट कर संयत कर लेना होगा। रजोगुण को क्षीण करने के लिए सत्त्वगुण को बढ़ाने की चेष्टा करनी पड़ेगी। सत्त्वगुण जितना ही बढ़ता जायगा, काम क्रोध की उत्तेजना उसी परिमाण में घटती चली जायगी। विषयों से परिपूरित रहने पर किसी तरह भी इसकी आकांक्षा निवृत्त नहीं होती। भोगेच्छा ही समस्त दुःखों का कारण है, यह योगी और त्यागी दोनों का ही महा शत्रु है। विशेषतः त्यागियों का। क्योंकि काम का त्याग न होने से संन्यासी बन जाना विडम्बना है। यह काम ज्ञान और विज्ञान नाशक है—अर्थात् शास्त्र-श्रवणजनित विवेक और साधन लब्ध ज्ञान सब ही काम द्वारा विनष्ट प्रायः हो जाते हैं। बहुशास्त्रदर्शी पण्डिताग्रगण्य व्यक्तियों की भी बुद्धि काम द्वारा विमोहित हो जाती है। इस काम के आश्रय-स्थान तीन हैं। (१) इन्द्रिय, (२) मन, (३) बुद्धि। इन्द्रिय द्वारा विषयों के दर्शन-श्रवण होने से, उसके बाद मन की आसक्ति होती है, अतएव इन्द्रिया जिस प्रकार काम की प्रथम कारण हैं, उसी प्रकार दूसरा कारण हुआ मन; मन के संकल्प विकल्प से प्रबुद्ध काम—संकल्प बुद्धि द्वारा गृहीत होता है, अर्थात् कामोपभोग के प्रति दृढ़ आसक्ति उत्पन्न होती है। अतएव इन तीनों का नियमन करके काम को जीत लेना होगा। चित्त-प्रणिधान और आत्म-दर्शन से ही मन बुद्धि नियमित होती है और नियमित मन बुद्धि में काम संकल्प स्थायी नहीं हो सकता अर्थात् काम पर मुग्ध हो जाने के पहले ही नियतेन्द्रिय व्यक्ति सतर्क हो जाते हैं। इसका उपाय भगवान बता रहे हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परम् मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परम् बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

इन्द्रियों की चेष्टा के बिना शरीरादि किसी भी कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकते; इन्द्रियाँ सूक्ष्म और प्रकाशक हैं, इसी कारण शरीरादि की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ सिद्ध हुईं। फिर इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, क्योंकि, मन ही इन्द्रियों को उनके अपने अपने विषयों में प्रवर्तित करता है। फिर मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मन चञ्चल है और संकल्प की निश्चयता बुद्धि से ही उत्पन्न होती है। आत्मा की सत्ता और उसके प्रकाश के बिना बुद्धि के भी विकाश होने की सम्भावना नहीं है। अतएव आत्मा ही सर्व श्रेष्ठ है। श्रुति भी कहती है—"पुरुषान्न परं किंचित्।" क्रमानुसार आत्मा की ही श्रेष्ठता प्रतिपादित हो जाने के कारण—यह विचार आ सकता है कि आत्मा भी इन्द्रियादि की भाँति कहीं विकारग्रस्त तो नहीं है—किन्तु ऐसी बात नहीं है। आत्मा निर्विकार साक्षी स्वरूप है, कामादि विकार विषयेन्द्रियादि जनित बुद्धि को ही होते हैं—इसीलिए बुद्धि के परे जो आत्मा है, उसे बुद्धि के विकारों का दाग लग नहीं सकता, उस आत्मा को जान लेने पर फिर कामादि द्वारा मोहित होने की आशङ्का नहीं रह जाती। जितने दिनों तक विषय-तृष्णा रहती है, उतने दिनों तक मन विचलित रहता है। विचलित मन भगवद्दर्शन के लिए सचेष्ट नहीं हो सकता। अस्तु, पहले मिट्टी जल आदि से शरीर शुद्ध करनी पड़ती है, बाद को इन्द्रियाँ और मन की शुद्धि की जाती है। अर्थात् भगवत् भजन और सेवा द्वारा

विषय ग्रहण शील इन्द्रिय मन को उस तरफ ले जाना पड़ता है। श्रीमद्‌भागवत में अम्बरीष राजा का साधन क्रम इस प्रकार उल्लिखित है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो
वचांसि वैकुंठ गुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिर मार्जनादिषु,
श्रुतिश्चकारोऽच्युत सत्कथोदये ॥

इस प्रकार बुद्धि निर्मल और प्रशान्त हो जाती है। प्रशान्त चित्त ही भगवान् का कमलासन है। अतएव आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर, और कोई रिपु कुछ न कर सकेगा, "मैं अभय परम पद प्राप्त करूँगा"—इस दृढ़ संकल्प को लेकर "आत्मना" प्रशान्त बुद्धि से वश में किये गये चित्त से काम भोगेच्छु मन को भगवत् प्राप्ति विषय में अटल और दृढ़ कर सकने से ही इस दुर्जय काम अर्थात् विषय-तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। विषयेन्द्रियादि की उपासना न करके आत्मानुसन्धान ही सर्वोत्कृष्ट उपासना है। शरीर से लेकर बुद्धि तक सबही विकार ग्रस्त हैं अतएव भ्रान्ति और मोह के उत्पादक हैं। आत्मा को विकार नहीं है, इस कारण आत्मोपासना द्वारा ही जीव मोह मुक्त होता है। निर्मल निर्विकार आत्मा का स्वरूप गुरु और शास्त्र के मुख द्वारा अवगत होकर "तमेव धीरः विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत", मन ही मन प्रतिक्षण अनुध्यान करने से ही उस सम्बन्ध में प्रज्ञा उपस्थित होती है और आत्मविषयक प्रज्ञा द्वारा ही काम जनित प्रज्ञा का विलय सम्पन्न होता है। इस प्रकार आत्म विषयक प्रज्ञा में मन को निश्चल कर सकने से ही काम संकल्प फिर अपना सिर ऊपर उठा ही नहीं सकता—सत्त्व शुद्धि इसका ही नामान्तर है।

इस प्रकार चित्त को जीत लेने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। जो लोग असमर्थ हैं, जो ऊँचे वैराग्यवान् पुरुष नहीं हैं, वे लोग भी पुनः पुनः अभ्यास और विचार द्वारा भक्ति और श्रद्धायुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करें। इससे भी किसी न किसी दिन वे कृतार्थ हो सकेंगे।

"जब बुद्धि आत्मा के साथ अभिन्न रूप से अवस्थान करके घटादि विषयों का उद्भावन करती है, तब उसे मन कहा जाता है। (महा शान्ति, मोक्ष)"

"बुद्धि नितान्त आत्मा की अनुगत और आश्रित है। व्यतिक्रम की विधेय है और इच्छा की प्रयोजक है।" (महा। वन। अजगर)

"इन्द्रियाँ सभी विषयों को ग्रहण करती हैं, मन संशय उत्पादन करता है और बुद्धि विषयों की यथार्थता का निर्णय करती है। विषयों में इन्द्रियों का संयोग हो जाने के साथ ही, वे मन में प्रकाशित हो जाते हैं।" (महा। शान्ति। मोक्ष)

"बुद्धि श्रवणज्ञानयुक्त होने से ही श्रोत्र, स्पर्शज्ञानयुक्त होने से ही त्वक्, दर्शनज्ञानयुक्त होने से ही दृष्टि, रसज्ञान युक्त होने से ही रसना, और घ्राणज्ञानयुक्त होने से घ्राण कहलाता है। इस प्रकार तरह तरह के विकार बुद्धि के उपस्थित होते है, इन सभी विकारों को इन्द्रिय नाम से पुकारा जाता है।" (शान्ति। मोक्ष।)

"बुद्धि शरीर को आश्रय करके कभी प्रीतिलाभ करती है, कभी अनुताप करती है, कभी उभय विहीन होकर अवस्थान करती है। समुद्र जिस प्रकार तटभूमि को अतिक्रम नहीं कर सकता, उसी प्रकार बुद्धि, सुख दुःखादि

चित्त में फिर वासना की छाप नहीं लगती। अभ्यास करते करते चित्त स्पन्दनरहित हो जाता है, भव बन्धन क्षय प्राप्त कर जाता है। श्रद्धा भक्ति से ही प्रकृत विचार और साधनाभ्यास में प्रयत्न आता है। जिनके प्रति भक्ति नहीं है, जिनको मैं प्यार नहीं करता उनको पाने के लिए चेष्टा क्यों आवेगी? वे ही मेरी भक्ति के पात्र हैं, वे ही मेरे स्वजन हैं, जो मेरे सुख दुःख के नित्य सङ्गी हैं, जन्म मरण के साथी हैं, मेरे प्राणों के आराम हैं, हृदयानन्द और प्राण प्रिय हैं, यह परम प्रिय वस्तु कहाँ किस प्रकार पायी जायगी? विचारों द्वारा, साधु सङ्ग द्वारा, और सत् शास्त्रों के श्रवण द्वारा, पहले इस स्वजन को पहचान लेना होगा। उनको एक बार पहचान लेने पर, फिर तो उनके लिए प्राणों का एकान्त आग्रह उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकता। अपनी माता को माता कह कर जान लेने पर, शिशु हृदय आप ही आप आग्रहान्वित हो कर पुलकित हृदय से जननी की गोद में उछल कर कूद पड़ता है। वह किसी के उपदेश की अपेक्षा नहीं करता। किन्तु शिशु, जितनी देर तक निद्रित रहता है या खेलने में निमग्न रहता है, उतनी देर तक उसे अपनी माँ की याद नहीं आती। किन्तु इस खेल को लेकर तो कोई चिर काल मग्न नहीं रह सकता। खेल को भग करना ही पड़ता है—क्योंकि खेल चिरकाल अच्छा लगेगा क्यों? हस्त-पदादि अवयव क्रमशः अवसन्न हो जाते हैं, मन क्लान्त हो जाता है, तब घर की याद आती है, माँ की याद आती है। एक बार इस क्रीड़ा के प्रति अवज्ञा आ जाने के साथ ही माँ के लिए प्राण व्याकुल हो उठता है—शिशु माँ, माँ पुकारता हुआ अस्थिर हो जाता है। माँ भी सब काम-काज छोड़ कर शिशु के प्रति मनोयोगी

भावत्रयों को अतिक्रम करने में समर्थ नहीं होती। बुद्धि जब उभय भावों से विरत रहती है, तब मन में अवस्थित रहती है, किन्तु रजोगुण के प्रभाव से फिर कर्मों का अनुसरण करती है।" (शान्ति। मोक्ष।)

"सत्त्वगुण सम्पन्न बुद्धि यथार्थ ज्ञान, रजोगुण में रहने पर इन्द्रिय ज्ञान, और तमोगुण में मोह उत्पन्न करती है।" (शान्ति।)

"जीव हृदय में अवस्थान करके उस मन को सतत नियुक्त कर रहा है। मन सभी इन्द्रियों के और जीव मन के सृष्टि-संहार के कारण रूप से अभिहित होता है।"

"लौहमय कुठार जैसे लौह निर्मित निगड़ को विनष्ट करके स्वयं टूट जाता है, वैसे ध्यान-संस्कृत-बुद्धि रजोगुण सम्भूत स्वाभाविक दोषों का विनाश करके शान्ति प्राप्त करती है।" (शान्ति। मोक्ष।)

जब तक वासना की प्रबल आँधी बहती रहती है, जब तक हृदय में भोगलालसा बनी रहती है, तब तक ही अज्ञान रहता है—तब तक ही चित्त चञ्चल हो कर ज्ञान की सुनिर्मल ज्योत्स्ना को आच्छादित कर रखता है—इसलिए तब तक ही भेद ज्ञान है, पुनर्जन्म है, तब तक ही शरीर है और इस शरीर में रोग, शोक, दुखों का भोग होता रहता है। रजोगुण और तमोगुण की प्रबलता से ही चित्त को विक्षेप प्राप्त होता है, और चित्त विक्षिप्त होने पर ही विविध विकारों से आबद्ध हो जाता है—फिर जब गुरुवाक्यों पर विचार करने से और साधनाभ्यास के फल से शुद्ध सत्त्वगुण का उदय होता है, तभी तत्त्वज्ञान, मेघनिर्मुक्त चन्द्रमा की भाँति भक्त के हृदय में प्रतिभासित होता है। उस

चित्त में फिर वासना की छाप नहीं लगती। अभ्यास करते करते चित्त स्पन्दनरहित हो जाता है, भव बन्धन क्षय प्राप्त कर जाता है। श्रद्धा भक्ति से ही प्रकृत विचार और साधनाभ्यास में प्रयत्न आता है। जिनके प्रति भक्ति नहीं है, जिनको मैं प्यार नहीं करता उनको पाने के लिए चेष्टा क्यों आवेगी? वे ही मेरी भक्ति के पात्र हैं, वे ही मेरे स्वजन हैं, जो मेरे सुख दुःख के नित्य सङ्गी हैं, जन्म मरण के साथी हैं, मेरे प्राणों के आराम हैं, हृदयानन्द और प्राण प्रिय हैं, यह परम प्रिय वस्तु कहाँ किस प्रकार पायी जायगी? विचारों द्वारा, साधु सङ्ग द्वारा, और सत् शास्त्रों के श्रवण द्वारा, पहले इस स्वजन को पहचान लेना होगा। उनको एक बार पहचान लेने पर, फिर तो उनके लिए प्राणों का एकान्त आग्रह उत्पन्न हुए विना रह नहीं सकता। अपनी माता को माता कह कर जान लेने पर, शिशु-हृदय आप ही आप आग्रहान्वित हो कर पुलकित हृदय से जननी-की गोद में उछल कर कूद पड़ता है। वह किसी के उपदेश की अपेक्षा नहीं करता। किन्तु शिशु, जितनी देर तक निद्रित रहता है या खेलने में निमग्न रहता है, उतनी देर तक उसे अपनी माँ की याद नहीं आती। किन्तु इस खेल को लेकर तो कोई चिर काल मग्न नहीं रह सकता। खेल को भंग करना ही पड़ता है—क्योंकि खेल चिरकाल अच्छा लगेगा क्यों? हस्त-पदादि अवयव क्रमशः अवसन्न हो जाते हैं, मन क्लान्त हो जाता है, तब घर की याद आती है, माँ की याद आती है। एक बार इस क्रीड़ा के प्रति अवज्ञा आ जाने के साथ ही माँ के लिए प्राणी व्याकुल हो उठता है—शिशु माँ, माँ पुकारता हुआ अस्थिर हो जाता है। माँ भी सब काम-काज छोड़ कर शिशु के प्रति मनोयोगी

हो जाती हैं, और अपनी प्रेमामृतस्नेह धारा से शिशु के समस्त सन्ताप को दूर कर देती है। यह माता-पुत्र के बीच का स्वाभाविक धर्म है। तनय के रोने लगने पर माता उसको सान्त्वना दिये बिना रह नहीं सकती। परमात्मा के साथ जीवों का संबन्ध भी उसी प्रकार प्रेम और प्यार का सम्बन्ध है। उनको प्रिय बोध किये बिना कोई भी रह नहीं सकता। गोपियों ने ठीक ही कहा था—"प्रेष्ठो भवान् अनुभृतां किल बन्धुरात्मा"—आप ही समस्त देहधारियों के प्रिय बन्धु आत्मा हैं। इसिलिए:—

"कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्वआत्मन् ।
नित्य प्रिये पतिसुतादिभिरार्त्तिदैः किम् ॥"

हे आत्मन् ! शास्त्र निपुण व्यक्तिगण नित्य प्रिय आत्मा में ही रति किया करते हैं। दुःखदायी पतिसुतादि से क्या होगा ? देह-बोध जब तक है, तब तक सुख दुःख लोगों को नहीं छोड़ते—देहातीत परमात्मा को ज्यों ही देख लिया फिर तो उसी क्षण, उसको घरबार, यह शरीर ये स्वजन मित्र सभी के प्रति उपेक्षा आ गयी। क्योंकि ये सभी सम्बन्ध देह सम्बन्ध के ही कारण बने हैं। परमात्मा ही हमारे प्रकृत आत्मीय और बन्धु है और हमारे यथा सर्वस्व हैं; यह जान लेने पर फिर क्या उनको प्यार किये बिना रहा जाता है ? केवल जितनी देर तक हम इस सम्बन्ध को ठीक जान नहीं पाते, उतनी ही देर तक उनको भूल कर संसार-खेल में मग्न रहना सम्भव है। एक बार समझ लेने एक बार पहचान लेने की ही केवल जो कुछ देर है। पहचान लेने के साथ ही "कहाँ हो तुम मेरे जीवन सर्वस्व, कहाँ हो तुम मेरे प्राणों के प्राण" कह कर रोना ही पड़ेगा। तब तो उनको न पा लेने से और कुछ भी अच्छा न लगेगा, तब अन्य

सभी बातें तो विष की भाँति मालूम होंगी। प्रिय के बिना जीवन धारण करना भी तब भक्त के लिए असह्य हो जाता है। भक्त-प्राण में तब महाप्रभु चैतन्यचन्द्र की कृष्ण-वियोग-व्यथा की तरह, एक निदारुण व्यथा निरन्तर स्फुरित होती रहती है। तब आकुल प्राण दिनरात हाहाकार करके पुकारता रहता है:—

हाहा कृष्ण' प्राणनाथ ब्रजेन्द्र नन्दन।
कहाँ जाऊँ कहाँ पाऊँ मुरलीवदन॥

इसलिए हृदय की चिर प्रिय वस्तु उस परम तत्त्व को जानने के लिए शराविद्ध मृग की तरह व्याकुल, अन्तःकरण से अपनी अन्वेषमान दृष्टि को सतत जाग्रत रखना पड़ेगा।

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्तिधीरा।
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥"

धीर विवेकी पुरुषगण उस आनन्दमय अमृत स्वरूप को "विज्ञान" द्वारा सम्यक् रूप से देखते हैं। इसीलिए ही मोहान्ध जीव को श्रुति सचेतन कर के कह रही है:—

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।"

हे जीव, उठो, जागो, श्रेष्ठ तत्त्व जानने के लिए साधु महाजनों की शरण ग्रहण करो, श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ पुरुषों से आत्मतत्त्व श्रवण करने से ही मोहनिद्रा टूट जाने की सम्भावना है। उन लोगों के मुख से आत्मतत्त्व श्रवण करने से स्वतः ही उन वाक्यों के प्रति श्रद्धा-बुद्धि उदित होती है। उन लोगों के समुज्वल साधु दृष्टान्त, उन लोगों के प्रज्ञाज्ञान दीप्त वदनमण्डल की अपूर्व ज्योति आँखों के सामने देखकर—उस परम तत्त्व को जानने के लिए हृदय व्याकुल हो उठता है। उनकी आश्वास-वाणी से

हृदय आशान्वित हो उठता है। तब आपही आप सभी भोग्य विषय मानो नीरस ज्ञात होने लगते हैं, आत्म-विषय के अवधारण और उनका मनन करने के निमित्त चित्त में प्रबल आग्रह उत्पन्न होने लगता है, और उसके फल से बुद्धि निर्मल और एकाग्र होकर ध्यानावस्था प्राप्त करती है, और उस ध्यान-लब्ध सूक्ष्म दृष्टि के प्रभाव से—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्,
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।"

जिनसे श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, जिनसे क्षुद्र या महत् और कुछ भी नहीं है—उन्हीं परम तत्त्व हृदय देवता परम पुरुष के दर्शन पाकर वह कृतार्थ हो जाता है।

इसीलिए शास्त्र कह रहे हैं अन्य व्यर्थ बातों की आलोचना छोड़कर अन्य विषय लोभ विसर्जित करके, अवहित होकर उसी सत्य स्वरूप का अन्वेषण करो। वे मेरे सब कुछ हैं—

तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरयः दिवीवचक्षुराततम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाꣳसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमंपदं॥

विस्फारित नेत्र जिस प्रकार अनन्त विस्तृत महा शून्य को देखते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ मनीषिगण सर्व व्यापी ब्रह्म के परम पद का दर्शन करते रहते हैं।

इस परम पद को प्राप्त करना ही होगा, इस जीवन में ही उसे जान कर जाना होगा—यह दृढ़ आकांक्षा मन में जाग्रत होनी चाहिये। ऐसा करने से ही उनको पा लेने का पथ ढूँढने से पा सकूँगा।

जो लोग उनकी सच्चे भाव से आकांक्षा करते हैं, जो उस परम पद लाभ के एकान्त अभिलाषी हैं—वे उस नित्य

सत्य पदार्थ के लिए अविराम जागते रह कर उनका अन्वेषण करें, और वे धीर विवेकी पुरुष गण अवश्य ही ब्रह्म के परम पद को प्राप्त करने में सफल हो जायँगे। अतएव

"श्रद्धाभक्ति ध्यानयोगाद् वै हि।
त्यागेनैके अमृतत्त्वमान शुः॥

उस परमतत्त्व को श्रद्धा, भक्ति और ध्यानयोग द्वारा जान लो। त्याग के द्वारा, भोग वासना और विषय-लाभ की दुराकांक्षा परित्याग करके ही उस चिरवाञ्छित अमृतत्त्व को प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार जो जितना उनके लिए व्याकुल होगा, जो जिस प्रकार तीव्र आग्रह के साथ उनको अन्वेषण करेगा—वह उनकी अविराम स्मृति को मन में जाग्रत रखने के लिए नित्य प्रेम भक्ति, ध्यान और विचार द्वारा उनको अवश्य ही एक दिन प्राप्त कर सकेगा—इस विषय में अणुमात्र भी सन्देह का कारण नहीं है।

——:०:——

षष्ठ अध्याय

उपासना और चित्तशुद्धि

इन्द्रियों को संयत करना, चित्त को वशीभूत करना अवश्य ही खूब सहज साधन नहीं है। मन का प्रबल आग्रह और चेष्टा न रहने से यह ठीक नहीं होता। इस प्रकार के साधन से मन खूब ही उत्फुल्ल हो उठेगा ऐसी सम्भावना भी कम है। क्योंकि चित्त स्वभावतः ही विषय-लोलुप और अत्यन्त दृढ़ तथा चंचल है। इसको विषयों से हटाकर आत्माभिमुख करने की चेष्टा भी उससे अधिक श्रम और प्रयत्न की अपेक्षा करती है। किन्तु तो भी उपाय है—"अभ्यास।"

समस्त दुखों का हेतु चित्त विक्षेप है।

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्चदुष्करं ।
सर्वन्तु तपस्यासाध्यं तपोहिदुरतिक्रमम् ॥

जो कुछ दुस्तर है, जो कुछ दुष्प्राप्य है, जो कुछ दुर्गम और दुष्कर है—वे सभी तपस्या-साध्य है। तपस्या या प्रयत्न द्वारा कुछ भी आयत्वहीन रह नहीं सकता, क्योंकि तपस्या का फल अमोघ है।

तपोविद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते ॥

तपस्या और आत्मज्ञान ब्राह्मण का प्रधान मोक्ष साधन है। तपस्या द्वारा पाप नष्ट होता है और आत्मज्ञान द्वारा अमृत प्राप्त किया जाता है।

हम लोगों ने अपनी वासना से ही जिन जंजीरों को पैरों में डाल रखा है, आज उनसे मुक्तिलाभ की इच्छा करने से ही हम सहज ही में मुक्तिलाभ कर सकेंगे—ऐसी बात नहीं है। एक मात्र भरोसा है सदाभ्यास का। बीज से जिस प्रकार वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इस चित्त में जगत् जन्म ग्रहण कर रहा है। सृष्टि की सभी वस्तुएँ, और मन जो उन सब वस्तुओं का निरन्तर मनन कर रहा है—वे सब ही चित्त के कार्य हैं। इसलिये चित्त क्षय न होने से उपायान्तर नहीं है, इस कारण सबसे पहले चित्त पर ही विजय प्राप्त करनी पड़ेगी। इन सब बातों की आलोचना पहले भी कर चुका हूँ। वशिष्ठ देव ने कहा है—"यह दृश्यजगत् सम्पूर्ण मिथ्या है। अज्ञान गर्भ में गाढ़ सन्निविष्ट चित्त ही इस मिथ्या जगत् की सत्यता की कल्पना करता है, जब तक परम वस्तु दिखाई नहीं पड़ती, तभी तक जगत् का अस्तित्व है। परम वस्तु अवलोकित होने के साथ ही इसका विनाश हो जाता है।"

यह चित्त जितने दिनों तक मर्कट की तरह चञ्चल होकर विषय से विषयान्तर में अविरत घूमता फिरेगा, उतने दिनों तक इन्द्रियाँ भी संयत न होंगी, अज्ञानान्धकार भी विदूरित न होगा, और जो परम सत्य और ज्ञान स्वरूप हैं, और जो उस सुदीर्घ जीवन यात्रा के ध्रुवनक्षत्र स्वरूप हैं, उनको भी किसी प्रकार समझा न जा सकेगा। इसलिए सबसे पहले और सब प्रकार के प्रयत्न से चित्त शुद्धि की व्यवस्था करनी पड़ेगी। वशिष्ठ जी ने कहा है—"घिसने से मणि की प्रभा जैसे प्रस्फुटित होती है, सत्शास्त्र और उपासनादि उपायों की सहायता से चित्त शुद्ध हो जाने से, उसमें वैसे ही सत्य की प्रभा सञ्चारित हो जाती है। यह सत्य ही परब्रह्म या

अधिष्ठान और साक्षात् परम पद है।" वासनाक्षय ही एकमात्र चित्त शुद्धि का कारण है। हम लोगों की इन्द्रियाँ प्रतिक्षण बराबर ही सभी विषयों को (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) स्पर्श करती रहती हैं, इस स्पर्श से विषयज्ञान होता है। उससे पुनः पुन. उन विषयों को पाने की तृष्णा उत्पन्न होती है, और इस तृष्णा की ज्वाला से मनुष्य दिन-रात जलकर झुलस कर मरता रहता है। इसलिए जब तक विषयवासना का क्षय नहीं होता, तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता। यह अशुद्ध चित्त ही जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि का आस्पद है। किन्तु इन सभी का मूल हुआ अविद्या या अज्ञान। इस अज्ञान से विषय सस्कार बद्धमूल होता है। इसलिए अविद्या या अज्ञान यदि नष्ट हो जाय तो सस्कार भी निरुद्ध हो जाता है, और सस्कार के निरुद्ध हो जाने से समस्त दु.खों के निलय स्वरूप चित्त का विलय हो जाता है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर उसमें जिस प्रबोध का सचार होता है, उसके प्रभाव से अविलम्ब ही विशुद्ध परमात्म-ज्ञान का उदय हो जाता है।

चित्त विक्षेप कैसे नष्ट होता है ?

विचार द्वारा एक तरफ विषयों को हेय समझना और साधनाभ्यास द्वारा चित्त को स्थिर करने का प्रयास ये दोनों ही चित्तविक्षेप को नष्ट कर देने की प्रधान साधनाएँ हैं। दृढ़भावना और एकाग्रता का अभ्यास करने से, इस चित्त को रोध किया जा सकता है। चित्त में जो विषयासक्ति उत्पन्न हुई है, वह भी अभ्यास का ही फल है। फिर उस अभ्यास से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भी अभ्यास का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा।

जिन्हें हमलोग अभ्यास कहा करते है, वे सभी चित्त रोध के अनुकूल नहीं हैं। विषयों के साथ इन्द्रियों के

कौन कौन अभ्यास चित्त राघ के अनुकूल है ?

सयोग-साधन में किसी को कोई विशेप अभ्यास करना नहीं पड़ता, वह प्रायः आप ही आप हो जाता है। क्योंकि इन्द्रियों के बहिर्मुख होने और विपयादि के साथ संयुक्त हो जाने की एक स्वाभाविक गति या प्रवणता है। फिर विपयों में भी इन इन्द्रियों को आकर्षित करने की एक विशेप सामर्थ्य है।

इसलिए दुर्ग की रक्षा करने के निमित्त दुर्ग के सभी छेदों और उसके सभी दुर्बल स्थानों को शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा करने के लिए जिस प्रकार दुर्ग को छिद्र रहित और शक्ति सम्पन्न करके रखना पड़ता है और साथ ही साथ सैनिकों को भी सुशिक्षित बनाकर रखना पड़ता है, नहीं तो किसी तरह भी दुर्ग को शत्रु के पंजे से बचाया नहीं जा सकता—उसी प्रकार विपयों का जो स्वाभाविक आकर्पण है और इन्द्रियों की विपयों के प्रति जो आत्यन्तिक लोलुपता है—इन दोनों को ही विमुख करके रखने का जो मार्ग है उसी को हमें अवलम्बन करना पड़ेगा। प्रथम के लिए योगाभ्यास, और उपासना ; द्वितीय के लिए विचार और सत्सङ्ग का अवलम्बन करना होगा। नहीं तो वहि:शत्रुओं को और उन लोगों को जो हमें विपय में परिचालित करने के लिए डेरा डाल कर बैठे हुए हैं रोक रखना सहज काम न होगा। जिन शत्रुओं के साथ हमें विरोध करना पड़ेगा, उनका बलाबल, उनकी शक्ति-सामर्थ्य और छिद्रों के सम्बन्ध में बहुत अप्रमत्त भाव से, सन्धान करना आवश्यक है। पूज्यपाद वशिष्ठ देव ने इस सम्बन्ध में जो उपदेश दिये हैं, उनको मैं यहाँ बता रहा हूँ।

"वशिष्ठ जी ने कहा—मन जिन जिन विषयों पर दौड़ने लगता है उन उन विषयों की चिन्ता छोड़ देने से ही मन का क्षय होता है। कल्पना हो मन का प्राण है। उस कल्पना का रोध हो जाने से मन का रोध हो जायगा इसमें सन्देह नहीं है। विद्यावल से विवेक उत्पन्न होता है, विवेक-बल से वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्य-बल से चित्त की स्वच्छता सम्पन्न होती है। तब संसार हेय है और मोक्ष ही उपादेय है, इस प्रकार का विचार प्रादुर्भूत होने पर, चित्त विकाशिनी सात प्रकार की योग-भूमि आविर्भूत होकर परम पुरुषार्थ को सम्पन्न कर देती है।"

कल्पनाही मन का अधिष्ठान है।

ज्ञानभूमि शुभेच्छाख्या प्रथमासमुदाहृतो।
विचारणाद्वितीयास्या तृतीया तनुमानसा॥
सत्तापत्ति चतुर्थीततोऽसं सक्तिनामिक।
पदार्थभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्य्यगागतिः॥

सप्तविधि योगभूमि योगवाशिष्ठ।

प्रथम भूमि हुई "शुभेच्छा" या शुभ वासना, द्वितीय भूमि है "विचार" जिससे क्या हेय है क्या उपादेय है समझ लेना। तृतीय भूमि है "तनुमानसा"—मन की क्षीणता अर्थात् संकल्प विकल्पों का ह्रास होता रहना। चतुर्थ भूमि है "सत्तापत्ति" अर्थात् प्रलोभन के विषयों में विरक्ति हो जाने के कारण ब्रह्म में मन का स्थिर हो जाना। पञ्चम भूमि है "संसक्ति" अर्थात् ब्रह्मचिन्ता के अतिरिक्त किसी अन्य बात की चिन्ता न कर सकना। षष्ठ भूमि है "पदार्थ भावनी" ब्रह्म में निवृत्ति लाभ (मोक्ष शान्ति सुख) तब भीतर की और बाहर की चिन्ता दूर हो जाती है। इन सब चिन्ताओं के दूर हो जाने पर यत्न पूर्वक जिस प्रकृत

आत्म तत्त्व की चिन्ता होती है वही है "पदार्थभावनी"। सप्तम भूमि है—"तूरीय" अर्थात् मुक्ति।

इसका कारण क्या है ?

संकल्प संशयवशाद्गलिते तु चित्ते।
संसार मोहमिहिका गलिता भवन्ति॥
दृष्टं विभाति शरदीव समागतायं।
चिन्मात्रमेक मजमद्यमनन्त मण्डः॥ यो०वा०।

ध्यानयोग की बातें बताते समय इस विषय को और भी विस्तार पूर्वक बताऊँगा।

भगवदुपासना।

"आलोच्य सर्वशास्त्राणि
विचार्यैवं पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो
नारायणः सदा॥"

समस्त शास्त्रों की आलोचना और पुनः पुनः विचार करके साधुओं ने यही स्थिर किया है कि नारायण का ही सदा ध्यान करना चाहिए। उनके ही पाद पद्म में मन को निविड़ भाव से लगा रखना चाहिये, जिससे कि उनको स्मरण करते करते मन निस्पन्दित रहने में समर्थ हो सके। विषयों के प्रति विषयी का, कामिनी के प्रति कामुक का जैसा आकर्षण होता रहता है, वैसा ही आकर्षण इसमें होना चाहिये। 'या प्रीतिरविवेकानां विषयेस्वनपायिनी।' ठीक इसी प्रकार का आकर्षण होना चाहिये। किन्तु यह तो "हो जायगा" कह देने से ही न हो जायगा—इसीके लिए तपस्या या उपासना करने की आवश्यकता है। पहले विचारिये कि क्यों भगवान् के प्रति हम लोगों का आकर्षण नहीं होता ? उनके प्रति आकर्षण नहीं होता इसका कारण यह है कि

चित्त दूसरों के प्रति आकर्षित रहता है। यही जो दूसरों के प्रति आकर्षण—पराये पर प्रेम है—उसी से मन का पातिव्रत धर्म क्षुण्ण हो गया है। फिर इसको शोधन कर लेना होगा; दुःखदावाग्नि में दग्ध करके विशुद्ध कर लेना होगा। जिस स्त्री का पर पुरुष के प्रति आकर्षण है उसका अपने पति के प्रति अधिक आकर्षण नहीं रहता—इसलिए जो हमारे हृदय राज्य के यथार्थ राजा हैं उनके प्रति हमारा स्वाभाविक खिंचाव नहीं रह सकता—क्योंकि विषयरूप पति को ही अब मेरे मन ने वरण कर लिया है। विषयों से विमुख करने के लिए—विषयों के प्रति जो ऐकान्तिक निष्ठा है, उनसे मन को हटाने की मैं जो चेष्टा करूँगा वही होगा साधना का प्रथम सोपान। पहले मृदु भाव से, बाद को खूब जोर लगा कर उसको खींचना होगा। इसके लिए एकाग्रता का अभ्यास करना आवश्यक है। इसके लिए क्या करना चाहिये, इसी पर यहाँ कुछ विस्तृत रूप से ही आलोचना करूँगा। शास्त्रालोचना, साधुसङ्ग और विवेक विचार ही मनुष्य के ज्ञान नेत्र को उन्मीलित करते हैं। जितने दिनों तक ज्ञानचक्षु उन्मीलित नहीं होते, जितने दिनों तक बुद्धि की जड़ता दूर नहीं होती, उतने दिनों तक शुभलाभेच्छु व्यक्तियों को शुभ कर्म्म द्वारा सुकृति संचय में चेष्टित रहना चाहिये। प्रति दिन भगवद् पूजोपासना, उनका नाम कीर्त्तन, स्मरण, वन्दन और आत्मनिवेदनादि नियमों का अनुसरण करते करते चित्त में अनुराग का संचार हो जाता है; प्रति दिन नियमित रूप से सन्ध्या पूजादि मनःसंयोग के साथ करने से ही बुद्धि की जड़ता

साधना का प्रथम सोपान।

उपासना की आवश्यकता।

क्रमशः घटने लगती है और चित्त निर्मल हो जाता है। विषय वासना वर्जित निर्मल चित्त में ही भगवान् के स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है। एक विषय से विषयान्तर में दौड़ने वाले, चञ्चल चित्त में, भगवान् का सच्चिदानन्द स्वरूप प्रस्फुटित नहीं हो सकता—इसीलिए स्थिर चित्त होने के विशेष अनुकूल साधनादि का अभ्यास करना आवश्यक है।

उपासना के फल से चित्त में सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है। उस सत्त्वगुण के उज्ज्वल निर्मलालोक से अविद्या की अनुज्ज्वल यवनिका अपसारित हो जाती है—आत्मा का स्वरूप प्रकटित हो जाता है। यद्यपि भगवान् सभी जीवों के अन्तर में अन्तरतम हो कर रह रहे हैं, स्थूल सूक्ष्मादि रूप से इस लोक चराचर में व्याप्त हो रहे हैं, तथापि माया का प्रभाव ऐसा ही अचिन्तनीय है—जो हमारे अत्यन्त निकट हैं, जो हमारे सबसे अधिक अपने हैं—उन्हीं को हम सबसे अधिक विस्मृत हो कर पड़े हुए हैं। केवल उनको हम भूल ही नहीं गए हैं, वरन् हमने परम शत्रुओं को परम मित्र के रूप में समझ रखा है। इन कपट मित्रों के कुहक जाल में हम लोग इतना अधिक आवद्ध हो चुके हैं कि, जब वे परम सुहृद्, हम लोगों को अपनी तरफ आह्वान करते हैं, तब हम लोग उनकी बातों पर कुछ ध्यान ही नहीं देते। तब हम लोगों को इतना बुद्धि-विभ्रम उपस्थित हो जाता है कि, हम लोग यथार्थ माया जाल में आवद्ध हो गये हैं या नहीं, इस विषय में भी सन्देह उपस्थित हो जाता है। इसलिए तब हमारी प्रकृत अवस्था क्या है उसको परीक्षा करके देख लेना आवश्यक हो जाता है।

उपासना का फल।

परीक्षा करने के लिए उद्यत हो जाने पर तुरन्त कपट मित्रों की कपटता हम लोग समझ सकते हैं। किन्तु उनके रंग-ढंग-रुख से हम इतने विवश और विमुग्ध रहते हैं, कि, सामने फैलाये हुए व्याध के विस्तृत जाल की तरफ हमारी दृष्टि ही नहीं पड़ती, इसीलिए उसी क्षण तुरन्त ही उनका संग त्याग कर भाग आने की आवश्यकता भी हम अनुभव नहीं कर सकते। अपनी इस अवस्था को समझ कर उसका प्रतिकार करने के लिए ही उपसना की आवश्यकता पड़ती है। जैसे नशे की खुमारी को हटाने के लिए उसके प्रतिषेधक किसी पदार्थ का सेवन करना पड़ता है, नहीं तो वह खुमारी नहीं मिटती, वैसे इन काम-मोहादि के चपल-प्रणय-विभ्रान्त चित्त को उपासना के विना प्रकृतिस्थ कर लेना पूर्ण रूप से असम्भव है।

इस उपासना की प्रयोजनीयता जो लोग स्वीकार नहीं करते उन लोगों के लिए दुःखित होने के अतिरिक्त दूसरा उपाय ही क्या है? उन लोगों की युक्ति यह है कि यदि भगवान् निकट ही हैं, तो हम लोगों पर विपद ही क्यों आती है और उनकी उपासना करके उनको पुकारने की भी क्या आवश्यकता है? कोई कोई इस तरह का तर्क भी किया करते हैं कि शास्त्रानुमोदित नियम, नित्य साधन-प्रणाली, पूजा, जप, होमादि में समय नष्ट करना निष्प्रयोजन है। यह न करके दो-एक मिनट आँखें वन्द करके बैठे रहने से ही साधन सम्पूर्ण हो सकता है, उसके लिए कोई कष्ट उठाने का प्रयोजन नहीं है, कोई गुरु ढूँढ़ने की भी जरूरत नहीं है। किन्तु जिन लोगों ने भगवान् को हृदय से चाहा था और उनको प्राप्त किया था, उन लोगों ने कहा है– "कवीर हँसि

खेले जब पिया मिले, तो कौन दुहागिनि होय।" हमारे शास्त्रों ने कहा है:—

"गवां सर्पि शरीरस्थं न करोत्यङ्ग पोषणम्।
निःसृतं कर्म्म संयुक्तं पुनस्तासां तदौषधम्॥"
एवं सहि शरीरस्थः सर्पिवत् परमेश्वरः।
विना चोपासनादेव न करोति हितं नृषु॥

"घृत दूध में रह कर गायों की देह में ही मौजूद रहता है, तो भी उससे उनका शरीर पुष्ट नहीं होता; वही दूध जब उनके शरीर से निःसृत होकर बाद को उपाय विशेष से घृताकार में परिणत हो जाता है, तब वही फिर गाय को औषध रूप में भी उपकार पहुँचाता है, उसी प्रकार परमेश्वर सभी देहियों की देहों में मौजूद रहने पर भी उपासनारूप उपाय के बिना मनुष्यों का हित साधन नहीं करते।"— इसीसे अच्छी तरह यह बात समझ में आजायगी कि उपासना की प्रयोजनीयता कितनी अधिक है।

इस उपासना कि प्रणालियाँ अधिकारी भेदानुसार विभिन्न हैं इसे यथासमय पर गुरु के मुख से श्रवण कर श्रद्धालु शिष्य को जान लेना चाहिये। हम यथासाध्य इस स्थान पर और परवर्त्ती अध्यायों में इस विषय पर विशेष रूप से आलोचना करेंगे।

साधना में निष्ठा और दृढ़ता।

जो साधक बनें, साधना के प्रति उनकी यथेष्ट श्रद्धा रहनी चाहिये उनको विश्वास रहना चाहिये कि साधना में सफलता प्राप्ति होगी ही। यह विश्वास जिनको नहीं रहता उनको साधना में दृढ़ता आ ही नहीं सकती आर वे अग्रसर हो भी नहीं सकते, पग पग पर कारणवश और अकारण उनका पदस्खलन होता रहता

है। अविश्वासी का चित्त प्रत्येक घटना से ही विचलित हो उठता है, सामान्य विपत्ति के आते ही उसे दिशाविभ्रम हो जाता है। उसको साधना करके शान्ति नहीं मिलती। कृपण सञ्चय कर सकता है, किन्तु दान करने का जो सुमहत् आत्म प्रसाद है—जो सञ्चय की अपेक्षा बड़ा है—उसकी उपलब्धि वह नहीं कर सकता! दानशील सदाशय पुरुष सर्वस्व दान करके रिक्त हस्त होने पर जो आत्म-प्रसाद भोग करते हैं, उस आत्मप्रसाद का मूल्य कितना है इसे कृपण जैसे नहीं समझ सकता, वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष इसकी धारणा कर ही नहीं सकता कि साधना के निमित्त विराट त्याग से कौन सा महत् लाभ है। इसीलिए वह जब तक सुख दुःख का हिसाब लगा कर घूमता फिरता है और साधना की सफलता को एक पार्थिव वस्तु प्राप्ति की तरह समझ कर आध्यात्मिकता को वैषयिकता के बीच ला कर खड़ा कर देता है! इसीलिए कह रहा हूँ जो साधक बनेंगे उनको 'तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना' बन कर साधन करना होगा। सहस्रों जन्म की जड़ता, अन्धता, अधीरता, अतृप्ति और अशान्ति के निविड़ पङ्क से आत्मा को जगा कर उठा देना होगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह की विपुल उत्तेजनाओं और निरन्तर संक्षोभों को बीच आत्मसम्वरण करना पड़ेगा, अत्यन्त धर्मशील होना पड़ेगा अभी कुछ हुआ ही नहीं कहकर हताश भाव से लड़ाई छोड़ कर मैदान से भाग जाने से काम न चलेगा। बच्चे को सुलाकर माता जिस तरह घर-गृहस्थी के काम-काज कर डालती है उसी प्रकार अबोध अशान्त चित्त वृत्तियों को सुलाकर परम सत्य पदार्थ का अन्वेषण

साधना का लाभ विषय लाभ की तरह लाभ नहीं है। यह त्याग द्वारा ही लभ्य है।

करना पड़ेगा। इस प्रकार दो एक दिन नहीं, लगातार कितने ही दिनों तक अविचलित भाव से ईश्वरार्पित चित्त होकर इस पथ से धीरे धीरे अग्रसर होना पड़ेगा। भगवान् ने गीता में कहा है, जो लोग तत्पर हैं, संयतेन्द्रिय और श्रद्धावान हैं वे ही ज्ञान लाभ में समर्थ होते हैं। यह कभी लघु विषय नहीं हो सकता। यह साधना का पथ बड़ा ही कण्टकाकीर्ण है। इच्छा करने से ही निर्विवाद ही लक्ष्य स्थल को पहुँच जाऊँगा—यह भरोसा नहीं है। क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार राह रोक कर बैठे हुए हैं। जो इस राह से चलेगा उसे कितनी ही बार उठना गिरना पड़ेगा उसकी संख्या नहीं है। किसी गिरि या पर्वतशिखर आरोहण करते समय बहुत ही क्लेश होता है, किन्तु उतर कर नीचे आते समय कुछ भी क्लेश नहीं होता—इसी प्रकार जीवन में हम लोग जितनी आध्यात्मिक उन्नति करते हैं उसके लिए जिस विपुल आयास की आवश्यकता पड़ती है, उसकी तुलना में प्रवृत्तियों के स्रोत में शरीर बहा देना बहुत ही सरल है। यह पथ सहज है इसीलिए इस पथ में यात्रियों की संख्या अगण्य रहती है।

अटल निष्ठा द्वारा ही सत्य लाभ होता है।

सत्य वस्तु (भगवान) को जो लोग सत्य रूप में पाना चाहते हैं और सत्य को प्राप्त करने को ही बड़ा लाभ समझते हैं, वे सत्य के निमित्त किसी भी कष्ट को कष्ट नहीं मानते, किसी पथ को ही दुर्गम या किसी लक्ष्य को ही दुरधिगम्य नहीं मानते—इसी कारण वे सब प्रेमिक सत्य निष्ठ व्यक्तियों ने दिन के बाद दिन रात्रि के बाद रात्रि, महीने के बाद महीने, वर्ष के बाद वर्ष तक—विपुल साधना में लिप्त रहते हैं तो भी लक्ष्य प्राप्ति नहीं हुई कह कर हताश

होकर बैठ नहीं जाते। साधना की कोई कठोरता ही उनके चित्त को क्लान्त नहीं बना सकती। साधना-पथ में चित्त की यह अवस्था साधक का प्रधान सहाय है। यह न रहने से आगे बढ़ाना दुष्कर होगा।

उसके बाद है ध्यान निष्ठा। प्रति दिन इस अशान्त चित्त को शान्त कर लेना पड़ेगा। धीरे धीरे इसकी चपलता के वेग को घटाना पड़ेगा। धीरे धीरे बहुत तरफ, बहुत से विषयों में बिखरे हुए मन को समेट कर आत्मा में प्रतिष्ठित करना होगा। इसके लिए बहुत दिन, बहुत समय लगेगा, बहुत धैर्य की आवश्यकता पड़ेगी। विक्षिप्त चित्त को

ध्यान निष्ठा या चित्त शासन।

एक स्थान में और सम्मिलित रूप में ले आना एक भयकर काम है—फिर भी ऐसा किये बिना दूसरा उपाय नहीं है! इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयों की तरफ मन स्वभावतः ही दौड़ पड़ता है, मन की चञ्चलता के कारण ही इन्द्रियाँ चञ्चल और विषय लोलुप हो उठती हैं। मन को रोक देने से इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करना छोड़ देती हैं, फिर इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण बन्द कर देने से मन चञ्चलता छोड़ देता है। शरीर की पीड़ा से मन पीड़ित हो जाता है, मन की पीड़ा से शरीर क्लिष्ट और अवसन्न हो जाता है। इस प्रकार मन, प्राण, शरीर अङ्गाङ्गी भाव से मिले हुए हैं। इसीलिए मन प्राण और शरीर इन तीनों के क्षोभ एक साथ नाश करने की साधना ही, हुई प्रकृत साधना। इसके लिए चित्त-शासन आवश्यक है। विख्यात वाग्मी (वक्ता) स्वर्गीय आचार्य केशवचन्द्र सेन ने कहा है—"उपासना में मन एक ही दशा में रहे, शरीर एक ही अवस्था में रहे ऐसी साधना होनी चाहिये। समाहितमन, समचित्त परम सम्पत्ति है, इसका

पाजन करना सर्व प्रथम कर्तव्य है। समचित्त न होने से पासना भी नहीं होती, घर गृहस्थी भी नहीं चलती।" इसलिए एकाग्रता का अभ्यास करने या चित्त को ध्याननिष्ठ करने के लिए अवश्य ही आसन प्राणायाम और प्रत्याहार की सोपान-श्रेणियों से चलना होगा। इसी कारण याज्ञवल्क्य, पतञ्जलि प्रमुख ऋषियों ने इसका इतना समादर किया है। यथा स्थान पर इस सम्बन्ध में शास्त्रोक्त अभिमत उद्‌धृत करके दिखाऊँगा। मन को एकाग्र करने का उपाय इधर उधर दौड़ने वाले चित्त को एक ही लक्ष्य पर स्थिर कर रखना है। थोड़ा थोड़ा करके निरन्तर अभ्यास करने के फलस्वरूप, उसी लक्ष्य पर मन बैठ जायगा। तब उसे और अधिक घूमने फिरने की प्रवृत्ति न रह जायगी। उस लक्ष्य की तरफ चलने या लक्ष्य को स्थिर करने का नाम ही **उपासना** है। बहुत से लोग मन को ठीक तौर से बाँध नहीं सकते, इसलिए उसको बाँध डालने का उपाय पहले ही अन्वेषण करना होगा। हमारे प्राण जिनको चाहते हैं, उनके लिए प्राण उसी जगह पड़ा रहता है। इसके लिए प्राण बाँधने की एक सामग्री चाहिये, वह गुरु, देवता, आत्मा इनमें से किसी एक पर लगा सकने से ही कृतार्थ हो सकते हैं। जन साधारण के हितार्थ ही ऋषियों ने मूर्तिपूजा प्रतिष्ठित की थी। बहुत से लोग इसकी प्रयोजनीयता अस्वीकार करते हैं, किन्तु जो लाग वचनों के पण्डित नहीं हैं, वरन् काम करने वाले कर्म्मी हैं उन लोगों ने इसकी प्रयोजनीयता का अनुभव विशेष रूप से किया है। असल में एक

मूर्त्ति पूजा

काठ की या पत्थर की या धातु की स्थूल मूर्त्ति विशेष की पूजा करना ही उद्देश्य

नहीं है, इस बात को सभी सोचने से समझ सकते हैं। इसमें उस परम परात्पर हृदयनाथ को देखने की चेष्टा ही दिखाई पड़ती है। किन्तु साधारण मनुष्य जो कुछ सामने अधिक देखते हैं, उनके अतिरिक्त और किसी पर ध्यान लगाने में उनको असुविधा होती है। यहाँ तक कि निराकार उपासना करने के लिए भी कल्पना से ईश्वर को अंकित कर लेना पड़ता है। हमारा चित्त स्थूल में इतना मग्न रहता है—कि उसके अतिरिक्त और किसी बात को सोचने से ही चित्त हाँफने लगता है।

स्थूल इन्द्रियाँ ही तो हमारे सभी ज्ञानों के द्वार हैं। किन्तु इन द्वारों से जो ज्ञान होता है, वह सूक्ष्म ज्ञान नहीं है वह बहुत अंशों में स्थूल भावापन्न है। मान लो कि चक्षु से रूप ज्ञान होता है, किन्तु रूप तो स्वयं फूट नहीं उठता, किसी को अवलम्बन करके ही दृष्टिगोचर होता है हमारी स्थूल दृष्टि के सम्मुख जिसका आश्रय लेकर रूप प्रकाशित हो रहा है, उस स्थूल आश्रय को भी रूप के साथ एक करके देखते रहने का अभ्यास गंभीर रूप से हृदय में अंकित होकर पड़ा हुआ है। इसलिए रूप देखूँगा कहने से ही कोई एक आधार पहले लेना ही पड़ता है। अवलम्बन के बिना विशिष्ट ज्ञान उदित ही नहीं हो सकता। जब कि चक्षुओं और मन की लालसा रूप देखने की है—फिर भी बाह्य रूपों पर मुग्ध हो जाने के साथ ही साथ मन और भी बन्धन युक्त हो जाता है— इसी कारण उसको शास्त्रों ने बता दिया यदि अरूप की धारणा तुम न कर सको, या ऐसी अवस्था में उनको प्यार न कर सको, तो अरूप के रूप की कल्पना कर लो। उस कल्पित रूप में भी यदि ईश्वर बुद्धि रहे तो वह भी विमुक्ति का कारण हो जायगा। और दृष्टि

इच्छा से ही रूप की उत्पत्ति होती है, और यह इच्छा अनादिकाल से ही मौजूद है। इसीलिए देवताओं के विशिष्ट रूप भी चिरकाल व्यक्त अव्यक्त के बीचोबीच रह कर साधकों के आनन्द और उत्साह को सहायता पहुँचा रहे हैं। रूप को हम लोग बिलकुल ही अस्वीकार नहीं कर सकते इसीलिए हम अरूप के बीच ही रूप को ढूँढ़ते फिरते हैं। यही हमारे चित्त का चिरन्तन स्वभाव है। प्रतिमा में हमारी रूपलालसा चरितार्थ होती है, इसीलिए हम लोग देवता की प्रतिमा गढ़ते हैं और देवमूर्त्ति में अपनी ही तरह इन्द्रियों और अङ्ग प्रत्यङ्गों की कल्पना करते रहते हैं। प्रिय जनों को या भक्ति के पात्र व्यक्तियों को स्पर्श करने और उनके युगल चरणों पर माथा रख देने की इच्छा करते हैं। उनके चरण रजः द्वारा अपने शरीर को पवित्र बना देने की इच्छा होती है, कभी कभी उनके पाद-पद्मों में पुष्पाञ्जलि चढ़ा कर मन का क्षोभ मिटा देने की इच्छा होती है; किन्तु यदि उनके पाँव ही न हों तो मनुष्यों के हृदय की यह आशा मिटेगी कैसे ? इसीलिए उनके पाद-पद्मो की कल्पना करनी पड़ती है, और वे जब कि सर्वव्यापी हैं और भक्तवांछा कल्पतरु हैं, तब भक्त की कल्पित मूर्त्ति में उनका प्रकाश कुछ असम्भव भी नहीं है, अयौक्तिक भी नहीं है। सामने मनुष्य की तरह किसी को न देखने से उनसे कोई बातें कहने से सुख नहीं होता। हम बातें कहेंगे, वे सुनेंगे और उत्तर देंगे यही तो है हमारे प्राणों की गम्भीर आकांक्षा। इसे मिटाने के लिए उनके रूप को ग्रहण करना ही पड़ेगा। इसी लिए सभी देशों में सब समय में देवताओं को मनुष्य की भाँति नेत्र कर्ण पदादि द्वारा युक्त करके दिखाने की रीति सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। समाधि सागर में

एक बार न डूब जा सकने से शायद यह रूप-तृषा किसी तरह भी नहीं मिटती। इसी लिए निर्विकल्प अवस्था प्राप्ति के पहले तक सभी इस अरूप के रूप की कल्पना करते हैं। अनेक उच्च श्रेणी के भक्त ज्ञानी भी उनको निष्कल, निर्मल, मन, वाक्य अगोचर जानते हुए भी उनके कमनीय रूप की कल्पना करके उनमें मन प्राण अर्पण करके अपार आनन्द सागर में निमग्न हो जाते हैं। प्रेमिक कवि ने कहा है—

"रूप लागि आँखि झरे गुणे मन भोर।
प्रति अङ्ग लागि काँदे प्रति अङ्ग मोर॥"

अर्थात् "उनके रूप के लिए आँखों से आँसू झरते रहते हैं और उनके गुणों से मन मोहित है। उनके प्रत्येक अङ्ग के लिए मेरा प्रत्येक अङ्ग रोता रहता है।"

समस्त विश्व भुवन इतना अधिक सुन्दर है, समस्त प्रकृति में इतनी अधिक रूप राशि फूटती जा रही है, और इन सब रूपों के जो प्रकाशक हैं या स्रष्टा हैं, उनका रूप नहीं है, यह बात क्या कभी सम्भव हो सकती है? इसी लिए भक्त प्रेमिक-अपनी भक्ति तुलिका से प्रेमपथ कितना रूप, कितना अङ्ग सौष्ठव, कितनी विचित्र भङ्गिमा ही कल्पना के नेत्रों से देखकर आनन्द विह्वल हो चुके हैं। वर्तमान युग के जगत् प्रसिद्ध कवि ने भी गाया है—"मम हृदय रक्त रञ्जने, तव चरण दियाछि रांगिया"—अर्थात् "अपने हृदय के रक्त रूप रंग से, तुम्हारे चरणों को मैंने रंग डाला है।—इस तरह के चरणों की कल्पना किये बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता। अपने मस्तक को उनके चरण पद्मों पर रखना चाहता हूँ, इस लिए चरण कल्पना न करने से उसको स्पर्श करूँगा किस

तरह ? इसी प्रकार जिनको मैं प्यार करता हूँ, उनको आदर पूर्वक कितनी ही तरह तरह की चीजें खिलाने की इच्छा होती है, यदि उनका मुख ही न रहे तो इस वासना के चरितार्थ होने का उपाय कहाँ है ? इसको आप बालचेष्टा कहना चाहें तो कहिये किन्तु इस बालभाव में भी कितना निरुपम आनन्द है, इसकी धारणा करना हम लोगों के लिए कठिन है, अवश्य ही श्रेष्ठ ज्ञानी लोग इन सब कल्पित मूर्तियों की अपेक्षा नहीं रखते, उन लोगों का ध्याननिमग्न चित्त असीम के ध्यान में विभोर रहता है, उन लोगों को किसी जागतिक वस्तु द्वारा उनकी पूजा करने का प्रयास नहीं रहता, वे लोग देह, मन, प्राण, सब कुछ उनमें अर्पित करके परम निश्चिन्त हो जाते हैं। वे लोग विश्वमानवों के बीच एक अखण्ड भाव की उपलब्धि करके प्रति जीव के आहार, विहार और तृप्ति में उनकी ही तृप्ति देख कर परम पुलकित होते हैं।

उनकी स्थूल मूर्त्ति की कल्पना करके भी उनकी पूजा चल सकती है और इसमें किसी प्रकार का दोष स्पर्श नहा करता, इस बात का अनुभव भारतवर्ष के ऋषियों ने प्रत्यक्ष रूप से किया था, इसीलिए उन लोगों ने भक्तों के हृदय मन्दिर के बाहर भी सुरम्य देवालयों में उनकी श्रीमूर्त्ति प्रतिष्ठित करने में कोई सकोच अनुभव नहीं किया। क्योंकि "जो वे भीतर है, वे ही वे बाहर है।" उनका तो अन्तर बाहर नहीं है, हम लोग ही अज्ञानता वश भीतर बाहर की कल्पना करते हैं। भगवान भक्त के चिर दिन की आशाओं की इसी तरह पूर्ति करते है। यह विश्वरूप तो उनका ही है, तो फिर उनके रूप की कमी ही क्या है ? जब उन के पाद पद्म की मनही मन कल्पना करनी ही पड़ती है, तब स्थूल बुद्धि वालों के लिए उनका स्थूल रूप तैयार करके अपनी आँखों की प्यास

मिटा लेने में हानि ही क्या है ? पुत्र को केवल पुत्र बोध करने से उस स्नेह में मोह आ जाता है, किन्तु परमात्मा को पुत्र रूप में कल्पना करते समय—वात्सल्य रस की कमी नहीं होती, किन्तु उसमें मोह नहीं रहता। क्योंकि मेरा यह पुत्र तो अजर अमर अविनाशी है। फिर भी इस भाव के द्वार पर मिलन वियोग सभी रसों की अजस्र क्रीड़ाएँ चलती रहती हैं इसमें मन परमानन्द में मग्न हो जाता है किन्तु मोहबद्ध नहीं होता।

प्रति दिन प्रिय गुरुजनों के चरण वन्दन के लिए जाने पर हमें जो विशेष आनन्द मिलता है वह भी वास्तविक उस स्थूल मूर्त्ति से ही नहीं मिलता। उन लोगों के नेत्रों, कानों, अङ्ग-प्रत्यङ्गादि के भीतर से जो भगवान प्रकाशित हो रहे हैं, यथार्थतः हम लोग उनको ही देख कर सुखी होते हैं। किन्तु यह रूप जिनका है, उस रूपवान को उनके रूप से पृथक् करके चिन्तन करने का अभ्यास न रहने के कारण, हम स्थूल देह के साथ मिला कर प्रियजनों को देखते रहते हैं। अवश्य ही शरीर में चेतना मौजूद रहने के कारण ही प्रकृत आनन्द समुद्भूत होता है। इसी स्थान पर हम विचारों के अभाववश देही के साथ देह को मिला देते हैं। पहले ही बता चुका हूँ कि हम लोग स्थूल रूप देखने में इतना अभ्यस्त हो चुके हैं कि, मूर्ति को छोड़कर अमूर्त की चिन्ता करते समय हताश हो जाते हैं। जान पड़ता है कि इनसे आत्मनिवेदन करने से शायद ये जान न सकेंगे, जान पड़ता है वाक्यों द्वारा बातें न कहने से मैं सुन न सकूंगा। ये ही बुद्धि के ऊपर संस्कारों के लेप हैं। यही मूढ़ता है। जिनका अस्तित्व रहने के ही कारण कानों को सुनाई पड़ता है, आंखों को दिखाई पड़ता है, मन मनन करने

में समर्थ होता है, वे क्यों मेरी बातों को सुन न सकेंगे, और वे जो कुछ कहेंगे, वही मैं क्यों न जान सकूंगा ? जो भी हो, उस परम पदार्थ का यह भी रूप है, इस तरह की धारणा अविचल रहने से स्थूल मूर्ति का ध्यान करने में भी दोष नहीं होता—यही मेरे कहने का उद्देश्य है। ध्येय वस्तु जो भी हो चित्त की उसमें ईश्वर बुद्धि रहने पर और एक मात्र लक्ष्य वस्तु के प्रति चित्त का एकतानता-भाव मौजूद रहने पर कुछ भी दोष की बात न होगी। वरन् इस तरह की एक मूर्ति विशेष से श्रद्धा स्थापित हो जाने से उस में प्रेम और आसक्ति रहने के कारण ध्याननिष्ठा का उदय होता है। उससे मन स्थिर हो जाता है। क्योंकि एक वस्तु में चित्त का समाधान होने से चित्त का अस्तित्व नहीं रह जाता। और चित्त के न रहने पर चिद् वस्तु के अतिरिक्त और किसी चिद् वर्जित स्वतन्त्र पदार्थ का अस्तित्त्व किस तरह रह सकता है ? इसलिए तब चित्त ही निर्मल ब्रह्म स्वरूप में विलीन होकर ब्रह्म ही हो जाता है। इस कारण मनुष्य, मनुष्य के शरीर के विशेष विशेष स्थान, वृक्ष, प्रस्तर कोई भी एक चिह्न को लेकर ध्यान करने से भी दोष की बात नहीं होती। शास्त्रों में भी इसी कारण गुरुमूर्ति प्रभृति में ध्यान करने के विधान दिये गये हैं। योग दर्शन में भी समुचित रूप से इसकी प्रयोजनीयता स्वीकार की गयी है।

मूर्ति ध्यान की ये बातें हमारे शास्त्रों में अनेक स्थानों पर विशद रूप से उल्लिखित है। हमारे देश के गुरु लोग भी शिष्यों को दीक्षा देते समय इस तरह की किसी एक मूर्ति का ध्यान, पूजा, जप की व्यवस्था करते हैं ; उद्देश्य यह रहता है—इस स्थूल भाव से ही जिज्ञासु भक्ति-

मूर्तिध्यान कैसे किया जाता है।

मान शिष्य सूक्ष्म से सुक्ष्मतर क्षेत्रों में विचरण कर सकेंगे। यह कार्य जिस रीति से करना उचित है उसका उपदेश श्री मद्भागवत में भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहुति को दिया है, भगवान् श्रीकृष्ण न महात्मा उद्धव को जो कुछ समझाया था, उसकी ही पुन पुन आलोचना करने के लिए मैं पाठकों से अनुरोध करता हू, म यहाँ अति सक्षेप में उन उपदेशों के दो एक अश उद्धृत करके श्रद्धालु पाठकों को उपहार स्वरूप दे रहा हूँ। महर्षि कपिल कहते ह— अपनी शक्ति के अनुसार स्वधर्माचरण, दैवलब्ध वस्तुओं से सन्तुष्ट रहना, आत्मज्ञ पुरषों की चरण सेवा, धर्म, अर्थ और काम से निवृत्ति, मोक्षधर्म म अनुराग, परिमित पवित्र भोजन, निर्जन और निरुपद्रव स्थान में रहना, अहिंसा, सत्य, अचार्य, नितान्त आवश्यकीय वस्तुओं की अभिलाषा, ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, परम पुरुषकी पूजा, प्राण वायु का वशीकरण, मन द्वारा इन्द्रियों को विषयों से आकर्षण, प्राण के साथ मन का स्थिरीकरण, भगवान् की विचित्र लीलाओ का कथन, इन सबके द्वारा और अन्यान्य उपायों द्वारा कुपथगामी दुर्दम मन को थोड़ा थोड़ा करके योगाभ्यास में नियुक्त रखना चाहिये। इसके वाद आसनाभ्यास द्वारा आसन जीत कर, प्राण-वायु का शोधन करना चाहिये। जिससे वि प्राणवायु स्थिर भाव से ठहर सके, चञ्चल न होने पावे। सोना जैसे अग्नि के सहयोग से निर्मल हो जाता है, वैसे ही श्वासजय कर सकने पर शीघ्र ही मन निर्मल हो जाता है। इस प्रकार मन जब उत्तम रीति से निर्मल और अतिशय सुस्थिर हो जायगा, तब भगवान् की मूर्त्ति का ध्यान करना चाहिये। पहले एक बार समग्र मूर्ति को मन में धारण करके, उसके बाद उनके विशेष विशेष अगों में चित्त को नियुक्त करना

चाहिये। प्रथमतः पादपद्म से लेकर समग्र जाँघ, उरु, वसन, नितम्ब, नाभि, उदर, वक्षःस्थल, कण्ठदश, तदनन्तर बाहु, बाहुओं में शोभित विविध भूषण और अस्त्र, बाद को मुखकमल का चिन्तन करना चाहिये। उनके हास्य भरे मुख से तापत्रय निर्मूल हो रहे हैं, इसका चिन्तन करना चाहिये, और सकरुण दृष्टिपूर्ण सुन्दर नयनों की चिन्ता करनी चाहिये। तब केवल मात्र मुख, नयन या हृदय का चिन्तन करते करते उनमें भक्ति के साथ मन समर्पण कर देना चाहिये, किसी अन्य वस्तु को देखना या मनन करना न चाहिये। इस तरह ध्यान करने से ध्येय वस्तु के प्रति प्रेम का सञ्चार होता है। चित्त को इस प्रकार विषय-शून्य और निराश्रय करने की चेष्टा से ही विषयों में विरक्ति पैदा होती है, इस अवस्था में देहादि का विस्मरण हो जाने से ध्यानकर्ता अखण्ड परमात्म-स्वरूप को देख पाते हैं। इस प्रकार भक्त साधक सर्वभूतों में आत्मा को और आत्मा में समस्त भूतों को अवस्थित रूप में जान सकते हैं। भगवान् नारद ने वासुदेव को सुनाया था :—"हरि जिनके हृदय में प्रेमरज्जु द्वारा बद्ध रहते हैं वे ही भागवत प्रधान हैं। मङ्गलेच्छु व्यक्तियों को शब्द ब्रह्म के पारंगत और परब्रह्म में विलीन जो शान्तिमय गुरु मिलें उनका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। गुरु को ही आत्मा और सर्व देवता समझ कर कपट रहित और सेवा द्वारा उनसे भागवत धर्म की शिक्षा लेनी चाहिये। प्रथमतः जो कुछ सीखना होगा वह इस प्रकार है :—सभी विषयों से मन को निवृत्त करना, यथोचित रूप से प्राणियों पर दया, मित्रता, विनय, बाह्य और आभ्यन्तरिक शौच, निज धर्माचार, क्षमा, वृथा वाक्य परिहार, स्वाध्याय, सरलता,

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख दुःख, शीत ग्रीष्मादि द्वन्द्वों में समता, सकल पदार्थों में आत्मा और ईश्वर ज्ञान, सुचरित्रता, गृहादि में निरभिमानता, सर्वावस्था में सन्तोष, हरिगुण गान और श्रवण, कीर्त्तन और ध्यान, हरि के निमित्त सब काम करना, दान, तपस्या, जप, आत्मप्रिय गृह और प्राण परमेश्वर को समपर्ण करना, भगवद्भक्त गण की पूजा, परस्पर के प्रति भगवद् यश कथन, आत्मा के सुख दुःख की निवृत्ति करना और परस्पर दुरितापह हरि को स्मरण करके और कराकर भक्ति साधन करना चाहिये।

भगवान् ने उद्धव से कहा था—श्रद्धा ही भक्ति है, भक्ति से ही मुझे प्राप्त किया जाता है। मद्विषयाभक्ति चण्डाल को भी पवित्र करती है। सत्य और दया संयुक्त धर्म या तपस्या युक्त विद्या ईश्वर-भक्तिहीन आत्मा को परिशोभित नहीं कर सकती। भक्ति के विना चित्त शुद्ध नहीं होता। मदीय भक्तियोग से आत्मा सभी कर्मवासनाओं का परित्याग करके मत्स्वरूपता लाभ करती है। मदीय पुण्यमय कथाओं का श्रवण और कीर्त्तन करके आत्मा पवित्र होती है और सूक्ष्म सूक्ष्म सभी तत्वों को देख पाती है। जो विषयों का चिन्तन करते हैं, उनकी आत्मा विषयों में निविष्ट (मग्न) हो जाती है, जो मेरा चिन्तन करते हैं, उनकी आत्मा मुझमें ही निविष्ट (मग्न) हो जाती है। इस कारण स्वप्न तुल्य सभी असत् चिन्ताओं को छोड़कर भक्ति-पूर्ण मन को मुझमें ही समर्पण कर देना चाहिये। धीर व्यक्तियों को चाहिये कि, कामिनियों और कामिनी-संगियों का संग परित्याग करके निर्जन और भयशून्य स्थान में बैठकर आलस्यरहित होकर मेरा चिन्तन करें। धीर गण कामिनी

संग के कारण जिस तरह कष्ट भोग करते हैं, किसी अन्य बात से उस तरह का कष्ट भोग नहीं करते।

मुमुक्षुगण किस प्रकार तुम्हारा ध्यान करते हैं, उद्धव के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा था—"न ऊँचे, न निम्न आसन पर ऋजु (सरल) शरीर से सुख से बैठ कर दोनों हाथों को गोद में रख कर, नासिका के अग्र भाग में दृष्टि लगाकर प्राणायाम द्वारा प्राणवायु का पथ शुद्ध करना चाहिये; और इन्द्रियों का अपने अपने विषयों से आकर्षित करके फिर क्रमशः विपर्यय क्रम से अभ्यास करना चाहिये। इसके बाद जिसकी नाल ऊर्ध्व में है और मुख नीचे की तरफ है, अन्तःस्थ उस हृत्पद्म को ऊर्द्धमुख, प्रस्फुटित अष्टपत्रविशिष्ट और कर्णिका सहित स्थिति में भावना करके कर्णिका में एक के बाद दूसरे के क्रम से सूर्य, चन्द्र और अग्नि का चिन्तन करना चाहिये, और उस अग्नि में मेरे रूप का ध्यान करते हुए, मनोहर अवयव सम्पन्न प्रशान्त सुन्दर मुख, सुदीर्घ मनोरम चतुर्भुज, सुन्दर हास्य, कानों में मकर कुण्डल, पीतवस्त्र परिधान, मेघ की तरह श्याम वर्ण, वनमाला विभूषित, शङ्खचक्र गदापद्मधारी, दोनों पदों में नूपुर और कौस्तुभ, प्रभाशाली उज्ज्वल किरीट, सर्वाङ्ग सुन्दर, मनोहर और प्रसन्नता के कारण मुख और नयन विकसित इस प्रकार सर्वाङ्गों में मनोनिवेश करके मेरे इस रूप का ध्यान करना चाहिये। धीर व्यक्तियों को चाहिये कि मन द्वारा इन्द्रियों को उनके अपने अपने विषयों से आकर्षित करके बुद्धि की सहायता से मन को सम्पूर्ण रूप से मुझ में अभिनिविष्ट कर दें। सर्वव्यापक चित्त को आकर्षित करके एक ही स्थान में स्थापित कर देना चाहिये, अन्यान्य अङ्गों की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। एक मात्र

आनन्द हास्य समन्वित मुख का ही चिन्तन करना चाहिये। देवता के यहाँ स्थान प्राप्त कर लेने के बाद उसको वहाँ से आकर्षित करके सर्व कारण स्वरूप आकाश में धारण करना चाहिये। उसके बाद वहाँ से आकर्षित करके उसे केवल ब्रह्म स्वरूप मुझमें निविष्ट करके ध्याता और ध्येय के भेद की चिन्ता छोड़ देनी चाहिये। इस प्रकार चित्त धारण करने से आत्मा में मुझको और मुझको आत्मा में देख पाओगे।

नियमानुवर्तिता

साधन-क्षेत्र में नियमानुवर्तिता की नितान्त आवश्यकता है, इसके व्यतिक्रम से सफलता प्राप्ति असम्भव है। आहार, विहार, शयन, यहाँ तक कि साधना करते समय स्थान और आसन तक के नियमों की रक्षा करके चलना पड़ेगा। सारांश यह कि मन को यथेच्छ रूप से चलने देने से काम न चलेगा। सारथी जैसे दुष्ट अश्व को संयत कर रखता है वैसे मन को संयत करके रखना पड़ेगा। सभी जानकार व्यक्ति इस विषय की प्रयोजनीयता स्वीकार करेंगे। इस स्थान पर मैं वर्तमान युग के एक श्रेष्ठ साधक श्रद्धास्पद स्वर्गीय केशवचन्द्र सेन जी का उपदेश उद्धृत

प्रतिदिन निर्दिष्ट स्थान पर उपासना करना उचित है। × × × स्थान में धर्म बद्ध नहीं है यह बात ठीक है किन्तु स्थान के सम्बन्ध में स्वेच्छाचारी होना उचित नहीं है। × × × × इस प्रकार के साधन से मन का संयम, मन के ऊपर अधिकार प्राप्त होगा। परिवर्तन से तत्काल उपकार हो सकता है अवश्य किन्तु जितना परिवर्तन करोगे उसके साथ साथ मन का परिवर्तन होता रहेगा, किन्तु स्थिर रखने से उनके साथ ही साथ मन की दृढ़ता होती रहती है। आसन के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है। × × × × बैठने के संबन्ध में शरीर की स्थिरता आवश्यक है। साधन के आरम्भ में इस नियम में विशेष रूप में आबद्ध रहना चाहिये। बार बार हाथ इधर उधर चलाने आदि, तरह तरह की भावभंगियों, आँखें खोल देने, बन्द कर देने, दिशा परिवर्तन को बहुतेरे साधारण बात समझते हैं, किन्तु स्थैर्यसाधन में ये सब बिलकुल ही त्याग करने योग्य हैं। आत्म संयम शरीर संयम के साथ सम्बन्ध रखता है। शरीर स्थिर रहने से महत् विषयों में भी मन स्थिर होता है।"

साधना प्रणाली का एक तरह रहना आवश्यक है।

साधना की जो प्रणाली ग्रहण की गयी है उसको सदा सर्वदा परिवर्तन करते रहना अत्यन्त स्वेच्छाचारिता है। यह सर्वथा परित्याज्य है। एक ही प्रणाली के अनुसार साधना का कार्य जारी रखना होगा। बहुत दिन नियमित रूप से साधन करके भी यदि कोई लाभ तुमको न मिले तो उसे छोड़ सकते हो, किन्तु यह भी खूब विचार-पूर्वक करना चाहिये। यह साधना मुझे अच्छी नहीं लगी इस लिए ही अपनी खुशी से ही उसे छोड़ देना

के स्थान को सुरभिमोदित कर देना चाहिये। कम से कम उस स्थान में दुर्गन्ध न रहे, और वह बहुत ही साफ सुथरा रहे। कुचिन्ता उद्दीपक कोई चित्र या दृश्यादि न रहें इस सम्बन्ध में विशेष सतर्कता अवलम्बन करना उचित है। साधन-गृह में वायु का आना-जाना हो सके और सूर्यालोक की अबाध गति में रुकावट न उत्पन्न हो ऐसा होने से ही अच्छा होगा।

साधना का समय

सूर्योदय के कम से कम ढाई दण्ड या एक घंटा पहले उठकर शौचादि कार्य समाप्त करने के बाद, रात्रिकालीन कपड़े छोड़ कर, असुविधा न रहने से उसी समय तुरन्त ही स्नान करके सन्ध्योपासना के लिए संयतवाक् होकर आसन पर बैठ जाना चाहिए। सूर्योदय के बाद भी ढाई दण्डसमय तक—प्राणायाम जपादि साधन करना चाहिये। जो असमर्थ हों उन्हें चाहिये कि सूर्योदय के एक दण्ड पहले आसन पर बैठ जावें, और सूर्योदय के बाद भी एक दण्ड समय तक जपादि साधना करें। मध्याह्न में और सायंकाल भी इसी प्रकार करना चाहिये। मध्याह्नकाल की विशेषता यह है कि उस समय सन्ध्यादि कार्य पूरा करने के बाद तर्पणादि करना आवश्यक है।

जो जितना अधिक इसमें समय देंगे और मनःसंयोग पूर्वक श्रद्धालु चित्त से साधना में प्रवृत्त होंगे, वे उतना ही शीघ्र साधनसम्भूत शान्तिलाभ करने में समर्थ होंगे। साधना में प्रयत्न का अभाव, शैथिल्य या आलस्य साधना-सिद्धि में विशेष विघ्नकर हैं। साधना में तीव्र वेग रहने से ही साधक को सिद्धिलाभ सहज होता है। प्रथम श्रेणी के साधक दो से तीन पहर तक साधना करने से भी क्लान्त

ठीक बात नहीं है। सभी साधनाएँ ज्ञान लाभ के पक्ष में अनुकूल हैं इस कारण लोभातुर चित्त से पुनः पुनः साधन प्रणाली परिवर्तन करते रहने से चित्त का स्थैर्य और उसकी दृढ़ता नष्ट हो जाती है और कोई भी लाभ नहीं मिलता। ऐसा चञ्चल व्यक्ति किसी दिन भी योग बल नहीं पा सकता।

साधना का स्थान

साधना का स्थान खूब निर्जन होना चाहिये। जिस स्थान में विक्षेप उपस्थित होने की सम्भावना अधिक हो वैसे स्थान सर्वथा परित्याज्य हैं। जो गृहस्थ दरिद्र हैं, उनको अपने घर में ही स्थान ठीक कर लेना चाहिये। किन्तु उनके लिए भी यह नियम रहना आवश्यक है कि वर्ष के अन्त में दो एक महीने तक, कम से कम पन्द्रह दिन भी परिचित गृह, परिजनों से किसी दूर के निर्जन विघ्नशून्य स्थान में जाकर साधना आदि करें। कभी कभी इस तरह बाहर न निकल जाने से घर-गृहस्थी के झमेलों से चित्त की कोमलता और दृढ़ता को जो क्षति पहुँचती है उसकी फिर पूर्ति नहीं हो पाती। इस कारण निर्जन-वास साधकजीवन के लिए नितान्त ही आवश्यक है। साधना के लिए जो स्थान नियत करोगे वह ऊबड़खाबड़ या असमतल न रहे इस पर ध्यान रखना होगा। "चैला-जिनकुशोत्तरम्" अर्थात् पहले कुशासन, उसके बाद मृगचर्म, उसके ऊपर कपड़ा बिछा कर साधनाभ्यास करना चाहिये। अपने पूजा के आसन पर जैसे तैसे को बैठने न देना चाहिये। साधना के स्थान में बैठकर कोई असत् संकल्प या विषय-चिन्तन न करना चाहिये। इससे स्थान की पवित्रता-हानि होती है। सामर्थ्य रहे तो धूपचन्दनादि "गग सा "ा

के स्थान को सुरभिमोदित कर देना चाहिये। कम से कम उस स्थान में दुर्गन्ध न रहे, और वह बहुत ही साफ सुथरा रहे। कुचिन्ता उद्दीपक कोई चित्र या दृश्यादि न रहें इस सम्बन्ध में विशेष सतर्कता अवलम्बन करना उचित है। साधन-गृह में वायु का आना-जाना हो सके और सूर्यालोक की अवाध गति में रुकावट न उत्पन्न हो ऐसा होने से ही अच्छा होगा।

सूर्योदय के कम से कम ढाई दण्ड या एक घंटा पहले उठकर शौचादि कार्य समाप्त करने के बाद, रात्रिकालीन कपड़े छोड़ कर, असुविधा न रहने से उसी समय तुरन्त ही स्नान करके सन्ध्योपासना के लिए संयतवाक् होकर आसन पर बैठ जाना चाहिए। सूर्योदय के बाद भी ढाई दण्डसमय तक—प्राणायाम जपादि साधन करना चाहिये। जो असमर्थ हों उन्हें चाहिये कि सूर्योदय के एक दण्ड पहले आसन पर बैठ जावें, और सूर्योदय के बाद भी एक दण्ड समय तक जपादि साधना करें। मध्याह्न में और सायंकाल भी इसी प्रकार करना चाहिये। मध्याह्नकाल की विशेषता यह है कि उस समय सन्ध्यादि कार्य पूरा करने के बाद तर्पणादि करना आवश्यक है।

साधना का समय

जो जितना अधिक इसमें समय देंगे और मनःसंयोग पूर्वक श्रद्धालु चित्त से साधना में प्रवृत्त होंगे, वे उतना ही शीघ्र साधनसम्भूत शान्तिलाभ करने में समर्थ होंगे। साधना में प्रयत्न का अभाव, शैथिल्य या आलस्य साधना-सिद्धि में विशेष विघ्नकर हैं। साधना में तीव्र वेग रहने से ही साधक को सिद्धिलाभ सहज होता है। प्रथम श्रेणी के साधक दो से तीन पहर तक साधना करने से भी क्लान्त

नहीं होते। द्वितीय श्रेणी के अभ्यासी कम से कम पाँच छः घंटे तक साधनाभ्यास का प्रयत्न करें। तृतीय श्रेणी के अभ्यासी का साधनकाल कम से कम तीन चार घंटे का होना चाहिये।

सभी साधकों को ही कम से कम दो ढाई घंटे का समय साधना में देना चाहिये, नहीं तो वे विशेष कुछ भी अनुभव न कर सकेंगे। केवल नाम के लिए एकाध घंटे के साधन से कुछ भी होनेवाला नहीं है। फिर भी बिलकुल ही न बैठने की अपेक्षा थोड़े थोड़े समय तक बैठना भी अच्छा है। उससे भी कुछ उपकार अवश्य ही होगा। रात्रि का अन्तिम प्रहर साधना के लिए रख सकने से अत्युत्तम होगा, कम से कम सूर्योदय के पहले ही आसन पर बैठ जाना चाहिये। उधर भी सूर्यास्तकाल से लेकर कम से कम अर्ध प्रहर (डेढ़ घंटे का समय) साधना में दे सकने से अच्छा होगा। इस समय का कुछ अंश ध्यान में, कुछ अंश जप में, कुछ अंश अर्चना और अध्ययनादि में देना चाहिये। साधक अपनी अवस्था की उन्नति के साथ यह समय विभाग अपनी सुविधा के अनुसार स्थिर कर सकेंगे। आवश्यकता पड़ने पर गुरु का आदेश ग्रहण करके तदनुसार प्रयत्न करना चाहिये।

साधना में संयम और विरुद्ध चिन्ताओं का परिहार

चित्त की चंचलता उपस्थित न होने पावे इसके लिए यम, नियम, आसन के अभ्यास में मनोयोगी होना चाहिये। साधन अल्प परिमाण में होने पर भी, प्रतिदिन नियम पूर्वक करना चाहिये। जिस समय चित्त को निर्विषय करने की चेष्टा कर रहे हो, उस समय यदि शुभ चिन्ता भी चित्त में उदित हो जाय तो वह

भी परित्याज्य है। उस समय सब चिन्ताओं को ही शत्रु मान लेना होगा।

किसी दिन अल्पक्षण, किसी दिन बहुक्षण, किसी दिन हुआ ही नहीं—इस प्रकार से साधना करना स्वेच्छाचार है, उससे कोई उपकार नहीं होता। वरन् प्रतिदिन, यथा-समय, यथास्थान मे दस मिनट समय तक साधना करना अच्छा है, तथापि मन के मौज से किसी दिन तीन घंटे, किसी दिन आध घंटा, किसी दिन पाँच मिनट, किसी दिन कुछ भी नहीं इस तरीके से साधना करना अन्याय है। इससे कुछ फल नहीं होता। यदि अवसर न रहे, अत्यल्प काल के लिए भी ठीक समय पर बैठना चाहिये। प्रतिदिन अथवा एक एक सप्ताह के बाद या एक पखवारे के बाद पाँच छः मिनट के क्रम से साधना का समय बढ़ाना अच्छा है, किन्तु जितना बढ़ाओगे उतने को बराबर ठीक रखना चाहिए। नहीं तो उन्नति समझ न सकोगे। चित्त को चिन्ता शून्य करने की चेष्टा या दृष्टि को स्थिर करने की चेष्टा का प्रतिदिन नियमित समय के क्रमसे अभ्यास करने पर आगे बढ़ना जारी है या नहीं सहज में ही समझा जा सकता है।

प्रति दिन शास्त्रग्रन्थ अध्ययन करना चाहिये। किन्तु केवल शास्त्राध्ययन करने से कोई फल या लाभ नहीं होता। शास्त्राध्ययन करके साधन करना होगा, नहीं तो केवल अध्ययन और श्रवणद्वारा विशेष सुफल नहीं मिलता। शास्त्रादि पाठ कर के जिनका चित्त ब्रह्मानुसन्धान में सचेष्ट और व्याकुल नहीं होता, उनका शास्त्रपाठ व्यर्थ हो जाता है। भागवत में लिखा है—"शब्द ब्रह्मणि निष्णातः न निष्णायात् परे यदि। श्रमः तस्य श्रम फलम् ह्यधेनुमिव रक्षतः।" जो शब्द ब्रह्म में अभिज्ञ अर्थात् शास्त्रज्ञ हैं, किन्तु शास्त्रों के उपदिष्ट विषयों

में निष्ठ नहीं हैं, वे अध्ययनादि द्वारा शब्द ब्रह्म के पार जा कर भी भगवद्ध्यान भक्तिविहीन हों तो उनका शास्त्र-पाठ केवल श्रम मात्र ही रहता है, जिस प्रकार वन्ध्या गाय पालन करना पालन करने वाले का व्यर्थ श्रम होता है—अर्थात् दुग्धादि लाभ से वह वञ्चित रहता है। इस सम्बन्ध में भी नियम रक्षा वाञ्छनीय है। किन्तु जो कुछ भी पढ़ो उसके सम्बन्ध में पुनः पुनः अभिनिवेश के साथ चिन्तन करना चाहिये। भगवद्लीला, उनकी करुणा या उनकी महिमा की बात अथवा कोई ज्ञान की कथा या कोई संयम की बात जब जो भी पढ़ो उस पर विशेष मनन करके पढ़ना चाहिये। इससे भी चित्त स्थिर होता है। जब जिस विषय को पढ़ने लगो, या सोचने लगो, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी चिन्ता को उस समय न आने देना चाहिये। श्रद्धालु चित्त से शास्त्र ग्रन्थ अध्ययन करने से, उनकी मर्म कथा की आप ही आप उपलब्धि होती रहेगी। श्रद्धा के साथ शास्त्र पढ़ते पढ़ते संशय दूर हो जाता है, हृदय आनन्द से भर जाता है। 'गीता हो, भागवत हो, उपनिषद् हो,—किसी एक ग्रन्थ के किसी एक श्लोक का (जो चित्त को सरस और सबल बना दे) पुनः पुनः स्मरण चिन्तन और उसके भावों को निविड़ रूप से ग्रहण करने की चेष्टा करनी चाहिये। एक श्लोक को आयत्त करके यदि सम्भव हो फिर एक और श्लोक को देखना चाहिये। ढेर के ढेर ग्रन्थों को व्यर्थ पढ़ने से लाभ नहीं होता। एक ग्रन्थ के एक ही श्लोक के अनुसार चल सकने से जीवन धन्य और कृतार्थ हो जाता है। अति यत्नपूर्वक, भक्ति के साथ स्तोत्रों की आवृत्ति करनी चाहिये। इससे मन प्रफुल्ल होता है और चित्त भक्ति

सद्ग्रन्थ अध्ययन स्तोत्रगीतादि।

रस से भर जाता है। पूजादि समाप्त करने के बाद या साधनादि पूरा करके, इन स्तोत्रों का पाठ करना चाहिये। भगवत् सङ्गीत भी उपासना के बाद विशेष फलप्रद है।

शास्त्रग्रन्थ और भगवद्भजन।

शास्त्रादि पाठ का फल यही है कि भगवती कथा सुनते सुनते चित्त भगवान के प्रति श्रद्धालु हो जाय और लुब्ध हो जाय। इस प्रकार श्रद्धालु चित्त से भगवत् भजन करते करते भगवद्भक्ति प्राप्त करने से जीव कृतार्थ हो जाता है। यही यथार्थ परम धर्म है। धर्म के पृथक् पृथक् अङ्गादि अनुष्ठान का यही साक्षात् फल है।

'स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।'

काम्यफल या भोगादि ऐश्वर्य के लिये धर्म का अनुष्ठान न करना चाहिये, धर्मानुष्ठान द्वारा जीव तत्त्वजिज्ञासु बनता है, और तत्त्व जिज्ञासा का उदय न होने से भगवद् स्वरूप अपरिज्ञात ही रह जाता है और पुनः पुनः जन्म-मरण के महा क्लेश से निष्कृति पाने की सम्भावना नहीं रहती। चतुराश्रम और वर्णाश्रम विहित समस्त धर्म-कर्म का उद्देश्य ही है हरितोषण, अतएव इस भगवद् भजन द्वारा भक्ति और ज्ञानलाभ करके मनुष्य जीवन सफल बनाना सभी बुद्धिमान व्यक्तियों का कर्तव्य है। श्री मद्भागवत् में लिखा है—

"तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥
यदनुध्यासिना युक्ताः कर्म ग्रन्थि निवन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथा रतिम्॥

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत् सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥
शृण्वन्तां स्वकथा कृष्णः पुण्यश्रवण कीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥"

अतएव एकमन होकर भक्तपालक भगवान की गुणगाथा श्रवण करना, उनका नाम कीर्त्तन करना, उनका ही ध्यान और उनकी ही पूजा एकान्त कर्त्तव्य है। जिनकी ध्यान-रूप असि द्वारा पण्डितगण कर्मपाश छेदन करते हैं, उसी भगवानका गुणकीर्त्तन सुनने की उत्सुकता किसको नहीं उत्पन्न होती? पुण्यतीर्थ सेवा और महत् व्यक्ति की सेवा द्वारा श्रद्धा का उदय होता है और श्रद्धा से भगवत् कथा में मन की रुचि होती है। इस हरिकथा के श्रवण और कीर्त्तन से ही अमङ्गल अर्थात् विषय वासना उनके अन्तःकरण से भगवान् दूर कर देते हैं। इस प्रकार नित्य भगवत सेवा द्वारा समस्त अमङ्गल नष्टप्राय हो जाने पर उत्तम श्लोक भगवान् में भक्ति का उदय होता है। इस भक्ति के सहयोग से हृदय काम, क्रोध, लोभादि शून्य

हो जाने से मन को परम प्रसन्नता प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रसन्न मानस और भगवद्भक्ति के सहारे भगवत्तत्त्व अर्थात् आत्मज्ञान-लाभ होता है। ज्ञानोत्पत्ति के साथ आत्मसाक्षात्कार होता है, इस तरह हृदयग्रन्थि के छिन्न हो जाने से सर्व संशय विदूरित हो जाते हैं। इन्हीं सब कारणों से पण्डितगण परम आनन्द से वासुदेव में नित्य भक्ति करते रहते हैं।

श्रीमद्भागवत में महर्षि कपिल देव ने अपनी माता देवहुति को परमार्थतत्त्वविषयक यह मनोहर उपदेश प्रदान किया था:—"जननि! निष्काम धर्म, निर्मल मन, मेरे गुणकथन द्वारा वर्द्धित मद्विषयक दृढ़भक्ति योग, तत्त्वज्ञान, प्रबल वैराग्य, तपस्या के साथ अति कठिन आत्मसमाधि, इन सबसे पुरुषों की प्रकृति बार बार दग्ध होती रहती है, इसलिये अग्नि की उत्पत्ति का कारण जो काठ है उसकी ही तरह वह क्रमशः विलुप्त हो जाती है।' प्रकृति के विलुप्त हो जाने पर फिर वह परमानन्द प्राप्त किये हुए पुरुष का अमङ्गल करने में समर्थ नहीं रह जाती। पुरुष जब बहु जन्मजन्मान्तरों में इस प्रकार आत्मानुरक्त होकर ब्रह्मलोक तक सभी स्थानों में ही वैराग्य अवलम्बन करके मेरे प्रति अतिशय भक्तिमान होकर मेरे प्रसाद से यथार्थ परमार्थ तत्त्व जान लेने में समर्थ हो जाते हैं, तब कैवल्य नामक देहातिरिक्त स्वरूप प्राप्त हो जाने के कारण निरतिशय आनन्द प्राप्त करते हैं।"

इसका ही नाम है चित्तशुद्धि—यही भगवदुपासना का साक्षात् फल है।

उपर्युक्त नियमादि यथोपयुक्त रीति से प्रतिपालित होने से आत्मसाक्षात्कार सहज साध्य हो जाता है।

"ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति
केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन
कर्मयोगेन चापरे॥

आत्मसाक्षात्कार करने की विधि

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥"

कोई कोई ध्यानयोग द्वारा देह में ही आत्मा को देखते हैं, अपर कोई कोई सांख्ययोग अर्थात् तत्त्व विचार द्वारा और कोई तो कर्मयोग अर्थात् पातञ्जलोक्त साधन-प्रणाली द्वारा इस आत्मा को देखते हैं। दूसरे कोई कोई इन ज्ञानों और साधन-प्रणालियों को सम्यक् अवगत न होने से केवल गुरु के मुख से श्रवण करके स्वल्पाधिकार के अनुरूप साधनादि द्वारा उनकी उपासना करते हैं। मन्दाधिकारी होते हुए भी ये सब साधक मृत्यु को अतिक्रम करते रहते हैं। अर्थात् भगवान की अप्राप्ति रूपी जो महा विनाश है उससे वे लोग रक्षा पा जाते हैं। एक बार भी जो उनकी शरण ले चुका है उसके लिए फिर कोई चिन्ता की बात नहीं है।

सप्तम अध्याय

ब्रह्मविद्या

ज्ञानयोग

चित्त शुद्ध होने से ही ज्ञान का उदय होता है। शास्त्र में कहा गया है :—

"ज्ञानं तत्त्वविचारेण निष्कामेनापि कर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदूषां निर्म्मलात्मनाम्॥"

तत्त्व विचार के साथ निष्काम कर्म करने से तमः के क्षय प्राप्त हो जाने पर आप ही आप ज्ञान का उदय हो जाता है। प्रह्लाद जी ने कहा है :—

"स्तुत्या प्रणत्या विज्ञप्त्या शमेन नियमेन च।
लब्धोऽयं भगवानात्मा दृष्टश्चाधिगतः स्फुटम्॥"

स्तुति, प्रणति, आत्मनिवेदन, शम और नियमसाधन (शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान) के प्रभाव से भगवानात्मा दृष्ट और लब्ध होते हैं। वह परमात्मा या भगवान कहने से क्या समझना चाहिये, इसका निर्देश शास्त्र ने किया है—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥"

तत्त्वज्ञ व्यक्तिगण अद्वय ज्ञान को ही तत्त्व के नाम से वर्णन करते हैं। उस अद्वय ज्ञानतत्त्व को कोई तो ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान शब्द से पुकारते हैं।

इस आत्मसाक्षात्कार के उपाय का नाम ही ब्रह्मविद्या या पराविद्या है। आचार्य शङ्कर ने कहा है—"विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या।"—जो ब्रह्मगति प्रदान करती है वही विद्या है। यह ब्रह्म विद्या गुरुमुख से जान लेनी पड़ती है। यह केवल शास्त्र पढ़ने से नहीं होती। इसीलिये पूर्वकाल में मुमुक्षु साधकगण आत्मतत्त्व जान लेने के लिये ही समित्-पाणि होकर विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाते थे। उद्देश्य रहता था गुरु से आत्मसाक्षात्कार का उपाय जान लेना, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार के विना जीवों की पुनः पुनः संसारगति निवृत्त नहीं होती।

ब्रह्मविद्या

हमारे देश के करुणामय ऋषिगण मानव के कल्याणार्थ आत्मसाक्षात्कार के बहुविध उपाय निर्देश कर गये हैं। उनमें से ज्ञान, भक्ति और कर्म ये त्रिविध मार्ग ही प्रधान हैं। ये उपाय भिन्न होने पर भी इन सभी का लक्ष्य वही एक है—आत्म-साक्षात्कार या संसार वन्धन से मुक्तिलाभ करना। ये विभिन्न पथ आत्मसाक्षात्कार के लिए विहित होने पर भी अधिकार के अनुसार इसका अवलम्बन करना चाहिये। गुरु ही यह अधिकार ठीक कर देते हैं, स्वेच्छानुसार ग्रहण करने को तत्पर होने से पग पग पर पथ भ्रान्ति हो जाना सम्भव है। ये तीन पथ तीन प्रकार के प्रकृति वाले जीवों के लिए व्यवस्थित होने पर भी इन तीनों को न्यूनाधिक एक ही साथ अवलम्बन करके मनुष्य को चलना पड़ता है। एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करना एक तरह से असम्भव ही कहा जा सकता है। भेद यह है कि ज्ञान मार्ग में ज्ञान प्रधान रहता है अन्य दोनों अप्रधान रूप से रहते हैं, भक्ति

पन्थात्रय

मार्ग में भक्ति मुख्य रहती है अन्य दोनों गौण रहते हैं और कर्म मार्ग में कर्म प्रधान रूप से और अन्य दोनों गौण रूप से अवलम्बित होते हैं। जिनके चित्त में साधु संग के प्रभाव से विवेक का उदय नहीं हुआ है, इस कारण जिनका चित्त सम्पूर्ण मलयुक्त है, और जो लोग जागतिक काम्य पदार्थ की कामना से मुग्ध हैं, वे लोग उस अवस्था में ईश्वराराधना करने पर भी इन सब वस्तुओं की प्राप्ति की लालसा में अत्यन्त व्यग्र रहा करते हैं। भोग सुखासक्त चित्त वाले ये सब मनुष्य इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि भोग सुख के अतिरिक्त चाह की और भी कोई वस्तु अवशेष है। ये लोग सकाम हैं, इसलिए स्वर्ग प्रापक तपस्या, दान, यज्ञादि इनके लिए विहित माने गये हैं। इन्हीं लोगों को कर्मयोग का अवलम्बन करना चाहिये। किन्तु जो लोग इससे सन्तुष्ट नहीं हैं, पृथ्वी में असपत्नमृद्ध राज्य पा लेने पर भी जिन लोगों का चित्त सुखी नहीं है, वे लोग स्वर्ग प्रापक यागयज्ञादि लेकर सन्तुष्ट न हो सके। उन लोगों ने देखा अनन्त तरङ्ग विक्षोभित सागर की तरह मनुष्य का भाग्य निरन्तर अस्थिर और चञ्चल है। सुख का उज्ज्वल दिवा दुःख की अंधेरी रात में डूब जाता है। जन्म मृत्यु सुख-दुःख का चक्रनेमी प्रतिक्षण विघूर्णित होता हुआ मानव को इस जागतिक सुख दुःख का अचिरस्थायित्व और दुःख-मयत्व अति निर्ममभाव से समझाता जा रहा है। कितना आशान्वित होकर, कितना प्रिय समझकर जिसको अवलम्ब करके तुमने इस संसार वृक्ष पर नीड़ तैयार किया—सोच लिया था बहुत ही सुख से दिन बिताऊँगा, यह आनन्द का दिन फिर समाप्त ही न होगा, प्रेममदिरा का यह नशा किसी तरह भी न छूटेगा—हाय! तुम्हारी वही प्रिय वस्तु काल के

अमोघ नियमों के अधीन होकर तुमसे तुम्हारी आँख के सामने से विच्छिन्न हो गयी। कुछ दिन पहले भी जिसकी कल्पना करने में भी हृत्कम्प होने लगता था, वही प्रिय वस्तु तुम्हारी हृदयतन्त्री को छिन्न भिन्न करके अपनी साध के खेल को पूरा करके किसी अदृश्य देश में चली गयी, बहुत साध्य साधना से जिसको फिर एक बार आँखों से देख भी न पाओगे। तो किस लिए—ऐसी अध्रुव इतनी क्षण भंगुर वस्तु पाने के निमित्त- इतना व्याकुल होने से क्या लाभ है ? तो क्या प्राणों की जो इतनी आकांक्षाएं हैं वे केवल अपूर्ण रह जाने के ही लिए हैं ? प्राणों में जो इतनी आशाएं हैं, जो इतनी व्याकुलताएं हैं वे क्या केवल निराशाओं में परिसमाप्ति के ही लिए हैं। हृदय में परिपूर्ण मेरे इतने स्नेह इतने प्रेम को ग्रहण करने वाला क्या कोई अविनश्वर चिर-स्थायी पदार्थ नहीं है, तो क्या केवल बैठे बैठे रोते रहना और मरण की प्रतीक्षा करते रहना ही जीवन की एक मात्र नियति है ? यही है समस्त हृदयों का करुण क्रन्दन। इसी कारण वे करुणार्द्र ऋषिगण जगत् की गंभीर मर्म वेदना से व्यथित और पीड़ित होकर इसके उपाय अन्वेषण करने में सचेष्ट हो गये।

"किं कारणं ब्रह्मकुतः स्म जाता जीवाव केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्म विदाव्यवस्थाम् ॥"

वह कारण क्या है, हम कहाँ से आये हैं, किस कारण जीवन धारण करने में समर्थ हुए हैं, हमारी वह प्रतिष्ठा या आश्रयस्थान क्या है ? हे श्रेष्ठ कारणविद् गण ! तुम लोग क्या जानते हो हम किस कारण के वशवर्त्ती होकर इस सुख दुःख की व्यवस्था में नियमित होकर पड़े हुए हैं ?

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः ।
केनेषिता वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति"

किसके द्वारा अभिप्रेत या प्रेरित होकर यह मन विषयों की ओर दौड़ जाता है, किससे नियुक्त होकर मुख्य प्राण गमनागमन करते हैं, किसके अभिप्राय से प्रेरित होकर लोग इन वाक्यों का उच्चारण करते हैं, कौन देवता आँखों और कानों को उनके अपने अपने कर्मों में नियुक्त करते हैं। इन सुगम्भीर प्रश्नों का उत्तर ऋषियों ने ध्यान निमग्नावस्था में पाकर उसका ही जगत् के हितार्थ प्रचार किया था। ऋषियों के ध्यानलब्ध ये उपाय ज्ञान, योग और भक्ति नाम से पुकारे गये हैं। यही है **ब्रह्म विद्या।**

भागवत में भगवान् ने उद्धव से कहा है—मैंने मनुष्यों की मङ्गल कामना से ज्ञान कर्म्म और भक्तियोग की बातें बतायी हैं। इन तीन योगों के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

> योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
> ज्ञानं कर्म्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्तिकुत्रचित् ॥
> निर्विण्णानां ज्ञान योगो न्यासिनामिह कर्मसु।
> तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
> यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
> न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्यसिद्धिदः ॥
> तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येतयावता।
> मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्नजायते ॥

जो लोग कर्मफलों में विरक्त हैं ऐसे त्यागी पुरुषों के लिए ही ज्ञानमार्ग है, और जो लोग कर्म्मफल भोगसुखादि में आसक्त हैं उनके लिए ही कर्ममार्ग है। और किसी तरह

भाग्योदयवश मेरी कथा आदि में जिन लोगों की श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, जो लोग कर्मफलों में विरक्त भी नहीं हैं आसक्त भी नहीं हैं, उन्हीं लोगों के लिए भक्तियोग है। हे उद्धव! जबतक कर्मफलों में विरक्त न हो जाय अथवा मेरी कथा श्रवण करने में श्रद्धावान न बन जाय तबतक सब कर्म करते रहना चाहिये। किन्तु—

> जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
> वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः।
> ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः॥

जो लोग मेरी कथाओं में श्रद्धान्वित हैं और सभी कामों को दुःखदायक जानकर कर्मफल में विरक्त हैं किन्तु सम्पूर्ण परित्याग करने में असमर्थ हैं ऐसे व्यक्तियों को श्रद्धालु और दृढ़ निश्चय होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करना चाहिये।

ऐसे भजनकारियों की कर्मासक्ति क्रमशः दूर हो जाती है, और वे निर्विण्ण होकर ज्ञानलाभ की योग्यता प्राप्त करते हैं। यही भक्तिसाधना का लक्ष्य है। और जिन लोगों की कर्म के प्रति बिलकुल ही आसक्ति नहीं है, फल के प्रति भी यथेष्ट विरक्त हैं ऐसे व्यक्तियों को चाहिये कि संयतेन्द्रिय होकर, जिस रीति से मन आत्माभ्यास में अटल हो सके उस रीति से मन को धारण करें।

> "यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
> अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥

सहज नहीं है। देहादि के संस्कार बहुत ही कठिन हैं, समझने पर भी ये एक ही क्षण में सारी समझ बूझ को उलट देते हैं। "अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः"—यही मुमुक्षु, हृदय की ऐकान्तिक व्यथा है। काम रजोगुण से उद्भूत होता है, सत्त्वगुण की यथेष्ट वृद्धि न होने से फिर इस वासना के अत्याचार से मुक्ति नहीं है, इस कारण इस काम को शासन करने के लिए कितना सुचिरकाल व्यापी साधन करना पड़ेगा यह कौन बता सकता है?

जो लोग कपिल, शुकदेव, जड़ भरतादि की तरह आजन्म ज्ञानी हैं, जो लोग स्वभावतः ही संसार विरक्त हैं, बहुजन्म सञ्चित तपस्या के फलस्वरूप जिन्हों ने ज्ञानारूढ़ होकर ही जन्म ग्रहण किया है, जिनके अन्तःकरण से तमोमल निःसंशय रूपसे दूर हो चुका है, जो लोग आत्मातिरिक्त और कुछ भी अनुभव नहीं कर सकते उन लोगों के लिए मुक्ति लाभ अवश्य ही सहज है, वे लोग गुरुमुख से केवल एक ही बार वेदान्त श्रवण करके अथवा गुरु निरपेक्ष रहने की हालत में भी आत्म प्रत्यय द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार करके कृतार्थ हो सकते हैं, उन्हीं लोगों के लिये ज्ञान योग है। किन्तु जो लोग ज्ञान पथ के गमनेच्छु हैं, यहाँ तक कि ज्ञान से आकर्षित हैं, विषय स्वाद युक्त नहीं मालूम होता, तो भी व्यापार शून्य होने में असमर्थ हो रहे हैं उन्हीं लोगों के लिए योगमार्ग है। सुप्रसिद्ध योगी स्वर्गीय श्यामाचरण लाहिड़ी महोदय कहा करते थे, "जिन लोगों के पालों पर हवा नहीं लगती उन्हीं लोगों की नावों को डोरी से खींचना पड़ता है।" योगमार्ग ज्ञानमार्ग का ही एक साधन मात्र है। समझ चुका है तो भी विक्षेपादि कारणों से मन को निश्चल करने में समर्थ नहीं हो रहा है, सुखी नहीं है

फिर भी व्यवहारिक जगत् में कर्म चेष्टा छोड़ने में समर्थ नहीं हो रहा है, आत्मसाक्षात्कार के लिए लोलुप है तो भी देहादि का भान छूट नहीं रहा है, इन्द्रिय भोग्य विषय अभिरुचिकर नहीं हैं फिर भी उन्हें छोड़ देने में सक्षम नहीं हो रहा है, इस प्रकार के पुरुषों के लिए ही पातञ्जलोक्त योग-मार्ग विहित माना गया है। ज्ञानलाभेच्छु अधिकांश व्यक्तियों के लिये योगपथ ही मुक्तिलाभ का उपाय है। यहाँ तक कि भक्तिपथावलम्बी व्यक्तियों और कर्मियों के लिए भी यह योगपथ अवलम्बनीय है।

परवर्त्ती अध्यायों में इस सम्बन्ध में आलोचना करूँगा। सर्वोच्च अधिकारियों के लिए ही ज्ञानमार्ग है, खूब कम लोगों को ही इस पथ का अधिकार रहता है।

ज्ञान मार्ग। एक मात्र प्रकाशात्मा परमात्मा ही मौजूद हैं—इस प्रकार के अवधारण का नाम ही सम्यक् ज्ञान है। ये दृश्यमान पदार्थ मात्र ही आत्मा हैं, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इस प्रकार के निश्चय का नाम ही सम्यक् ज्ञान है।

"ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते तदा॥"

विक्षेपादि रहित, सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वमय ब्रह्म ही मैं हूँ, मेदमांसमज्जादिमय शरीर मैं नहीं हूँ इस प्रकार के बोध को ही ज्ञान कहते हैं। जब तक इस संसार और संसार की समस्त वस्तुओं के प्रति पृथक् पृथक् ज्ञान रहता है, तब तक वह असम्यक् ज्ञान है। सम्यक् ज्ञान द्वारा असम्यक् ज्ञान को निरस्त करना पड़ता है। असम्यक् ज्ञान के कारण इस जगत् प्रपञ्च को सम्यक् समझकर भ्रम बना रहता है और इस देह में आत्मबुद्धि का उदय होता है।

"देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्त्तिता ।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥"

मैं देह हूँ ऐसी जो धारणा है इसी का नाम अविद्या या अज्ञान है। मैं देह नहीं हूँ, मैं चिदात्मा हूँ ऐसा जो अटल भाव है उसी का नाम विद्या या ज्ञान है। इस ज्ञान का अभाव ही संसार प्रवाह का हेतु है और इस ज्ञान के उदय से ही संसार निवृत्त हो जाता है।

"अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्त्तिका ।
तस्माद् यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः ॥"

कठोपनिषद् में लिखा है :—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥

इस मनुष्य देह में ही जब हृदयगत समस्त अविद्या-ग्रन्थियाँ (शरीर, पुत्र, कलत्र, वित्तादि में जो अत्यन्त स्नेह है) विनष्ट हो जाती हैं तब यह मरणशील मनुष्य अमृतत्व-लाभ करता है।

अज्ञानहेतु कामनाद्वारा भ्रान्त जीव संसार में बद्ध हो गया है। बृहदारण्यक श्रुति ने कहा है—"काममय एवायं पुरुष इति, स यथा कामो भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।" यह जो पुरुष है ये काममय हैं—इनकी जिस प्रकार की भावना रहती है तदनुरूप कर्म या चेष्टाएँ होती हैं और जिस प्रकार का कर्म करते हैं तदनुरूप फल उत्पन्न होता है।

इस संसार का मूल कारण ही यह कामना है। यह कामना और इसका फल कितना अकिञ्चित्कर है और कितने दुःखों का कारण है यह जान लेने पर फिर कौन इस

दुःखदायक संसार की अभिलाषा करेगा ? विषय भोग जनित सुख समूह की असारता विचार पूर्वक देख लेने पर भोग सुखादि सम्पादन के लिए कौन दीर्घजीवन की कामना करेगा ? इसीलिए—

"अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ।
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥"

धीर विवेकी पुरुष इस अनन्त मृत्यु प्रवाह के बीच ध्रुव अमृत की जानकारी प्राप्त कर अदम्य भोगस्पृहा को दमन करके इस संसार के क्षण भंगुर पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं दिखाते हैं।

"तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत् सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥"

वह सूक्ष्म वस्तु ही अविकारी ब्रह्म है, वे ही प्राणों के प्राण हैं, वे वाक्यों की शक्ति और चेतन पदार्थ की चेतना हैं, वे ही सत्य हैं, वे ही अमृत हैं। हे सौम्य, इस अमृत स्वरूप आत्मा को ही तुम अपनी वेधनीय वस्तु या अपना लक्ष्य जान लेना।

इसीलिए नचिकेता संसार में जो घोर दुःख संकट मौजूद हैं, इसको भलीभाँति हृदयङ्गम करके फिर कामोपभोग पूर्ण संसार की कामना न कर सके, उन्होंने यमराज से कहा :—

"श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्,
सर्वेन्द्रियाणां ज्वरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितं स्वल्पमेव,
तवैव वाहास्तव नृत्य गीते ॥"

हे अन्तक ! आपके उल्लिखित ये सब भोग फल तक रहेंगे या नहीं इसमें सन्देह है, और इन सब अनित्य वस्तुओं

के भोग से जीवों की इन्द्रिय शक्ति भी नष्ट हो जाती है। भोगासक्त चित्त में आयुष्काल देखते देखते ही खतम हो जाता है। ब्रह्मा का आयुष्काल भी उसके लिए स्वल्प प्रतीत होता है। अतएव यानवाहन और अप्सरा नृत्य गीतादि आप रख छोड़िये, मुझे प्रयोजन नहीं है।

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"

बहुत वित्त पा लेने पर भी मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, फिर माँग बैठता है, अतएव—

"अभिध्यायन् वर्णरति प्रमोदान्,
अतिदीर्घे जीविते को रमेत।"

जिनको पा लेने से ये सब मोह कुहेलिकाएं विदूरित हो जायँगी उनको कहाँ ढूँढना पड़ेगा ?

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितंऽगह्वरेष्टं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति॥"

उस दुर्दर्श, गूढ़, प्रच्छन्न हृदय में छिपी हुई बुद्धि के अन्दर रहने वाले पुराण पुरुष को अध्यात्म योग द्वारा जान कर ज्ञानी व्यक्ति हर्ष और शोक को पार कर जाते हैं।

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्व
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥" मण्डूक

वे शान्तिमय आत्मा बाह्यचक्षु के लिए ग्राह्य नहीं हैं, वाक्य या दूसरी इन्द्रियों के लिए भी वे ग्राह्य नहीं हैं। अन्यान्य कर्मों से भी वे लभ्य नहीं हैं। ज्ञानालोचना द्वारा

जब बुद्धि निर्मल हो जाती है, अर्थात् विकल्प रहित हो जाती है, तब उस पवित्र ध्यान युक्त चित्त में ही वे दिखाई पड़ते हैं। इस आत्मा को जान लेने पर ही सब कुछ जान लिया जाता है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य., श्रोतव्यो मन्तव्या
निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि, आत्मनि खल्वरे
दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इद सर्वं विदितम् ॥"
बृहदारण्यक।

हे मैत्रेयि! वह आत्मा जो अखिल शान्ति के एक मात्र निलय है उनको देखना चाहिये, उस आत्मतत्त्व को ही पुन पुन सुनना चाहिये और उसी विषय पर चिन्तन करना चाहिये और उसके बाद उस गभीर ध्यान में डूब कर तन्मय हो जाना चाहिये, ऐसा होने से ही वह आत्मा विज्ञात हो जायेगी और आत्मा के विदित हो जाने पर, अन्य जो कुछ सुनने और समझने के लिए हैं उन सभी को फिर समझना बाकी न रह जायगा।

ज्ञान प्राप्ति का लक्षण

"यदा पञ्चा वतिष्ठन्ते
ज्ञानानि मनसासह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते
तामाहु परमा गतिम् ॥" कठ

उस ब्रह्मप्राप्ति रूप परमागति का लक्षण यह है कि उस समय पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर भाव अवलम्बन करती है अर्थात् इन्द्रिय मन बाहरी जगत् कार्य त्याग करके प्रशान्त भाव धारण कर लेते हैं, उस समय बुद्धि अपनी चेष्टाओं को छोड़कर स्थिर भाव से अवस्थित हो जाती है, अर्थात् चित्त वृत्तिशून्य हो कर परम शान्तभाव धारण कर लेता है

"मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥"

मन के द्वारा ही उस परम सत्य सर्वव्यापी आत्मा को देखना चाहिये। वहाँ नानात्व नहीं है। जगदादि असंख्य जीवों के रूप में जो कुछ दिखाई पड़ते हैं, वे असम्यक् दर्शन के ही कारण दिखाई पड़ते हैं। ये नानात्व दर्शन जितने दिन होते रहेंगे, उतने दिनों तक एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को जाना पड़ता है अर्थात् जाने आने से निवृत्ति न होगी।

"लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत् परमं पदम् ॥"

मन का लय विक्षेप रहित हो जाने से अर्थात् जड़ता और चञ्चलता को हटा कर मन को स्थिर और निश्चल कर देने से तब मन "अमनी भाव" धारण कर लेता है, उसी अवस्था को परम पद जान लेना चाहिये।

"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा।" छान्दोग्य।

जिस अवस्था में कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता, कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता, कुछ भी जाना नहीं जाता, वही भू मा या ब्रह्म पद है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जो कुछ जाना जाता है वही भ्रमोत्पादक है। इस कारण इन्द्रियों से मन के हट जाने पर जो प्रशान्त निश्चल अवस्था प्राप्त होती है, वही परम पद है। जब तक देहेन्द्रिय समन्वित 'मैं' 'अमुक' इस तरह का बोध या प्रत्यय बना रहता है तब तक जीवावस्था या बद्धावस्था बनी रहती है।

"कृशोऽतिदुःखी बद्धोऽहं हस्तपादादिमानहं।
इतिभावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ॥"

मैं कृश हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं बद्ध हूं, हस्तपादादि समन्वित मैं हूँ—इन भावों के अनुरूप व्यवहार द्वारा ही जीव बद्ध होता है।

"नाहं दुःखी न मे देहो बद्धं कर्म्म न मे स्थितं ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ॥"

मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरी देह नहीं है, इस लिए कर्म्म मुझ में किस तरह बद्ध रह सकते हैं?—इन भावो के अनुरूप व्यवहार द्वारा ही मुक्तिलाभ होता है।

"मानसे च विलीने तु यत् सुख चात्मसाक्षिकम् ।
तद्ब्रह्म चामृतं शुक्लं सा गतिर्लोक एव सः ॥"

मन के विलीन हो जाने पर जो सुख स्वरूप आत्मा या साक्षी प्रकाशित हो जाते हैं वे ही ब्रह्म हैं वे ही अमृत स्वरूप हैं, वे सब की गति है और परम लोक हैं।

"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं
ने मा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं
तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति ॥"

उस परम लोक में सूर्य्य का प्रकाश नहीं है, चन्द्र की भी किरणें नहीं हैं, विद्युत् तारकाओं का भी प्रकाश नहीं है, अग्नि की भी शक्ति नहीं है कि उसको प्रकाशित कर सके। उनके ही प्रभाव से ये सब उज्ज्वल ज्योतिष्क मण्डल प्रभान्वित होकर दीप्ति पा रहे हैं। यह स्थावर जङ्गमात्मक जगत् अन्तरीक्ष और स्वर्ग उनके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं

"नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना—
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा—
स्तेषां शान्ति शाश्वती नेतरेषाम् ॥"

अनित्य सभी पदार्थों में जो नित्य अविनाशी कारण स्वरूप है, जो ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक समस्त चेतना-युक्त जीवों के चैतन्यप्रद परमात्मा हैं, जो एक अद्वितीय होते हुए भी बहुत जीवों को कर्मानुसार भोग्य सभी वस्तुओं को प्रदान करते हैं, उनको जो धीर विवेकी पुरुषगण अपनी अपनी बुद्धि में प्रकाशमान रूप से देखते है, उन्हीं को चिर-शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं होती।

"एको वशी सर्व्वभूतात्मरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां सुखं शाश्वत नेतरेषाम्॥"

सबके नियन्ता और सब भूतों के अन्तरात्मा परमात्मा ने एक होते हुए भी, अपने अद्वितीय निज स्वरूप को बहुत प्रकार से देव, तिर्य्यग, मनुष्यादि असंख्य जीवों के रूप में प्रकाशित किया है, उसी बुद्धि से प्रकाशित चैतन्य स्वरूप परमात्मा को जो विवेकी पुरुषगण प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, उन्हीं लोगों को नित्य सुखलाभ होता है, दूसरे विषयासक्त अविवेकी पुरुषों को वह सुख नहीं होता।

"ततो यदुत्तरं तदरूपमनामयं
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।"

विश्व जगत् के अतीत वे जो परम वस्तु है वे अरूप हैं और सब तरह की दुःख व्याधियों से शून्य है, इस परम श्रेय वस्तु को जो लोग जानते हैं वे ही लोग अमृत लाभ करते हैं।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः
दिवीव चक्षुराततम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते,
विष्णोर्यत् परमं पदं॥

उन्मीलित नेत्र जैसे असीम आकाश को देखते हैं, वैसे ज्ञानीलोग उस सर्वव्यापी विष्णु का परम पद सर्वदा निरीक्षण करते रहते हैं। जो लोग उस परम सत्य चिरकल्याण प्राप्ति के लिए नितान्त अभिलाषी हैं, जो लोग जाग्रत और अप्रमत्त होकर उस श्रेयः पदार्थ के अन्वेषण में लगे हुए हैं, वे ही ज्ञानी, मेधावी धीरगण ब्रह्म के परम पद को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नाने व पश्यति॥"

इस ब्रह्मचैतन्य में जरा सा भी नानाभाव या पृथक् पृथक् भेदभाव नहीं है। यह एकत्व ज्ञान विवेक वैराग्य युक्त ध्यान समाहित मन द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। जो इस ब्रह्मसत्ता में असंख्य जीव, जगत् ईश्वरादि पृथक् पृथक् भाव देखता है वह पुनः पुनः जन्ममरणादि के वशीभूत हो जाता है। अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान हो जाने पर फिर पृथक् बोध नहीं रह जाता, जन्ममृत्यु असंख्य भेद-ज्ञान विलुप्त हो जाते हैं, उसी का नाम है मुक्ति।

इसको जान लेने से ही

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा।
आनन्द रूपममृतं यद्विभाति॥"

धीर व्यक्तिगण उस आनन्दमय अमृत स्वरूप को गुरूपदेश जात और साधनबुद्धिप्रसूत निर्मल ध्यानैकाग्रचित्त से देखते हैं।

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे—
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः
परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥"

जिस तरह वेगवती नदी समुद्र में आत्मविसर्जन करके अपने पृथक् नामरूप को परित्याग करती है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष नामरूपादि से विमुक्त होकर परात्पर परम पुरुष में जाकर विलीन हो जाते हैं अर्थात् नामरूपादि उपाधिवर्ज्जित होकर ब्रह्मानन्द सागर में मग्न हो जाते हैं। किस उपाय से जान लेना पड़ेगा ?

"श्रद्धाभक्ति ध्यान योगादवेहि
त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः।'

उस परम तत्त्व को श्रद्धा भक्ति और ध्यान योग द्वारा जान लो। त्याग से वह अमृतत्त्व प्राप्त होता है। पहले श्रद्धापूर्वक ब्रह्मविषयक उपदेश गुरु के मुख से सुनकर विचार करो, वाद को सर्वदा ब्रह्मविषयक विचार से मनन होने लगेगा, और मनन से ध्याननिष्ठा आ जायगी, प्रगाढ़ ध्यान से इस जागतिक वस्तु का आकर्षण छिन्न हो जायगा। इस प्रकार सर्व भावों के परित्याग से सर्वपूर्ण को प्राप्त किया जाता है।

सद्‌गुरु का आश्रय लेना होगा—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥"

जो ब्रह्मसाधना में कुशली हैं, और ब्रह्मज्ञान में निपुण हैं, ऐसे गुरु के पास उस ब्रह्मतत्त्व को समझने के लिए समित्पाणि होकर जाना चाहिये।

"न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो वहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अनीयान्ह्यतर्क्यमणु प्रमाणात्॥"

विवेकहीन सामान्य मनुष्य द्वारा उपदिष्ट होने पर यह आत्मा सम्यक्रूप से बोधगम्य नहीं होती। क्योंकि आत्मा के सम्बन्ध में बहुत प्रकार के भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं, अतएव जो ब्रह्म को अभिन्न भावों से पहचान चुके हैं, ऐसे आचार्य द्वारा उपदिष्ट होने से आत्मविषय में विविध तर्कों या सन्देहों की सम्भावना नहीं रह जाती, अथवा श्रोता को संसार केप्रति आसक्ति नहीं आती। क्योंकि आत्मतत्त्व अति ही सूक्ष्म है, इन्द्रियों के अनुभव के अतीत है और तर्क या अनुमान द्वारा अगम्य है।

इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरुभक्ति रहनी चाहिये :—

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्येते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

जिनको गुरु और देवता में परम भक्ति है उनके प्रति ही यह ब्रह्मतत्त्व विषयक गूढ़ रहस्य उद्‌घाटित होता है। ज्ञान, विवेक, वैराग्य के बिना गति नहीं होती। अतएव

"उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयोवदन्ति॥"

हे जीव गण! उठ जाओ अर्थात् विषय चिन्ता छोड़ कर ज्ञान लाभ के लिए उद्योगी बन जाओ। जाग उठो, अब मोह के नशे में अचेतन मत पड़े रहो, श्रेष्ठ ब्रह्मविद वरिष्ठ आचार्य के पास जाकर ज्ञानलाभ करो। विवेकी गण कहते हैं कि आत्मज्ञान का यह पथ बहुत ही दुर्गम है, जान लेना क्षुर की धार की तरह तीक्ष्ण है, अति सतर्कता के साथ इस पथ से चलना पड़ता है, सामान्य असुविधा, साधारण

असावधानता से सब चौपट हो जाता है। इसलिए भक्ति और वैराग्ययुक्त होकर इस अतीन्द्रिय मनबुद्धि के अतीत ज्ञानस्वरूप आत्मा को जान लेना पड़ता है।

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो न समाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥"

जो व्यक्ति असदाचारी है, शास्त्रनिषिद्ध पापादि से निवृत्त न हो सका है, वह केवल प्रज्ञान द्वारा अथवा ब्रह्म विषयक विचार द्वारा इस सर्वव्यापी चैतन्यस्वरूप आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। असमाहित अर्थात् अस्थिर चित्त व्यक्ति भी इसे नहीं पा सकता। अथवा अशान्त मानस—जिसके मन में सन्तोष नहीं है, जो अनवरत विषय-प्राप्ति की आकांक्षाओं से व्याकुल रहता है वह भी इस आत्मस्वरूप को समझ नहीं सकता।

श्रीमद्भागवत में भी इस सम्बन्ध में बहुत आलोचनाएँ हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के त्रयोदश अध्याय में ब्रह्म के सम्बन्ध में अपना अभिप्राय व्यक्त किया है। वह ब्रह्म वस्तु तत्त्वतः क्या है वही वहाँ पर आलोचित हुई है। गीता में कहा गया है—"अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।" ज्ञेय वस्तु क्या है इसी का उपदेश दे रहे हैं—ज्ञेय वस्तु ही ब्रह्म हैं, वे—अनादिमत्परं—अर्थात् उनका आदि नहीं है, वे देश कालादि परिच्छेद शून्य हैं, निरतिशय हैं, वे अस्ति या नास्ति के विषय नहीं हैं। कोई वस्तु है या नहीं, इसका इन्द्रियाँ और मन मिल कर निश्चय करते हैं, यदि वे कोई वस्तु रहते, तो उस हालत में इन्द्रियों के ग्राह्य होते, तो उनको अस्ति का विषय कहा जा सकता था, किन्तु वे कोई वस्तु नहीं हैं। इसीलिए वे शून्य हैं या नहीं हैं ऐसी बात भी नहीं है, इसलिए वे नास्ति के विषय भी

नहीं हैं। इस कारण वे हैं या नहीं यह समझ लेने की शक्ति इन्द्रियों में नहीं है। इन्द्रियों के साथ विषयों का संस्पर्श हो जाने पर तद्विषयक बुद्धि उत्पन्न होती है। वे अतीन्द्रिय विदित, अविदित या अस्ति नास्ति दोनों प्रकार की बुद्धियों के अतीत हैं। वे—

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्।
अनाद्यनन्तं महत: परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते॥"

वे शब्दशून्य हैं और शब्दों के भी अग्राह्य हैं, वे रूप शून्य और अस्पर्श हैं, वे रस और गन्धशून्य हैं। इन्द्रियाँ जिस स्वरूप को ग्रहण करती हैं और समझ सकती हैं, उन में से कोई एक भी वे नहीं हैं, फिर भी वे मौजूद हैं, इतनी ध्रुव बात और कुछ भी नहीं है, वे अनादि, अनन्त हैं, सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ अथवा प्रकृति से भी श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियगम्य विषयों की तरह वे चञ्चल नहीं हैं। वे नित्य एक रूप हैं। उस ब्रह्म को "निचाय्य" निश्चय करके, इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, यही मेरा परम आश्रय है इस प्रकार जिन्होंने स्थिर कर लिया है, वे ही संसार से मुक्ति प्राप्त करते हैं। यह आत्मा—

"अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्
तमक्रतु पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादा न्महिमानमात्मनः॥"

वे अति सूक्ष्म परमाणु की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर हैं अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के अतीत हैं और आकाशादि महान पदा

भी बृहत्तर हैं अर्थात् वे देशकारणादि के अतीत हैं। यह जो चिन्मात्र आत्मा है ये जीवों की "गुहायां" बुद्धि के अभ्यन्तर में अवस्थित है, साधारण बुद्धि के अगम्य हैं। तब उनको कौन देख पाता है? जो अक्रतु अर्थात् कामनारहित हैं, वीत शोक हैं—अर्थात् दुःखादि रहित हैं ऐसे व्यक्ति "धातु प्रसादात्"—अर्थात् शरीर धारक इन्द्रियादि के निर्मल या प्रसन्न भाव सम्पन्न हो जाने से (स्थिर हो जाने पर), उस निर्विकार विशुद्ध चैतन्य आत्मा को देख पाते हैं। अर्थात् गंभीर ध्यान से जब चित्त निष्कम्प दीप शिखा की तरह स्थिर हो जाता है, उस सुखमय समय में आत्मा स्वतः प्रकाशित रूप में प्रतीत होती है।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
य मे वैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुंस्वाम्॥

यह आत्मा केवल शास्त्राध्ययन द्वारा लभ्य नहीं है, या केवल तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा भी प्राप्त होने वाली नहीं है, अथवा बहुबार बहुत सी ज्ञान कथाओं को सुन लेने से भी उनको कोई नहीं पाता! क्योंकि हमारी दौड़ तो इन इन्द्रियों मन और बुद्धि के ही द्वारा चलती है। इनके रहते अभिमान दूर नहीं होता, अभिमान के न जाने से वे पकड़ में नहीं आतीं। यह आत्मा जिन्हें प्रसन्न होकर वरण करती है अर्थात् जिस उपासक को उनको प्राप्त करना ही जीवन का एक मात्र अभीष्ट है, जिसे और कुछ भी नहीं चाहिये, उसी मुमुक्षु साधक के हृदय की एकान्त आकांक्षा और भक्ति के वशवर्त्ती होकर ही वे उनके द्वारा प्राप्त हो जाती हैं, यह आत्मा तब स्वकीय तनु अर्थात् नित्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप उस मुमुक्षु

उपासक की शुद्ध बुद्धि में प्रकाशित करती हैं। इसलिए एकान्त शरणागति और भगवत् कृपा ही आत्मसाक्षात्कार का उपाय है।

इस आत्मा का स्वरूप नामरूप गुणों के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता, वे निर्विशेष और स्वप्रकाश हैं। किन्तु वे सर्वात्मक विभु हैं।

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।"

वे सर्वव्यापक हैं, एक हैं अद्वितीय हैं अर्थात् जो कुछ है सब ही ब्रह्म है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", वे स्वरूपतः एक होते हुए भी अपने को बहुत से रूपों में प्रकाशित कर सकते हैं—यही है उनकी अद्भुत और अचिन्त्य शक्ति। वे जीव मात्र के ही करणवर्ग के शक्तिरूप में, और समस्त अचेतन पदार्थों के अधिष्ठान रूप में रहते हैं। उनकी ही सत्ता से ये जड़चेतनादि भूतवर्ग ठहरे हुए हैं। ये सर्वव्यापी हैं मन बुद्धि के अगोचर शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं, ये ही मुमुक्षुवर्ग के ज्ञेय परब्रह्म स्वरूप हैं। उनकी अपनी कोई इन्द्रियादि नहीं हैं, किन्तु उनकी शक्ति के अतिरिक्त कोई भी इन्द्रिय कुछ नहीं कर सकती। इन्द्रिय और बुद्धि की क्रिया उनकी ही शक्ति से परिचालित हो रही है। वे स्वयं निष्क्रिय रहने पर भी, सभी कार्यों के मूलस्वरूप हैं। इसीलिए श्रुति ने कहा—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः," इत्यादि। वे आसक्ति रहित हैं, तथापि वे सभी के पालक हैं, वे निर्गुण हैं अर्थात् सत्वादि गुण वर्जित हैं,

तथापि वे गुणभोक्ता हैं अर्थात् उनके न रहने से किसी वस्तु की ही उपलब्धि नहीं होती, वे भोक्ता हैं, वे ज्ञाता हैं। उनको अवलम्बन करके चराचर समस्त ही विद्यमान हैं। श्रुति कहती है वे "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"—वे सभी के साक्षी चैतन्यस्वरूप अद्वितीय और गुणवर्जित हैं।

तो इस हालत में वह आश्रयवस्तु क्या है जिसके न रहने से हम लोगों को किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता? वही वस्तु हीं हुई सत्ता या यहीं है अस्तित्व, वह बोधमय है। इस सत्ता का आश्रय लेकर ही समस्त चराचर पदार्थों का प्रकाश हो रहा है। तो इस अवस्था में यह सत्तामय पदार्थ ही प्रकाशमय या ज्ञानमय है। इस सत्ता या प्रकाश का अभाव होने से अन्य वस्तु की उपलब्धि ही न रहेगी। अतएव समस्त वस्तुओं के मूल में ही यह सत्तामय या प्रकाशमय भाव विद्यमान है। किन्तु यह सत्ता या ज्ञान कोई वस्तु नहीं है, इस कारण यह इन्द्रियग्राह्य पदार्थ विशेष नहीं हो सकता, दृश्य वर्ग के न रहने पर भी वह विद्यमान रहता है। यह दृश्यवर्ग भी सत्ता द्वारा अस्तित्व सम्पन्न हो कर ही ज्ञान का विषय हो रहा है। अतएव सभी वस्तुएँ भी सत्तामय या बोधरूप मात्र हैं। बोध के अतिरिक्त किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं रह सकता। अज्ञान द्वारा आच्छन्न होकर खण्ड खण्ड रूपों में इस बोध-भाव के इन्द्रियगम्य हो जाने पर ही तब वह अनात्मक विषय कहलाता है।

फिर जब विवेक-वैराग्याभ्यास से यह अविवेक नष्ट हो जाता है, तब बहुज्ञान लुप्त हो जाता है, और तभी एक अखण्ड चैतन्य सत्ता अपनी महिमा से आप ही विराजती रहती है। इसीलिए गीता ने उन्हीं को "ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान-

गम्यं" कहा है। वे स्वयं ही बोध स्वरूप हैं, फिर वे ही शुद्ध बुद्धि द्वारा ज्ञेय रूप में दिखाई पड़ते हैं। भागवत में नारद जी ने कहा है:—

"तस्मिंस्तदालब्धरुचेर्महामते
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे॥"

श्रीधरस्वामी—"प्रियं श्रवो यस्य तस्मिन् भगवति लब्धरुचेर्मम अस्खलिता अप्रतिहता मतिरभवत्। यया मत्या परे प्रपञ्चातीते ब्रह्म रूपे मयि सदसत् स्थूलं सूक्ष्मञ्च एतच्छरीरं स्वमायया स्वविद्यया कल्पितं न तु वस्तुतोऽस्तीति तत्क्षणमेव पश्ये पश्यामि। एवं शुद्धे त्वं पदार्थे ज्ञाते देहादि कृतविक्षेपनिवृत्तेः तत्कारणभूतरजस्तमो निर्वर्त्तिका दृढ़ा भक्तिर्जाता। यह "अहं" हि प्रपञ्चातीत ब्रह्म रूप से ज्ञेय है, ज्ञान के प्रकाश से ही इस शुद्ध चैतन्य का प्रकाश होता है। भगवान् ने कहा है:—

"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयाति तत्परम्॥"

आत्मज्ञान द्वारा जिन लोगों का अज्ञान नष्ट हो जाता है, उन लोगों का ज्ञान उनके अज्ञान को विनष्ट करके इस प्रकार परमात्मा को प्रकाशित कर देता है जिस प्रकार आदित्य अन्धकार का नाश करके सभी वस्तुओं को प्रकाशित कर देते हैं। गीता में कहा गया है—इस ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी नहीं है:—

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते।"

सृष्टि, स्थिति, लय भी एक मात्र इस बोध या आत्मा का आश्रय लेकर ही होते हैं। इसीलिए वे "भूतभर्त्त च

तज्ज्ञेयं ग्रपिष्णु प्रभविष्णु च।" सुवर्ण के न रहने पर जैसे सुवर्ण कुण्डल वन नहीं सकता था वैसे ही ब्रह्म के न रहने से जगत् रूप परिस्फुट न हो सकता था।

यह आत्मा अति निरभिमान पुरुष हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है:—

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" अतएव ये सब सृष्टि आदि कर्म उनको आवद्ध नहीं कर सकते।

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।" वे सभी भूतों में समदृष्टि सम्पन्न हैं, उनका द्वेष्य या प्रिय कोई नहीं है। तो—

"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥"

जो उनको प्रीति पूर्वक भजता है, वह उन्हीं को अपने जीवन का मुख लक्ष्य मानकर उन्हीं से सर्वदा प्रतिक्षण मग्न रहा करता है, इस कारण वे भी उस में मौजूद रहते हैं। सूर्य सभी को समान भाव से किरण प्रदान करते हैं। जो अपने मकान के दरवाजों और खिड़कियों को खोल रखता है, उसके लिए ऐसा जान पड़ता है मानो वे अपनी कर-किरणों से उसको आलिङ्गन कर रहे हैं। जो मूढ़तावश अपने दरवाजे खोल नहीं रखता, वह उनकी स्वतः प्रवाहित करुणा किरण से चिरवञ्चित रहता है। इतना ही प्रभेद है। वे फिर अधियज्ञ स्वरूप हैं, अर्थात् उनके अधिष्ठातृत्व के कारण जीवों को कर्मों के अनुरूप फल भोगादि मिलते रहते हैं— "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वरः॥" वे—

"गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरण सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥"

वे सब की गति अर्थात् कर्मफल हैं, वे सभी के भर्त्ता या पालनकर्त्ता हैं, वे प्रभु नियन्ता हैं, और वे मेरे सभी कर्मों

के साक्षी द्रष्टा हैं, उनकी दृष्टि से बचने का उपाय नहीं है, वे मेरे निवास आश्रयस्थान हैं, मेरी शरण हैं, मेरे रक्षक हैं और सुहृत् हैं। वे मेरे स्रष्टा हैं, संहर्त्ता हैं और वे मेरे स्थिति-स्थान हैं और वे ही मेरे अविनाशी अव्यय बीज हैं।

उनके निकट जो व्यक्ति जिस भावना को लेकर उपस्थित होता है, वे कल्पतरु की भाँति उसके उन उन अभीष्टों की पूर्ति करते हैं। वे अन्नहीनों के लिए अन्नपूर्णा माता हैं, मोहादि रिपुओं से त्रासित जीवों के लिए वे साक्षात् दैत्य दर्प-विनाशिनी भक्ताभयदायिनी कालिका माता हैं, वे रोगातुर आर्त्त के लिए रोगापहारक बाबा तारकनाथ हैं, वे स्रष्टा के रूप में ब्रह्मा हैं, पालक रूप में विष्णु हैं, संहर्त्ता रूप में महेश्वर हैं। वे ही मोहविभ्रान्त पाशबद्ध असंख्य जीव श्रेणियाँ हैं, फिर वे ही भवबन्धन खण्डनकारी परम शिवरूपी जगद् गुरु हैं। वे ही एक मात्र परमानन्द रस निलय हैं, वे ही प्रेमिक भक्त के मनोविनोदकारी हैं, मदन मनोहारी हैं, भुवनमोहन श्रीकृष्ण हैं। वे ही अन्तर्यामी रूप में सब के हृदय में अधिष्ठित हैं—

"तमिह महमजं शरीरभाजां
हृदिहृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानां।"

वे ही स्वयं जन्मरहित होते हुए भी, शरीर-धारियों के प्रत्येक हृदय में अहं रूप से या अन्तर्यामी रूप से रह रहे हैं। वे ही बोधरूप से चराचर जगत् के अस्तित्व के मूल में विद्यमान हैं। प्रत्येक वस्तु का जो ज्ञान हो रहा है उस बोध रूप के वे बोद्धा हैं, द्रष्टा हैं या चेतयिता हैं, वे ही आत्मा हैं।

उनके सत्तामय अस्तित्व की किसी समय हानि नहीं होती। हम लोगों का ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता

जिसके द्वारा यह सत्ता या ज्ञान प्रकाशित नहीं होता। इस सत्ता को छोड़ देने से कोई विशिष्ट वस्तु ही हमारे ज्ञान के विषय में नहीं आती। यह सत्ता या ज्ञान एक ही पदार्थ है। यह स्वयं प्रकाश है, इसके प्रकाश के लिए कारणान्तर की अपेक्षा नहीं रहती। जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं या आस्वादन करते हैं या स्पर्श करते हैं, वे सब ही हमारे ज्ञान के विषय हैं। ज्ञान के विषय न रहते तो हम उनके अस्तित्व का पता ही न पाते। इस कारण सब पदार्थों में साधारण या सामान्य पदार्थ हुआ ज्ञान। इस सत्तासामान्य ज्ञान पदार्थ से ज्ञान के सभी विषय भी बिलकुल अभिन्न हैं। किन्तु यह भाव आ सकता है कि, घट भी ज्ञान का विषय है, पट भी ज्ञान का विषय है, तो घट और पट के पृथक् अस्तित्व का बोध ही फिर क्यों होता है ? इस पृथक् ज्ञान का कारण ही है माया। यह माया किसी तरह की एक निकम्मी वस्तु है ऐसी बात नहीं है। यह उनकी ही स्वकीय शक्ति है। इसके द्वारा ही जगत् पुनः पुनः निर्मित और विध्वस्त होता रहता है। भगवान् कहते हैं :—

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥"

असङ्ग निर्विकार आत्मा किस तरह विश्व सृजन करती हैं यही बतला रहे हैं—अपनी स्वकीय शक्ति को वशीभूत करके प्रलय में लीन समस्त प्राणियों को मैं पुनः पुनः सृजन करता हू।

उनकी यह अलौकिक माया अत्यन्त दुस्तर है। इसी कारण जीवों के पुनः पुनः जन्म-मरण होते रहने का और संसार की गति का अन्त नहीं होता। तो उपाय क्या है ? भगवान् ने कहा है :—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते ॥"

सत्त्वादि गुण विकारमयी माया सुदुस्तरा होने पर भी, जो मायावीर हैं उनकी यह शरणागत हो जाती है। जो उनको भजता है, वह इस सर्वभूत चित्त विमोहिनी माया को पार कर सकता है। अर्थात् उससे ही संसार-बन्धन का नाश हो जाता है। संसार-बन्धन का नाश हो जाने पर वह क्या देखता है ? वह नानात्व नहीं देखता। नाना भावों और नाना जीवों को लेकर ही यह जगत् है, जो उनको देखता है वह फिर इस जगत् को नहीं देखता। वह उनको किस रूप में देख पाता है। एक अखण्ड सत् पदार्थ के रूप में उनको वह देखता है। हम लोगों का यह जो नानात्व बोध है, यह जो पृथक् ज्ञान है, ये उनकी मायाशक्ति के प्रभाव से ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार शुक्ति (सीप) में रजत का भ्रम होने पर भी शुक्ति शुक्ति ही रह जाती है, उसी प्रकार माया के प्रभाव से ब्रह्म में जगत् का भ्रम होने पर भी वह ब्रह्म रूप में ही निरन्तर मौजूद है। जगत् रूप में परिणत नहीं हुआ है। यह जगत् रूप या नानात्व दिखाई पड़ने का कारण ही मायाशक्ति है। नहीं तो जो कुछ भी दिखाई पड़े सुनाई पड़े या स्पर्श किये जायँ, वे परम सत्तामय ब्रह्मपदार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। माया के प्रभाव से इस प्रकार नानात्व दिखाई पड़ता है। माया की दो शक्तियाँ हैं, एक है आवरण और दूसरी है विक्षेप। आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित हो जाने पर उस सम्बन्ध में हम लोगों को किसी तरह के बोध का उदय नहीं होता। किन्तु साथ ही साथ विक्षेप शक्ति द्वारा ब्रह्म में संसारत्व या बहुत्व आरोपित

होता है। उसके फल स्वरूप वही एक अखण्ड आत्मा असंख्य रूपों में दिखाई पड़ती है। किन्तु हम लोगों को जो यह बहुत्व का ज्ञान है यह किन किन अवस्थाओं का आश्रय लेकर उत्पन्न होता रहता है? जागरण और स्वप्नावस्था में ही इस बहुत्व का स्फुरण होता है। किन्तु सुषुप्ति की गाढ़ तमसाच्छन्न अवस्था में आत्मसत्ता का समस्त प्रकाश मानो विलुप्त हो जाता है। ध्यान रखना पड़ेगा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ये आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं, किन्तु ये आत्मा नहीं हैं। ये ही है माया के विक्षेप और आवरणशक्ति।

किन्तु यह माया ब्रह्म को सम्पूर्ण आच्छादित नहीं कर सकती। जिस प्रकार मेघावृत सूर्य्यालोक तीक्ष्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो सकता, उसी प्रकार मायाच्छन्न आत्मा का भी प्रकाश स्पष्ट नहीं होता। अखण्ड वस्तु पर स्थान स्थान पर आच्छादन पड़ जाने से वह जिस तरह बहुत रूपों में और खण्डीकृत अवस्था में दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार आत्मा पर माया का आवरण रहने के कारण, उसके असंख्य खण्ड खण्ड रूपों में प्रकाशित हो जाने के कारण नानात्व का बोध होता है। इसी कारण यह भूलभुलैया आ जाती है। अगण्य पात्रस्थ जल में सूर्य्य के अगण्य प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, किन्तु सूर्य्य वह एक ही है। उसी प्रकार इस माया के आवरण से देहादि घटों की अवस्था होती है। घट स्थित जल पर पड़े हुए सूर्य्य के प्रकाश की तरह देहस्थित बुद्धि पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ जाने से वही एक बहुत रूपों में दिखाई पड़ती है। पृथक् पृथक् घटस्थित आकाश पृथक् मालूम होने पर भी जैसे आकाश भिन्न नहीं होता, वैसे ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्य पृथक् मालूम होने पर भी वास्तव में वह पृथक् नहीं है।

"घटे भिन्ने घटाकाश आकाशे लीयते यथा ।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि ॥"

जब योगी की देह भावना विदूरित हो जाती है, तब वे परमात्मस्वरूप में उनके साथ अभिन्न भाव से अवस्थित हो जाते हैं ।

किन्तु इन खण्ड खण्ड रूपों में प्रकाशित होने के समय भी सत्तामय भाव का लोप नहीं होता, नहीं तो प्रकाश ही मिल नहीं सकता था। सुषुप्ति की मोहमयी अवस्था में भी ये असंख्य खण्ड ज्ञान आच्छन्न होने पर भी सत्ता के साक्षित्व भाव का तब तक भी अभाव नहीं होता। जागरण के विलास वेगों का और असंख्य चपलताओं का लोप हो जाने पर भी सुषुप्ति का विक्षेपरहित जो शान्तभाव है उसके ज्ञाता के रूप में भी वही आत्मचैतन्य जागता रहता है। सुषुप्ति की सुखमय अवस्था में यदि कोई ज्ञाता न रहता तो जाग्रत अवस्था में उसकी स्मृति रह नहीं सकती थी। क्योंकि अनुभूत विषयों की ही स्मृति बनी रहती है। जैसे ऐन्द्रिजालिक के इन्द्रजाल रचित कितने ही अद्भुत अद्भुत दृश्य दर्शनकारी के चित्त को मुग्ध कर रखते हैं, सभी उन सब वस्तुओं को सत्यवत् देखते हैं, किन्तु सत्य कह कर कोई विश्वास नहीं करता, वैसे ही बहुत रूपों में विकसित यह जगत्प्रपञ्च, उसी परम ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल का विस्तार मात्र है, किन्तु स्वरूपतः वह मिथ्या है। यह जगदादि प्रपञ्च माया रचना रूप से असत्य होने पर भी वह जिस ज्ञान रूप से प्रकाश पाता है, वह ज्ञान असत्य नहीं है। ज्ञान कभी असत्य नहीं होता, जिस किसी का भी ज्ञान क्यों न हो, ज्ञान रूप में वह नित्य सत्य है। जैसे घट भी ज्ञान का विषय है, [illegible] भी ज्ञान का विषय है, इन दोनों के

बीच उनका जो ज्ञान है वह सामान्य पदार्थ है, वह सत्य है, किन्तु घट और पट मिथ्या है; वैसे ही जगत् की प्रत्येक वस्तु को वस्तु रूप में मान लेने का जो बोध है वह सत्य है, किन्तु वस्तु सत्य नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न द्रष्टा सत्य है, स्वप्न भी सत्य है, किन्तु स्वप्न का विषय असत्य है।

नाम रूपादिमय वस्तु माया रचित है, वह आत्मा की उपाधिमात्र है। माया के प्रभाव से ही यह वस्तु रूप में दिखाई पड़ती है और अपृथक् होकर भी आत्मा से वह पृथक् रूप में दिखाई पड़ती है। वह नाम रूपमय उपाधि मिथ्या है।

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपञ्चकं।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोद्वयं॥"

जगत् के प्रत्येक दृश्य में अस्ति, भाति, प्रिय भाव, नाम और रूप पाँच भाव विद्यमान हैं। इनमें अस्ति, भाति और प्रियभाव ब्रह्म के ज्ञापक हैं और नाम और रूप; जिनसे यह चराचर दृश्य ज्ञापित होता है, ये माया के खेल हैं। सभी वस्तुओं के नाम रूप छोड़ देने से, उनमें जो अस्ति भाति और आनन्ददायकत्व रह जाते हैं वे ब्रह्मरूप हैं। इसी लिए ज्ञानी लोग कहते हैं—

"आविद्यकं शरीरादि दृश्यम् बुद्बुदवत् क्षरम्।
एतद्विलक्षणं विद्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम्॥"

जल में जिस प्रकार बुद् बुद जल से स्वतन्त्र नहीं है, और उसका अस्तित्व इतना क्षणस्थायी है कि उसका रहना और जाना एक ही बात है, उसी प्रकार शरीरादि इन दृश्यों के क्षयभावापन्न होने के कारण, ये नहीं हैं ऐसा ही मन में सोच लेना चाहिये। गीता में भी भगवान् ने इसी लिए कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

असत् का अस्तित्व नहीं है, सत् की अविद्यमानता नहीं है। इस कारण यह मायारचित अनन्त दृश्यपट अत्यन्त असत्य है। किन्तु इस दृश्य वर्ग के असत्य रहने पर भी जिनका आश्रय ग्रहण करके ये असंख्य दृश्य-तरङ्ग समुत्थित या प्रकाशित हो रहे हैं—वह नित्य सत्य अपरिणामी वस्तु है। यह सत्य वस्तु ही आत्मा है। ब्रह्म, ज्ञान, आत्मा ये सभी एक ही के विभिन्न नाम हैं। समस्त घटनाओं के साक्षी रूप में यह ज्ञान चिर विद्यमान है। शैशव में शैशव की घटनाओं को आत्मा के साथ एकीभूतभावों में देख चुका हूँ, यौवन में युवा के भावों और चिन्ताओं को अपने अस्तित्व के साथ अच्छेद्य जड़ितवत् देख चुका हूँ। फिर यह प्रौढ़ावस्था आ गयी है, इसको भी अब अपने चैतन्य के विशेष विकाश के साथ अभेदभाव से मिलित रूप में ही देख रहा हूँ। आज उस शैशव की या यौवन की अवस्थाएँ नहीं रह गयी हैं, वे किसी अतीत गर्भ में विलीन हो गयी हैं; किन्तु जिसको अवलम्बन करके ये अवस्थाएँ विद्यमान थीं, वह आश्रय, वह सत्ता, वह मैं अभी तक मौजूद है, अभी तक उन सैकड़ों अतीत घटनाओं और उनकी स्मृति के साक्षी रूप में अहं विद्यमान है। उस समय उन अवस्थाओं के साथ अपने को मानो अविभाज्य रूप से मिला हुआ देखा था, इस समय वे अवस्थाएँ सूखी पत्तियों की तरह उससे खिसक कर गिर पड़ी हैं। फिर अब यह प्रौढ़ावस्था उसी "मैं" को आलिङ्गन करके एक बनी हुई है, वह भी फिर किसी दिन झटिकाताड़ित पत्तों की भाँति कहीं अदृश्य हो जायगी। इन कितनी ही सैकड़ों अवस्थाओं का परिवर्तन होता जा रहा है, किन्तु इन अवस्थाओं का ज्ञाता या साक्षी

जो "मैं" है उसका कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कितने अवस्थाओं के परिवर्तनों को, कितने ही विपर्ययों को कितनी ही अवस्थाओं को भूल गया हूँ, किन्तु उन सभी अतीत अवस्थाओं और इस समय की वर्तमान अवस्था का साक्षी या ज्ञाता वह एक अखण्ड ज्ञान स्वरूप आत्मा या 'मैं' मौजूद हूँ। इस आत्मा का कभी अभाव मालूम नहीं हुआ; क्योंकि मैं नहीं हूँ यह बाध कभी किसी को नहीं होता। 'मैं' को या देही को जैसे जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही शरीर को बाल्य, यौवन जरा ये अवस्थाएँ होती हैं। जन्म-मृत्यु भी इसी प्रकार देह की ही एक एक अवस्था मात्र हैं। इसलिए आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति इनमें मुग्ध नहीं होते। भगवान् ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

इस देहाभिमानी जीव की बाल्यावस्था, यौवन वार्द्धक्य आदि तीन अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, ये स्थूल देह की ही तीन अवस्थाएँ हैं, देह के ही कारण इनकी उत्पत्ति होती है। किन्तु कौमार काल बीत जाने पर या यौवन को पार करके वार्द्धक्य में समुपस्थित होने पर—मैं ही था, और मैं ही हूँ इस प्रत्यय का व्यभिचार नहीं दिखाई पड़ता।

स्थूल शरीर की एक अवस्था के परिवर्तन के साथ ही साथ दूसरी अवस्था की उत्पत्ति हो जाती है, उसके साथ 'आत्मा' का या 'मैं' का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार देह का नाश हो जाने पर भी जो देहान्तर प्राप्ति होती है, वह भी लिङ्ग देह के ही कारण होती है। आत्मा का उससे नाश नहीं होता। बाल्यकाल का संस्कार जिस प्रकार यौवन में मौजूद रहता है, यौवन का संस्कार वार्द्धक्य में बना रहता

है, उसी प्रकार देहान्तर का संस्कार देह में रह जाता है। बाल्य काल बीत जाने पर यौवन के आ जाने से जैसे हम लोग विह्वल नहीं होते, वैसे ही आत्मा की स्थूल उपाधि देह के नष्ट हो जाने पर ज्ञानी पुरुष अभिभूत नहीं होते। आचार्य शङ्कर ने कहा है—घटादि के उत्पत्ति-विनाश से जिस तरह आकाश का उत्पत्ति-विनाश नहीं होता, क्योंकि आकाश नित्य विद्यमान है, उसी प्रकार देह का उत्पत्ति-विनाश हो जाने पर भी, आत्मास्वरूप हम लोग मौजूद रहेंगे।

यह आत्मा शरीर नहीं है, यह इन्द्रिय या मन भी नहीं है। देह, इन्द्रिय और मन को असंख्य परिणाम प्राप्त हो रहे हैं, किन्तु आत्मा उन सभी विभिन्न परिणामों का ज्ञाता है, यही एक चिरनिर्विकार पुराण पुरुष है:—

"नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।"

यह नित्य शुद्ध अपापविद्ध है। देहेन्द्रियों की जड़ता इसको स्पर्श या कलुषित नहीं कर सकती:—

"अहमाकाशवत् सर्वबहिरन्तर्गतोऽच्युतः।
सदासर्वसमः शुद्धो निःसङ्गो निर्मलोऽचलः॥
शुद्धं बुद्धं तत्त्वसिद्धं परं प्रत्यगखण्डितम्।
स्वप्रकाशं पराकाशं ब्रह्मैवाहं न संशयः॥
निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः॥"

इसीलिए विवेकी पुरुष ने इस "अहं" या "मैं" को अन्वेषण करते समय देखा—ये मन, बुद्धि, अहंकार, शरीर और इसके विभिन्न आचार कुछ भी "मैं" नहीं हूँ। मुझको असत् ने घेर रखा है, मुझे अज्ञान ने आच्छन्न कर रखा है, जन्म, मृत्यु, जरा, शोक ने मुझे विह्वल कर रखा

है। यह अनन्त परिवर्तनशील संसारचक्र जिस केन्द्र को पकड़ कर नित्य विघूर्णित हो रहा है, वही नित्य सत्य चिर अविनाशी आश्रय केन्द्र ही एक मात्र सद्वस्तु है, और 'मैं' वही हूँ। तो मैं किस लिए मिथ्यावस्तु को जकड़ कर पड़ा हुआ विभीषिका देख रहा हूँ ? इस अवस्था को सम्यक् समझ लेने पर तुरन्त ही वह जीवत्व का परिहार करके भूमा के बीच प्रवेश कर जाता है और तब यह देहाभिमान, दृश्य जगत् सब कुछ ही स्वप्न की भाँति अदृश्य हो जाते हैं। तब उस सम्यक् जागरण के क्षेत्र में जीव स्थिति प्राप्त करके आनन्द से उन्मत्त होकर मुक्त कंठ से विहङ्गम की भाँति घोषणा करता है :—

"मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायु-
श्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥
अपाणिपादोऽहमवागचक्षु—
रप्राण एवास्म्यमना ह्यबुद्धिः।
व्योमेव पूर्णोऽस्मि विनिर्मलोऽस्मि
सदैक रूपोऽस्मि चिदेव केवलः।
न मेऽस्ति देहेन्द्रिय बुद्धियोगो
न पुण्यलेशोऽपि न पापलेशः।
क्षुधापिपासादिषडूर्मिदूरः
सदा विमुक्तोऽस्मि चिदेव केवलः।
वाचः साक्षी प्राणवृत्तेश्च साक्षी
बुद्धेः साक्षी बुद्धि वृत्तेश्च साक्षी।
चक्षुः श्रोत्रादीन्द्रियाणाञ्च साक्षी
साक्षी नित्य प्रत्यगेवाहमस्मि ॥

देहान्यत्वात् न मे जन्म जरा कार्श्यलयादयः ।
शब्दापि विषयैः सङ्गोनिरिन्द्रियतया न च ॥
अमनस्तान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुति शासनात् ॥
अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजाल सम जगत् ।
ततो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥"

"यो वै सर्वात्मको देवो निष्फलो गगनोपमः ।
स्वभाव निर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः ॥"

"आत्मैव केवलं सर्व भेदाभेदो न विद्यते ।
अस्तिनास्ति कथं ब्रूयाद् विस्मयः प्रतिभाति मे ॥"

"माया प्रपञ्चरचना न च मे विकारो
कौटिल्यदम्भ रचना न च मे विकारः ।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहं ॥"

"दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सवाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥"

"यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रिय मनोधियः ।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्त्तन्ते प्रेरिता इव ॥"

आत्मा के इस प्रकाशमय या सत्तामय भाव के अतिरिक्त और किसी स्वरूप में उनको समझने का उपाय नहीं है ।

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥"

वाक्य द्वारा, मन द्वारा या चक्षुप्रभृति इन्द्रियों के द्वारा यह परमात्मा प्राप्ति के योग्य नहीं है । अतएव यह आत्मा 'अस्ति' मौजूद है, इस तरह के दृढ़ निश्चय के साथ कहने

में समर्थ—आत्मज्ञ आचार्य के अतिरिक्त दूसरे किस स्थान पर उस आत्मस्वरूप को कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

"अस्तित्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तित्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥"

अतएव सचमुच ही आत्मा हैं ऐसे दृढ़ निश्चय के साथ उनकी उपलब्धि करनी चाहिये। आत्मा हैं इस तरह उपलब्धि रखने वाले की बुद्धि में आत्मा का प्रकृत नित्य चैतन्य स्वरूप सुस्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥"

जो सब कामनाएँ मुमुक्षु के हृदय पर अधिकार कर के अवस्थित हैं, उनके विनष्ट हो जाने पर तुरन्त ही मनुष्य इस देह में ही जन्म-मृत्यु के अतीत होकर ब्रह्म स्वरूपता प्राप्त कर लेते हैं।

यह सत्तामय या प्रकाशमय ज्ञान नामक वस्तु ही मेरा 'मैं' हूँ। जो ज्ञान स्वरूप है वही 'अहं' है, यही है सत्ता और यही है प्रकाश स्वरूप, जिस प्रकार ज्ञान के न रहने पर किसी भी वस्तु का प्रकाश अनुभव में नहीं आता, उसी प्रकार 'अहं' को छोड़ देने से किसी भी ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। यह ज्ञान ही पृथक् पृथक् वस्तुओं के रूप में प्रकाशित है। 'अहं' भी उसी प्रकार ज्ञान के साथ अभिन्न रूप से विराज रहा है। वस्तुजात यह दृश्य भी ज्ञान या 'अहं' से पृथक् नहीं है। पहले ही बताया जा चुका है कि इस दृश्य प्रपञ्च का अधिष्ठान ज्ञान है। जैसे एक पत्थर पर अतीत और अनागत रूप से सहस्र सहस्र दृश्यों की रचना की जा सकती है वैसे ही इस ज्ञान का आश्रय लेकर

भूत भविष्य की सभी वस्तुएँ ही मौजूद हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो, जो ज्ञान का विषय न हो ऐसी वस्तु ढूँढ़ कर पाना असम्भव है। अतएव सभी वस्तुओं का आश्रय ही ज्ञान है और उस ज्ञान से वे बिलकुल ही अभिन्न हैं। जब ज्ञान पूर्वोक्त अज्ञान द्वारा आवृत रहता है, तब वही एक अखण्ड सत्ता असंख्य खण्डों में खण्डित किये गये रूपों में दिखाई पड़ती है, किन्तु वास्तव में वे असंख्य नहीं हैं, यह मैं पहले ही बतला चुका हूँ। इन खण्डित किये गये असंख्य ज्ञानों का विलय हो जाने पर जब एक अखण्ड ज्ञान का प्रत्यय हो जाता है, तभी उसको स्वरूप बोध कहते हैं।

यदि कोई यह सोचे कि, माया जब कि आत्मा का ही स्वकीय भाव है, तब यह आत्मा को छोड़ कर कभी नहीं रहती, अतएव मायाकल्पित अनात्मभाव तो सङ्ग का सङ्गी है, उससे मुक्ति पा जाना किस तरह सम्भव हो सकता है? मुक्ति पा जाना असम्भव नहीं है। क्योंकि आत्मा प्रकाशरूप है, इस लिए इसके अज्ञान द्वारा आवृत रहने पर भी, प्रकाशशील आत्मा ही आत्मा के आवरण को और साथ ही साथ अपने आप को भी प्रकाशित करती है। सूर्य को प्रकाशित करने के निमित्त जैसे अन्य प्रकाश का प्रयोजन नहीं है, वैसे ही आत्मा ही आत्मा का प्रकाशक है। यह प्रकाशमय आत्मा ही एक मात्र सद् वस्तु है और यही निखिल जगत्प्रपञ्च का अधिष्ठान है। इस ज्ञान के स्वरूप को समझ लेने पर ही, इस ज्ञान के आवरण अविद्या के हाथ से छुटकारा मिल जाता है। जैसे रज्जु का स्वरूप ज्ञात हो जाने पर, रज्जुस्थित अज्ञान नष्ट हो जाता है, वैसे ही अज्ञान के लुप्त हो जाने के साथ ही साथ आत्मा का आवरणकारी

अज्ञान आत्मा में ही विलीन हो जाता है, और अज्ञान कल्पित जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिमय संसार की भी सम्पूर्ण विलय प्राप्ति हो जाती है। यद्यपि इस ब्रह्म में तुम-मैं असंख्य दृश्य पदार्थ सभी ब्रह्म समुद्र में बुलबुले की तरह केवल उठे ही हुए हैं। किन्तु बुलबुला जिस प्रकार उस समुद्र के अतिरिक्त कोई वस्तु विशेष नहीं है, उसी प्रकार यह दृश्य पदार्थ भी ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार सोचते रहने पर ही सभी दृश्य ब्रह्ममय हो जाते हैं।

जिस तरह सुवर्ण-कुण्डल के सुवर्ण को देखने से कुण्डल नहीं दिखाई पड़ता, उसी तरह ब्रह्म को देखने से यह जगत् रूप दिखाई नहीं पड़ता, और जगत् को देखने से ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ता। कुण्डल जैसे सुवर्ण की उपाधि मात्र है, पृथक् कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही जगत् उपाधि मात्र है, ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। इसीलिए ब्रह्माभ्यास करना चाहिये।

ब्रह्मचिन्ता—"सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः।
केवलाखण्ड बोधोऽहं आनन्दोऽहं निरन्तरम्॥"

इस कारण ही निरन्तर ब्रह्म चिन्ता करनी पड़ती है। अजस्र ब्रह्म-चिन्ता द्वारा जगत् ज्ञान के नष्ट हो जाने पर आत्मा ही स्वयं प्रकाश पाती रहती है। औषधि से जिस प्रकार रोग नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूप-चिन्तन द्वारा अज्ञान-रोग नष्ट हो जाता है :—

"एवं निरन्तरं कृत्वा ब्रह्मैवास्मीति भावनाम्।
हरत्यविद्या विक्षेपान् रोगानिव रसायनम्॥"

जाग्रदावस्था में जिस तरह सपने में देखे गये पदार्थों का लोप हो जाता है, और उनका लोप हो जाने के कारण

मन क्लिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार समाधि साधन से प्रबुद्ध व्यक्तियों को फिर जगत् भ्रम नहीं रह जाता, और जगत् नहीं है इसके लिए उनको कोई शोक भी नहीं हो सकता ।

इस प्रकार आत्म दर्शन हो जाने पर तुरन्त ही जीवों का भव बन्धन कट जाता है । छान्दोग्योपनिषद् ने कहा है :—

"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् ।
आत्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दो भवति ॥"

इस आत्मा से ही जगत् व्याप्त है । श्रुति ने कहा है— "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।" इस कारण सर्वेन्द्रिय मनोबुद्धि द्वारा जो कुछ अनुभूत हो रहे हैं वे ही ब्रह्म हैं । वे सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप और आनन्दस्वरूप हैं—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।" यही है ब्रह्म का स्वरूप लक्षण । उनमें किसी प्रकार की मिथ्या नहीं है, किसी तरह का जड़त्व नहीं है, कोई परिच्छेद नहीं है, कोई दुःख नहीं है ।

अब यह प्रश्न आ गया कि जब ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है, और जो भूमानन्दस्वरूप हैं, तो इस जगत् में निरानन्द क्यों है, यह रोग, शोक, मृत्यु क्यों है ? सच्चिदानन्द स्वरूप निर्विकार ब्रह्म में, यह विकार दिखाई क्यों पड़ता है ? यही है उनकी अघटनघटनपटीयसी माया-शक्ति का प्रभाव । जो नहीं है उसी का अस्तित्व दिखाना, यही तो महा इन्द्रजाल है; यह ब्रह्म ही जब स्वकीय माया-शक्ति का आश्रय लेकर इस इन्द्रजाल का विस्तार करके जगत् प्रपञ्च की कल्पना करते हैं, तभी वे रसिक शेखर नट चूड़ामणि के नाम से भक्तों में अभिहित होते हैं । उनका

यह खेल क्यों होता है, यह कोई भी बतला नहीं सकता। जहाँ पहुँच जाने पर यह रहस्य जान लिया जाता है, वहाँ जाने पर फिर कोई वापस नहीं आता, यदि आ भी जाता है तो वहाँ की बातें यथोचित रूप से बतला नहीं सकता, वह मूक के रसास्वादन की तरह मनुष्य-बुद्धि के लिए अगम्य हो कर एक अद्भुत रहस्य के रूप में चिर विद्यमान है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा—जगत् कहाँ है? जगत् क्यों देख रहे हो? तुमको दिग्भ्रम हो गया है, रज्जु में सर्पभ्रम हुआ है, तुम तो स्वयं वही हो। जिसको ढूँढ़ते हुए घूम रहे हो, वह तो तुम्हीं हो "तत्त्वमसि", तुम और यह जगत् तो ब्रह्ममय है। स्वर्ण से कुंडल तैयार किया गया है, इसलिए कुण्डल नाम का कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, वह स्वर्ण ही है। उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् कल्पित मात्र है, उसे भली भाँति ज्ञानचक्षु खोल कर देखो, वह ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है। तो फिर यह दृश्य जगत् और यह शरीर स्पष्ट देख रहा हूँ इन्हें कैसे कहूँ कि ये नहीं हैं? ज्ञानियों ने कहा—देखो भावना द्वारा सब कुछ हो जाता है। शून्य में अट्टालिका दिखाई पड़ती है, आकाश में हाथी, घोड़ा, वृक्ष पर्वतों के चित्र दिखाई पड़ते हैं, किन्तु असत्य में वे क्या सत्य वस्तु हैं या तुम्हारी कल्पना हैं? अवश्य ही स्वीकार करोगे कि ये तुम्हारी कल्पनाएँ हैं। उसी प्रकार इस जगत् को कल्पना से देख रहे हो। तुम वृक्ष की डाली में अपने हाथ आप ही लपेट कर हाहाकार मचाकर रो रहे हो और सोच रहे हो कि वृक्ष ने तुमको रोक रखा है। विचार करके देखो वृक्ष तुमको किस तरह रोक रखेगा? तुम स्वयं ही वृक्ष की शाखा में अपने हाथ लपेट कर भ्रमवश रो रहे हो मानो सचमुच ही वृक्ष ने तुमको रोक रखा है।

केवल तुम्हारी बुद्धि के दोष से इस असत्य को सत्य कह कर भ्रम हो रहा है। तुम एक बार अपने आप ही को सोच कर देखो, उस दशा में तुम देख पाओगे कि तुम तो हो आत्मा, तुम तो हो चैतन्य, तुमको क्या ये दृश्य जड़ादि आबद्ध कर सकते हैं ? यह देह भ्रम है। जगत् भ्रम दूर होगा किस तरह ? इसीलिए ज्ञानियों ने आँखों में अंगुली डाल कर दिखा दिया :—

"नाहं मांसं न चास्थिनी देहादन्यः परोह्यहम् ।
इति निश्चयवानन्तः क्षीणविद्यो विमुच्यते ॥
कल्पितैयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात् ।
पुरुषेणाप्रबुद्धेन न प्रबुद्धेन राघव ॥

हे राघव, अप्रबुद्ध पुरुष द्वारा ही अनात्म विषयों में आत्मभावना द्वारा यह अविद्याकृत जगत् कल्पित हुआ है। ज्ञानियों को ऐसी कल्पना नहीं होती, इस कारण उन लोगों के लिए इस जगत् का अस्तित्व भी नहीं है। अतएव यही तुम सर्वदा सोचते रहो कि मैं मांस, अस्थि या देह नहीं हूँ, मैं इनके अतिरिक्त हूँ। इस प्रकार के निश्चयवान लोगों की अविद्या क्षीण हो जाती है। अविद्या क्षीण हो जाती है अरूर, किन्तु मायाकल्पित जगत् लीला जैसे चल रही थी, वैसे ही चलती रहती है, केवल यह तो सत्य नहीं है, यह तो माया है, यह बुद्धि दृढ़ हो जाती है।

ब्रह्मदृष्टि सम्पन्न पुरुषों को किस रीति से जगत् के कार्यकल्याणादि देखने चाहिये इस का उपदेश ज्ञानी गुरु वशिष्ठ जी ने रामचन्द्र जी को दिया था—

"बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्त्तावहिरकर्त्तान्त लोके विहर राघव ॥

त्यक्त्वाहंकृतिरध्वस्तमतिराकाश शोभनः ।
अगृहीत कलङ्काङ्को लोके विहर राघव ॥"

अद्वैत वेदान्त मत से ब्रह्म में नानात्व कल्पित नहीं हो सकता। क्योंकि भेद और अभेद ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। भेद तीन प्रकार के हैं यथा स्वगत, सजातीय और विजातीय। वृक्ष के साथ वृक्ष-शाखाओं का स्वगत भेद है, और एक जातीय दो वृक्षों में सजातीय भेद है और भिन्न जातीय दो वृक्षो में विजातीय भेद है। ब्रह्म में उस तरह का कोई भेद नहीं है। इस कारण जगत् और जीव तो कम से कम वृक्ष और शाखा की ही तरह कुछ न कुछ होंगे यह भी कहना उपयुक्त नहीं है। ब्रह्म में स्वगत, सजातीय या विजातीय कोई भेद हो नहीं है, इसी कारण वे "एकमेवाद्वितीयम्।" इस ब्रह्मतत्त्व को समझने के लिए कितने मत कितने सम्प्रदाय बने हैं, न मालूम कितनी पुस्तकें रचित हुई हैं, किन्तु उस अखण्ड तत्त्व को किसी एक मत विशेष के अन्तर्गत लाते समय उसको संकुचित कर दिया गया है, कोई उसे अखण्डित न रख सका है। जो भी हो, लोग अपने मत द्वारा उनके स्वरूप का जैसा ही निरूपण करने की चेष्टा क्यों न करें, वे उस चिरनिर्विकार अखण्ड सत् रूप में ही नित्य काल विद्यमान हैं, अचिन्त्य मायाशक्ति के प्रभाव से वे प्रपञ्चाकार में परिणतवत् केवल दिखाई ही पड़ते हैं, किन्तु स्वरूपतः वे प्रपञ्चातीत हैं। तत्त्वविद लोग उनको अद्वय ज्ञानतत्त्व के रूप में देखते हैं, कोई तो उनको परमात्मा, और कोई तो उनको भगवान् कह कर पुकारते हैं।

नामरूप द्वारा ही ब्रह्म जड़ और मलिन की भाँति प्रतिभात होते हैं, नाम रूप को भूल सकने से ही ब्रह्म के

स्वच्छ निर्मल स्वरूप को जाना जा सकता है। नाम रूप तो और कोई सत्तावस्तु नहीं है, सत्ता को अवलम्बन करके ही नामरूप का प्रकाश होता है। जब ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है तब उस ब्रह्माश्रित नामरूप को भी ब्रह्मात्मक ही मान लेना पड़ेगा। इस तरह जगत्, जीव और ब्रह्म को एक बना कर जान लेने का नाम ही ब्रह्मज्ञान है। भागवत् में कहा गया है—"इदन्तु विश्वं भगवानिवेतरः।" श्रीधर स्वामी ने इसकी टीका में लिखा है:—"इदं विश्वं भगवान् इतर इव यः स जीवोऽपि भगवान्। चेतनाचेतन-प्रपञ्चस्तद्व्यतिरेकेण नास्ति—स एवैकस्तत्वमित्यर्थः।" इस ज्ञान को विचार और ध्यान द्वारा प्रतिष्ठित करना पड़ता है। अजस्र ब्रह्मचिन्तन द्वारा जगत् और जीव का जड़भाव विगलित हो जाता है, तब शुद्ध चैतन्य निर्मल ब्रह्मभाव ही प्रकाशित होता रहता है, तब सब कुछ ही ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। नाना भावों के रहते ब्रह्मभाव नहीं आता, इसलिए सभी भावों को डुबा सकने से ही निर्मल ब्रह्मभाव समुत्पन्न होता है। विवेक चूड़ामणि में लिखा है:—

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः।
बाह्यशब्दैः कुतोमुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम्॥

अर्थात् नामरूपमय जड़ादि वर्ग जब तक इन्द्रिय प्रत्यय के विषयीभूत रहता है, तब तक हम बातों से जितनी ही ज्ञानालोचनाएँ क्यों न करें वे मिथ्याडम्बर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। बहुतेरे सोचेंगे कि तो जड़त्वलाभ ही क्या ब्रह्मज्ञान का अन्त है? इसके लिए इतनी कठिन साधना का कष्ट सहन करने से लाभ क्या है? थोड़ी सी

अफीम, गाँजा या मारफिया का सेवन करने से ही तो यह अचैतन्य भाव आ सकता है। जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध कुछ भी न रह गया तो रहा ही क्या? केवल शून्य? इस शून्य को पाने के लिए ही क्या इतना प्रयास? नहीं, यह बात नहीं है। समाधि जड़ता मात्र नहीं है। वह जड़ातीत शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह स्वयं कोई भाव नहीं है, किन्तु वह अनन्त भावों का पूर्ण उत्स है। उस समय इस नाम रूपमय जगत् का कोई ज्ञान तो नहीं रहता यह ठीक ही है किन्तु जिस ज्ञान के द्वारा इस नामरूपमय जगत् का ज्ञान होता है, वह ज्ञान ही स्वयं मौजूद रहता है। केवल वह विशेषण रहित, शुद्ध निर्मल ज्ञान रह जाता है। पुनः पुनः तत्त्व विचार करते रहने से वैराग्योदय होता है, और उस वैराग्य से निर्मल शरद ज्योत्स्ना की भाँति ज्ञान की निर्मल कौमुदी का विकाश होता है। तत्त्व विचार और सम्यक् वैराग्य ही ब्रह्म ज्ञान का हेतु है। तत्त्व विचार द्वारा ज्ञान का उदय तो हो जाता है जरूर, किन्तु उस ज्ञान की परिस्थिति निर्भर करती है सम्यक् वैराग्य और साधना पर। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, इन साधन चतुष्टयों से धारणा सम्यक् दृढ़ होती है। नहीं तो छिद्रयुक्त पात्र में जैसे जल रह नहीं सकता, वैसे ही साधन चतुष्टय सम्पन्न न होने से ज्ञान की धारणा दृढ़ भूमि प्राप्त नहीं कर सकती। पुनः पुनः विषय आकर विक्षेप पैदा करते रहते हैं। एक बार जो धारणा हो जाय, पुनः पुनः विचार द्वारा उसकी धारणा करनी चाहिये, एक बार जो स्थिति प्राप्त हो जाय, उस स्थिति को साधना द्वारा सम्यक् आयत्त कर लेना चाहिये, नहीं तो इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व को धारण करना कठिन है:—

"अतीत सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं
न स्थूल दृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति।
समाधिनात्यन्त सुसूक्ष्म वृत्या
ज्ञातव्यमार्यैरति शुद्धबुद्धिभिः॥

भागवत में लिखा है:—

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते॥"

महादेव जी ने पार्वती जी से कहा था कि विशुद्ध सत्त्व ही वसुदेव है, और उस विशुद्ध सत्त्व में ही परम पुरुष वासुदेव प्रकाशित होते हैं। इसी लिए मैं मन द्वारा इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेव का सर्वदा ध्यान करता रहता हूँ। अतएव वह अद्वय ज्ञान तत्त्व ही वासुदेव है।

उस परम ज्ञान स्वरूप परम ब्रह्म को मेरा नमस्कार है जो इन्द्रियातीत होते हुए भी ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता रूप में इन्द्रियज्ञानगम्य हुए हैं।

आठवाँ अध्याय

ब्रह्म विद्या.

योगाभ्यास

"नास्ति योगसमं बलं"—योग बल के समान कोई दूसरा बल नहीं है। इस बल की आवश्यकता किस बात के लिए है और इसका प्रयोग कहाँ करना चाहिये इसी विषय पर विचार करना होगा। अच्छे चिकित्सक जिस तरह रोगी का रोग निर्णय करके उसको दूर करने के लिए औषध प्रयोग करते हैं, और रोग छूट जाने पर स्वास्थ्य के जो सब लक्षण रोगमुक्त शरीर में प्रकट होते हैं, उनको भली-भाँति पूर्णतः समझा देते हैं, उसी प्रकार भवव्याधियों के चिकित्सक ऋषिगण रोगों के लक्षण और स्वास्थ्य के लक्षण बता कर तथा रोग दूर करने के निमित्त उपयोगी औषधों की व्यवस्था करके भवरोग से कातर जीवों के परित्राण के उपाय बतला गये हैं।

पहले बताया जा चुका है कि, सम्यक् ज्ञान न रहने और भ्रान्त दृष्टि के ही कारण जीवों को बन्धन दशा प्राप्त हुई है और अज्ञानता के ही कारण संसार में उन्हें पुनः पुनः यातायात करना पड़ता है, जन्म-मरणादि विविध क्लेश और ताप भोग करने पड़ते हैं—यही है दुःखमय संसार का चिरन्तन इतिहास, यही है भवरोग। हम सभी ऐसे ही रोगाक्रान्त जीव हैं। भ्रान्त दृष्टि और असम्यक् ज्ञान ही इस रोग के कारण हैं, इसलिए सम्यक् ज्ञान और अभ्रान्त

दृष्टि ही, इस भवरोग की महौषध है। भ्रान्ति, आसक्ति, क्लेश, विक्षिप्त चित्तता, अधीरता, ये ही राग के लक्षण हैं। इसीलिए परम कारुणिक भिषक् प्रवर महर्षि पतञ्जलि ने कहा था—"विवेकख्यातिरविप्लवा हानिरुपायः।" अविप्लवा विवेक ख्याति ही हानि का उपाय है, अर्थात् वह विशुद्ध ज्ञान जब मिथ्या ज्ञान के द्वारा अविप्लावित होता है, अर्थात् टूट नहीं जाता,—जिस परम ज्ञान और विवेक-वैराग्य की फिर च्युति होने की सम्भावना नहीं रह जाती—जिसके बल से मिथ्या ज्ञान जले हुए बीज के समान हो जाता है—वही यथार्थ मुक्ति का उपाय है। इसको किस तरह प्राप्त करना चाहिये? "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धि क्षये ज्ञान दीप्तिरविवेक ख्यातेः।"—विवेक ख्याति ही हानिर्पाय है यह सिद्ध हो गया, किन्तु साधन के बिना तो सिद्धि नहीं होती, इसीलिए, कह रहे हैं कि, योगाङ्गानुष्ठान से अशुद्धि का क्षय हो जाने पर विवेक ख्याति तक ज्ञानदीप्ति होती रहती है। कर्म और संस्कार अज्ञान मूलक हैं। जैसे साधनों के अनुष्ठान किये जाते हैं, वैसे ही अशुद्धि की क्षीणता प्राप्त होती है, अर्थात् वह क्षीण हो जाती है, और अशुद्धि की क्षीणता के साथ ज्ञानदीप्ति बढ़ती जाती है। चित्त में जो अविश्रान्त वृत्तियाँ उदित हो रही हैं वे ही अज्ञान संसार-समुद्र की दुरति-क्रमणीय भयावह विक्षुब्ध वीचिमालाएँ हैं। इनका मानो कोई आरपार नहीं है। इनका आना बराबर जारी है, इनके निवृत्त होने का नाम तक भी नहीं है। शरीर में मिथ्या अभिमान को घेर घेर कर मोह के चकोह (भँवर) पैदा हो रहे हैं—जो उनमें पड़ते जा रहे हैं वे ही डूबते चले जा रहे हैं। यही है चित्त की उपसमाहितावस्था। समाहिता-वस्था से ही चित्त की निर्मलता और उसके प्रशान्त भावों

का उदय होता है, तभी दिव्य ज्ञान का अविर्भाव होता है, जो मन्दाकिनी की पवित्र धारा की तरह जगत् को पवित्र और निर्मल बना देता है। इस सम्यक् दृष्टि से संसार की अविशुद्ध और क्लेशदायक अवस्था की जानकारी हो जाने पर, उससे चित्त की जो विरति हो जाती है, वही वैराग्य है।

इस वैराग्योदय से फिर संसार की काम्यवस्तुओं के प्रति लोलुपता नहीं रहती, इस कारण चित्त में विविध वृत्तियों का उठना भी सम्भव नहीं हो सकता इसीलिए महर्षि ने कहा है—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः", चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है। इस निरोध का क्या फल है इसे भगवान् भाष्यकार ने बताया है—"यस्त्वेकाग्रेचेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधामिमुखं करोति।"—अर्थात् जो समाधि एकाग्रभूमिक चित्त में समुद्भूत हो कर सत् स्वरूप अर्थ को प्रकट करती है, अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करती है कर्म बन्धनों को शिथिल कर देती है और निरोधावस्था को ले आती है—वही यथार्थ योग है। योगाङ्ग कौन कौन हैं?

"यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहार-
धारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि॥"

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये ही आठ योगाङ्ग हैं। इन यमनियमादि के सम्यक् आचरण से अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनका विशेष विवरण देना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है। दो एक विषयों का संक्षेप में उल्लेख करूँगा। योग के द्वितीयाङ्ग नियमों में ईश्वर प्रणिधान अन्यतम है। इससे सुख से समाधि सिद्ध होती है। "समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।"

सर्वभाव ईश्वर में समर्पित होने से समाधि की सिद्धि होती है। ईश्वरप्रणिधान प्रत्यक्षरूप से समाधि का सहायक होता है। धारणा और ध्यान द्वारा अन्य विषयों से चित्त निरुद्ध हो सकता है, किन्तु भक्तिपूर्वक श्रद्धालुचित्त से भगवत रूप या गुणों की धारणा करते करते चित्त का आनन्द और आग्रह इतना अधिक बढ़ जाता है कि शीघ्र ही ऐसे भक्त के ईश्वराभिमुख वृत्तिप्रवाह में अखण्डता आ जाती है, और थोड़े ही समय में उनकी समाधि सिद्ध हो जाती है। जगत्-गुरु भगवान् में भक्तियुक्त हो जाने पर, वे भी योगी पर कृपा करते हैं, उनके अभिध्यान से भी योगी को समाधि प्राप्त होती है और उसके फलस्वरूप वैराग्य प्राप्त हो जाता है। भगवान् ने गीता में भी यही कहा है—

> "चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
> बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
> मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।"

योगाङ्गों में "प्राणायाम" एक अन्यतम अङ्ग होने पर भी, यही योगियों के लिए प्रधान साधना है। योगशास्त्र में लिखा है—"चले वाते चलच्चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्," जितनी देर तक प्राणवायु चञ्चल रहेगी, उतनी देर तक मन बुद्धि को स्थिर करना कठिन है। प्राण के स्थिर होने पर ये भी स्थिर रहते हैं। चित्त प्रसन्न या निर्मल होने से वह एकाग्र होकर स्थिति पद प्राप्त कर लेता है। किन्तु मन क्यों प्रसन्न नहीं होता, वह क्यों स्थिर नहीं हो सकता, क्यों वह तरह तरह की चिन्ताओं के वश में होकर अनन्त दुःख का भागी बनता है? इसका कारण यह है कि देहान्तवर्ती सहस्रों सहस्रों वासनावेगमयी नाड़ियाँ चित्तस्थित उन संस्कारों को कम्पित करती हैं और उनके अविच्छिन्न

कम्पनों से वासनावेग प्रवाहित होते रहते हैं। इनमें से प्रत्येक ही मानो वासना के एक एक सांकेतिक केन्द्र है। किसी भी प्रकार से जरासा संकेत पा लेने से ही, उसकी निरन्तर गति होने लगती है, और नाड़ीमुखी गति से वासना हिल्लोलित होती रहती है। इसी से वासनाओं का भी विराम नहीं रहता, बुद्धि को भी अवसर नहीं रहता। यतः नाड़ियाँ वासनामय हैं, और वे एक एक वासना की प्रवाहिका हैं अत. चौरासी लाख नाड़ियाँ चौरासी लाख वासनाओं की आधार हैं और इनसे ही चौरासी लाख योनियों का परिभ्रमण हो रहा है। प्राणशक्ति इन सब नाड़ी-प्रवाहों का प्रधान उत्स है। यदि इस प्राण-गति को विशुद्ध बना सकें तो लाखों लाखों नाड़ी प्रवाह भी शुद्ध हो जायँगे। इसी का नाम है प्राणशोधन या प्राणायाम। मनु ने कहा है—"प्राणायामैर्दहेद्दोपान्", प्राणायाम द्वारा शरीरस्थ धातुओं का मल दूर होजाता है—

"दह्यते ध्मायमानानां धातूनां हि यथामलः
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोपाः प्राणस्य निग्रहात् ।"

अग्नि से उत्तप्त हो जाने से जिस प्रकार धातुओं का सम्पूर्ण मल दूर हो जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा प्राणवायु का निग्रह करने से इन्द्रियों के सभी दोष जल जाते हैं।

महर्षि पतंजलि ने भी इसी कारण योगदर्शन में कहा है—

"प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य"

प्राणों के प्रच्छर्दन और विधारण से भी चित्तस्थिति प्राप्त होती है।

इस प्राणरोध का क्या फल है, इस पर महर्षि ने कहा है:—

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।" पाद, साधन ५२

प्राणायाम अभ्यासकारी योगी के विवेकज्ञान के आवरणभूत कर्म्म क्षय प्राप्त करते हैं। भाष्यकार व्यासदेव ने कहा है—"तदस्य प्रकाशावरणं कर्म्मसंसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्बलं भवति, प्रतिक्षणं क्षीयते। तथाचोक्तं तपो न परं प्राणायामात्, ततोविशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।" महामोहमय इन्द्रजाल हमारे प्रकाशशील सत्त्व को ढक कर हमें अकर्म्म में लगा देता है; संसार का हेतु ही यह प्रकाशावरण है, यह प्राणायाम का अभ्यास करने से दुर्बल हो जाता है, और प्रति क्षण क्षय को प्राप्त होता है। इसी कारण श्रुति में कहा गया है—'प्राणायाम से श्रेष्ठ दूसरी कोई तपस्या नहीं है, उससे सभी मलों की विशुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है।' इसी प्रकार योगी राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करके प्रसाद अर्थात् शान्ति प्राप्त कर लेते हैं, और प्रसाद की प्राप्ति हो जाने पर योगी के सब दुःखों का नाश हो जाता है और प्रसन्नचित्त उस योगी की बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाती है।

"प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशुः बुद्धिःपर्य्यवतिष्ठते॥"

प्रसन्न चेतसः स्वस्थान्तःकरणस्य हि यस्मादाशु शीघ्रं बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते आकाशमिव परि समन्तात् अवतिष्ठते आत्मस्वरूपे नैव निश्चलीभवति।"—शङ्कर।

प्रसन्नचित्त की बुद्धि आकाश की तरह चारो तरफ स्थित रहती है और आत्मस्वरूप में निश्चल हो जाती है।

चित्त के निर्मल हो जाने पर सभी वस्तुओं का यथार्थ प्रतिबिम्ब उसमें जा पड़ता है। जो सत्य है, जो मिथ्या है,

जो हितकारी है, जो उपकारी है, इन सभी को तब चित्त भलीभाँति समझ सकता है। मलिनचित्त व्यक्ति अनेक दुःखकर विषयों को सुख की सामग्री समझ कर उन्हें ग्रहण करके अनेक दुःख भोगता रहता है। निर्मल चित्त को ऐसी भ्रान्ति की सम्भावना नहीं है। इस लिए किसी प्रकार का दुःख उनको आश्रय नहीं करता। निर्मल चेता की ब्रह्मबोधिनी बुद्धि सभी मायिक पदार्थों में अरुचि रहने के कारण आत्मा में स्थिति करती रहती है। योगाभ्यास द्वारा प्राण निरुद्ध हो जाने पर इस स्थितिपद को प्राप्त किया जाता है। "निष्कलं तं विजानीयाच्छ्वासो यत्र लयं गतः।" यह श्वास जहाँ लय हो जाता है उसी को निष्कल अवस्था कहते हैं।

विष्णु पुराण में लिखा है—

"प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः।
वशीकृतैस्ततः कुर्य्यात् स्थिरं चेतः शुभाश्रये॥"

प्राणायाम द्वारा पवन को और प्रत्याहार द्वारा सभी इन्द्रियों को वशीभूत करके, उसके बाद शुभाश्रय भगवान् में चित्त की एकाग्रता स्थापित करनी चाहिये। प्राणायाम अभ्यास से श्वास स्थिर हो जाता है जिसको कुम्भक कहा जाता है। भगवान् ने गीता में इसको सभी यज्ञों में अन्यतम यज्ञ कह कर व्याख्या की है। पूज्यपाद श्रीधर स्वामी ने गीता की टीका में कहा है:—

"कुम्भके हि सर्वे प्राणा एकी भवन्ति, तत्रैव लीयमाने-ष्विन्द्रियेषु होमं भवेयन्तीत्यर्थः"।

अर्थात् कुम्भक के समय सभी प्राण एक हो जाते हैं—अर्थात् उनकी विविध गतियाँ एकमुखी हो जाती हैं—इसी का अर्थ है प्राण का स्थिर हो जाना। प्राण के स्थिर हो

जाने पर इन्द्रियाँ भी स्थिर हो जाने को बाध्य हो जाती हैं। इसलिए प्राणायाम द्वारा कुम्भकाग्नि में—इन्द्रियों का जो होम हो गया, वह भी एक अपूर्व यज्ञ है। योगशास्त्र में लिखा है:—

"यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् ।
वायु वाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥"

"कैसे मन को शान्ति मिलती है"—श्री रामचन्द्र के इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि वशिष्ठ कहते हैं—

"दो प्रकार के उपायों से मन को शान्ति मिलती है। प्रथम उपाय है ज्ञान, दूसरा है योग। इन में से तत्त्व दर्शन को ज्ञान और प्राणादि वृत्तियों के रोध को योग कहते हैं।"

योगसाधन का उपाय

वशिष्ट ने कहा है—"जो वायु देहान्तर्वर्ती सहस्र नाड़ियों में सञ्चरित होती है, उसका नाम है प्राण, क्रिया भेदानुसार अपान आदि पाँच भागों में विभक्त है और इसके स्पन्दित होने पर, हृदय में जो कल्पनोन्मुखी सम्वित् समुद्भूत होता है, उसका ही नाम चित्त है। × × इसलिए प्राणस्पन्द का रोध करने से ही चित्त को शान्ति मिलती है और चित्त शान्त हो जाने पर जगत् का लय हो जाता है।

वशिष्ठ जी ने कहा—शास्त्र, सत्सङ्ग और वैराग्य रूप योग द्वारा संसार के प्रति अनिच्छा उत्पन्न हो जाने पर, मन एक मात्र ब्रह्मध्यान में लग जाता है, उस प्रकार के ध्यान योग की गाढ़ता का अभ्यास हो जाने पर, फिर तो प्राण स्पन्दित नहीं हो सकता। × × प्राणायाम अभ्यस्त हो जाने

प्राणायामादि योगाभ्यास का फल। प्राणरुद्ध किया जा सकता है या नहीं ?

से, जो घनतर ध्यान योग उत्पन्न होता है, उसके प्रभाव से भी प्राण फिर स्पन्दित नहीं हो सकता। ओङ्कारोच्चारण से समुत्थित शब्दों से सम्विद् सुपुप्त रहने पर भी प्राण फिर स्पन्दित नहीं हो सकता। अभ्यास की सहायता से प्राण का तालु से द्वादश अंगुल ऊँचाई पर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा कर सम्विद् रोध करने से प्राण फिर स्पन्दित नहीं होता। जो कुम्भक का अभ्यास करते हैं, उनके मनको कभी वाह्य विषय आकर्षित नहीं कर सकते। कुम्भकादि की सहायता से मन को वाह्य विषयो से हटा लाने में समर्थ होने पर स्वल्प समय के भीतर ही परमपद की प्राप्ति की जा सकती है।"

अन्यान्य शास्त्रों और पुराणादि के मन्तव्य :—

अग्निपुराणमें :—"आकेशादानखाग्राच्च
तपस्तप्यन् सुदारुणं।
आत्मानं शोधयेद् यस्तु
प्राणायामैः पुनः पुनः ॥
सर्वदोषपहरः प्रोक्तः
प्राणायामोद्विजन्मनां।
ततस्त्वभ्यधिको नास्ति
तपः परम साधनं ॥"

महर्षि बौधायन :—"एतदाद्यं तपः श्रेष्ठमेतद्धर्म्मस्य लक्षणं।
सर्व देवोपकारार्थमेतदेव विशिष्यते ॥"

यह प्राणायाम ही आदि और सर्वश्रेष्ठ तपस्या तथा धर्म है, देवताओं ने भी प्राणायाम द्वारा ही उपकार प्राप्त किया है।

महर्षि अत्रि :—"कर्मना मनसा वाचा
यदह्ना कुरूते त्वघं ।
आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां
प्राणायामैस्तु शुध्यति ॥"

वृद्धविष्णु :—"प्राणायामाण् द्विजः कुर्य्यात्
सर्वपापापनुत्तये ।
दह्यन्ते सर्वपापानि
प्राणायामै द्विजस्यतु ॥"

योगी याज्ञवल्क्य :—"यदह्ना कुरुते पापं
कर्म्मना मनसा गिरा ।
त्रैकाल सन्ध्याकरणात्
प्राणायामैर्व्यपोहति ॥"

भगवद्गीता:—"अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापान गतीरुद्धा प्राणयाम परायणाः ।
अपरे नियताहारा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥"

कामना ने स्वयं कहा है कि निर्ममता और योगाभ्यास के विना कोई भी मुझे पराजित करने में समर्थ नहीं होता । (महाभारत, अश्वमेध)

रजः तमोगुण-नाशक कर्म्मों का अनुष्ठान ही योग है ।

"योग बल ही मुक्ति प्राप्त करने का अद्वितीय उपाय है। योगधर्म ब्रह्म स्वरूप है और सभी धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, इस धर्म्म से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। पण्डित गण द्रव्यादि त्याग के निमित्त यज्ञादि कार्य, भोग त्याग के निमित्त व्रत, सुख त्याग के निमित्त तपस्या, और सब को ही त्याग करने के निमित्त योगसाधन करने का उपदेश देते हैं। सर्वत्याग ही त्याग की पराकाष्ठा है। महात्मा

गण दुःख निवारण के निमित्त सर्वत्याग के पथ स्वरूप योग विषय निर्दिष्ट कर गये हैं।"

(महाभारत शान्ति पर्व)

महा निर्वाण तन्त्र में लिखा है:—

"यतो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति ।
यस्मिन् सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्मलक्षणैः ,
समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्वत्र समदृष्टिभिः ।'

मकड़ी की जाली की तरह यह प्राणधारा सर्वत्र व्याप्त है, नाड़ी प्रवाह में यह प्राण प्रतिक्षण स्पन्दित हो रहा है और सहस्रों वासनाएँ उस में से समुत्थित हो रही हैं। जब तक यह प्राण प्रवाह निर्मल नहीं हो जाता, तब तक वासना की शुद्धि नहीं हो सकती। प्राणायाम द्वारा यह प्राण-प्रवाह निर्मल और स्थिर हो जाने पर जीव निष्पाप हो कर परमानन्द उपभोग करता है। प्रयाणकाल में यह नाड़ी-प्रवाह जिसका जितना निर्मल रहता है, उसको तदनुसार उच्चगति प्राप्त होती है। इन नाड़ियों के साथ लोक-लोकान्तरों का सम्बन्ध और योग मौजूद है, प्राण को स्थिर करने में जिनको जितनी ही अधिक सफलता मिलती है, उनकी हृदयस्थ ब्रह्म नाड़ियाँ उतने ही अधिक परिमाण में परिस्फुट होती हैं। मृत्युकाल में इस ब्रह्मनाड़ी का मुख खुल जाने पर ही ब्रह्मलोक की गति मिलती है।

कठोपनिषद् में कहा गया है—

"शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्य
स्तासां मूर्द्धानमभि निःसृतैका।
तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥"

हृदय से उद्भूत एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी मूर्द्धस्थान में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की तरफ चली गयी है। मृत्युकाल में मनुष्य उसके द्वारा उर्द्ध्व में अर्थात् ब्रह्मलोक में जा कर अमृतत्व प्राप्त करता है अर्थात् जन्म-मृत्यु की अतीत अवस्था को प्राप्त होता है। तरह तरह की गति देनेवाली दूसरी एक सौ नाड़ियाँ हैं, देह त्याग करते समय उन पथों से शरीर से निकल जाने से विभिन्न लोकों में जा कर सुख दुःखादि भोग करता है और जन्म-मृत्यु के अधीन हो रहता है।

बंगाल के सुप्रसिद्ध धर्म व्याख्याता, वक्ता और सनातन-धर्म प्रचारक, परमहंस श्री कृष्णानन्द स्वामी महोदय ने अपनी गीतार्थ सन्दीपनी की अवतरणिका में लिखा है—

वर्तमान युग के प्रसिद्ध साधकों के मन्तव्य।

"अविद्या के विनष्ट हो जाने से ही साधक के भ्रम, संशय, और जन्मान्तर प्राप्ति के कारण संचित कर्मराशि नष्ट हो जायगी और उनका आत्मसाक्षात्कार सिद्ध हो जायगा। किन्तु प्रारब्ध वासना का सहज ही में क्षय नहीं होता, इसलिए आत्मसंयम अर्थात् धारणा, ध्यान, और समाधि की नितान्त आवश्यकता है और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार ये पाँच इन महा संयम साधनों के प्रधान अङ्ग हैं। वर्तमान युग के प्रसिद्ध योगाचार्य स्वर्गीय श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय ने वैशेषिक दर्शन के प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—"क्रिया (प्राणायामादि योगाङ्गानुष्ठान) द्वारा चित्त संयत होता है; चित्त और मन के एक हो जाने से बुद्धि स्थिर हो जाती है, बुद्धि स्थिर हो जाने पर मन परा बुद्धि को पहुँच जाता है, तब सुर में ब्रह्म को सर्व प्रकार से स्पर्श करने से अभ्युदय

होता है। अर्थात् जो जीवन का चिरन्तन लक्ष्य है उस परम सुख की प्राप्ति से परम ऐश्वर्य प्राप्त होता है, और जिसको पा जाने पर संसार के सभी ऐश्वर्य ही तुच्छ प्रतीत होते हैं।" स्वर्गीय प्रसिद्ध आचार्य विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय ने कहा है—"श्वास-प्रश्वासों में नाम का जप कर सकने से अहंकारादि सभी नष्ट हो जाते हैं। हाथो हाथ मुक्ति पाने का ऐसा कोई अन्य कार्य-कौशल नहीं है। श्वास-प्रश्वास में नाम जपते रहना ही साधन है, इससे कामादि सभी रिपुओं का नाश हो जायगा। प्रेम, भक्ति, पवित्रता आ जायगी। श्वास-प्रश्वास में जप करने पर वर्तमान पापराशि के दूर हो जाने पर ही उनका दर्शन प्राप्त होता है।"

योगाङ्ग के प्रत्याहार के सम्बन्ध में कुछ कह कर ही मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा।

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।' (योगदर्शन साधन पाद)

अपने अपने विषयों में असंयुक्त हो जाने पर इन्द्रियों का भी चित्त स्वरूपानुकार की भाँति अर्थात् चित्त के साथ इन्द्रिय का निरुद्ध हो जाना ही प्रत्याहार है। पूज्यपाद भाष्यकार ने इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया है "यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनुत्पन्ति, निविशमानमनुनिवशन्ते, तथेन्द्रियाणि चित्त निरोधे निरुद्धानि, इत्येष प्रत्याहारः" —अर्थात् जैसे उड़ने वाले मधुकर राज के पीछे पीछे अन्य मक्खियाँ उड़ती रहती हैं, और वह मक्खी जहाँ बैठ जाती है, दूसरी मक्खियाँ भी वहीं बैठ जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त के निरोध से निरुद्ध हो जाती हैं। यही प्रत्याहार है।

इस प्रत्याहार की आवश्यकता साधक के लिए अत्यन्त

अधिक है। इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में ग्रहणशील हैं। जब तक वे विषयों के ग्रहण में नियुक्त रहेंगी, तब तक चित्त को निरुद्ध करना असाध्य कर्म है। इस कारण विचार द्वारा यह स्थिर कर लेना कर्त्तव्य है कि विषय ग्रहण हेय और प्रकृत आनन्द का प्रतिबन्धक है। तदनन्तर चित्त को किसी एक लक्ष्य में बाँध देने का प्रयत्न करना चाहिये, अथवा इन्द्रिय विषय से दूर रहना चाहिये, या उसे किसी आध्यात्मिक स्थान में निरुद्ध करना चाहिये, अथवा भगवान् के किसी एक विशेष रूप या भाव में निमग्न रहने का अभ्यास करना चाहिये।

सर्वदा विषयों की चिन्ता करने से या बहुत से विषयों में चित्त को लगा रखने से प्रत्याहार नहीं होता। प्रत्याहार न कर सकने से इन्द्रियों की वश्यता अवश्यम्भावी रहती है। महामुनि जैगीषव्य ने कहा है—एकाग्रचित्त हो जाने पर इन्द्रियों के विषयग्रहण में जो अप्रवृत्ति हो जाती है, उसी को इन्द्रियजय कहते हैं। विचार द्वारा हेय उपादेय को निश्चित रूप से समझ सकने पर दिखाई पड़ने वाले या न दिखाई पड़ने वाले सब प्रकार के विषयों के ग्रहण में ही चित्त में अनास्था उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार इन्द्रिय-भोग्य विषय में वैराग्य उत्पन्न हो जाने से ही चित्त एक अविनाशी चिर सत्य पदार्थ में पूर्ण स्थिति प्राप्त कर लेता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में दिखाया है

"स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य्यसत्कार सेवितो दृढ़भूमिः।"

अर्थात् दीर्घकाल से निरन्तर तपस्या, ब्रह्मचर्य और तत्त्वज्ञान श्रद्धा के साथ सम्पादित होने से अभ्यास दृढ़भूमि हो जाता है, अर्थात् उत्थान संस्कारद्वारा उस तरह दृढ़

अभ्यस्त संस्कार शीघ्र अभिभूत नहीं होता। इसी कारण चित्त को पुनः पुनः विषयों से खींच कर उसको लक्ष्य की ओर परिचालित करना चाहिये। इस तरह की चेष्टा के फल से ही प्रत्याहार सहज हो जाता है। इच्छा के अनुसार मन को आकाशवत् स्वच्छ कर सकने से प्रत्याहार पूर्णता प्राप्त करता है।

यम, नियम।

योगाभ्यासी को यम नियम का साधन करना चाहिये, नहीं तो योग फल मिलना बिलकुल ही असम्भव है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की है—अन्तर और बहिः। विचार और वैराग्याभ्यास द्वारा अन्तरेन्द्रिय को, (मन और बुद्धि को) संयत करना चाहिये। भक्ति भी इस में प्रधान सहायक है। मनन से ध्यान होता है। ध्यान-निष्ठा द्वारा मन-बुद्धि संयत हो जाती है। किन्तु विषय चिन्ता रहने पर ध्यान जमने ही न पावेगा, इसी कारण सर्वदा विचार का आश्रय लेना पड़ेगा। बहिरिन्द्रियाँ दो श्रेणियों में विभक्त हैं। कर्ण (शब्द), त्वक् (स्पर्श), चक्षु (रूप), जिह्वा (रस) और नासिका (गन्ध)—ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रियों को अधिक सरलता से शान्त किया जा सकता है। किन्तु मन-बुद्धि शान्त न होने से ये यथार्थ प्रशान्त भाव धारण नहीं कर सकतीं। इस कारण पहले अन्तरेन्द्रियों को संयत करने की चेष्टा ही प्रधान साधना है।

योगनिष्ठ के आवरण, आहार और निद्रा का संयम।

'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति
न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य
जाग्रतोनैवचार्जुन ॥

(विषय में दोष न देखने से विषय लोलुप चित्त विषय की तरफ अवश्य दौड़ जायगा, इसलिए सतर्कता के साथ इधर उधर बिखरे हुए मन को समेट कर आत्मस्थ कर लेना चाहिये) और धैर्य सम्पन्न बुद्धि द्वारा (पूर्वाभ्यास और संस्कार के कारण मन यदि धीरज खो बैठे, तो मुझसे यह न हो सकेगा कह कर बागडोर न छोड़ कर) उन्हें निरुद्ध अर्थात् आत्मस्थ करने की चेष्टा करनी चाहिये। और मन को आत्मसंस्थ अर्थात् आत्मा में निश्चल करके उपरति का अवलम्बन करना चाहिये, और सभी अन्य चिन्ताओं को छोड़ देना चाहिये। जैसे मनुष्य जाग्रत अवस्था में विषयों को देखता है और स्वप्नावस्था में अत्यन्त असंलग्न और क्षीण भाव से मन ही मन विषयों का अनुशीलन करता है किन्तु देखता नहीं है, फिर सुषुप्तावस्था में विषयों को जरा भी स्मरण नहीं करता, वैसे ही साधक पहले अपने मन को विषयों से हटा कर ज्यों ही आत्मस्थ करने लगेगा, त्यों ही निद्रालु व्यक्ति के विषय दर्शन की भाँति उसके मन में इत्यादि अस्फुट भाव से नाचने लगेंगे, बाद को विषय दर्शन न होंगे, कभी कभी असंलग्न रूप से विषय आ पड़ेंगे। फिर मनको और भी गंभीर रूपसे मग्न करने की चेष्टा करते करते मन सम्यक् विरति प्राप्त कर लेगा, तब यह बोध भी न रह जायगा कि मैं सोच रहा हूँ। यही है मन की निवृत्ति। मन की निवृत्ति हो जाने पर ही परम शान्ति आकर योगी का आश्रय लेती है, और उस शान्त समाहित अवस्था में ब्रह्मज्ञान का सम्यक् विकाश होता रहता है। यही है **आत्मसाक्षात्कार।** तब ज्ञान ज्ञेय, ज्ञाता तीनों एकाकार हो जाते हैं, इस कारण अभिमान अहङ्कार लेशमात्र भी नहीं रह जाता। उनसे भले बुरे जो भी कार्य सम्पन्न क्यों न हो जायँ, उनसे उन्हें

युक्ताहारविहारस्य
युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा ॥'

जो अधिक भोजन करते हैं या नितान्त अनाहारी हैं, अति निद्राशील हैं या बहुत ही कम सोते हैं, ऐसे व्यक्ति को हे ! अर्जुन समाधि प्राप्ति नहीं होती। आहारनिद्रा, जागरण प्रभृति विषयों में जो नियमित आचरण करते हैं अर्थात् जो यथेच्छाचारी नहीं हैं, उनका ही योग दुःखनाशक होता है, अर्थात् समाधि सिद्धि द्वारा ब्रह्मविद्या का विकाश होता है।

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा।'

इस योग का अभ्यास अध्यवसाय के साथ (अर्थात् यह होगा ही अवश्य होगा, ऐसा दृढ़ निश्चय हृदय में रहना चाहिये)। हृदय को अवसाद शून्य करके (अर्थात् योगसिद्धि होगी या न होगी यह सन्देह रहने से प्रयत्न में शिथिलता आ सकती है) इस प्रकार से योगाभ्यास करना चाहिये।

'सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥'
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्याधृति गृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली योग के प्रतिकूल जो सब कामनाएँ हैं उन्हें सम्पूर्णतः त्याग देना चाहिये (संकल्प आने से ही कामना जाग उठेगी, विक्षिप्त चित्त में योगलाभ असम्भव है, अतएव संकल्प न करूँगा ऐसा दृढ़ निश्चय करके) चारो तरफ दौड़ने वाली इन्द्रियों को संयत करके

(विषय में दोष न देखने से विषय लोलुप चित्त विषय की तरफ अवश्य दौड़ जायगा, इसलिए सतर्कता के साथ इधर उधर बिखरे हुए मन को समेट कर आत्मस्थ कर लेना चाहिये) और धैर्य सम्पन्न बुद्धि द्वारा (पूर्वाभ्यास और संस्कार के कारण मन यदि धीरज खो बैठे, तो मुझसे यह न हो सकेगा कह कर बागडोर न छोड़ कर) उन्हें निरुद्ध अर्थात् आत्मस्थ करने की चेष्टा करनी चाहिये। और मन को आत्मसंस्थ अर्थात् आत्मा में निश्चल करके उपरति का अवलम्बन करना चाहिये, और सभी अन्य चिन्ताओं को छोड़ देना चाहिये। जैसे मनुष्य जाग्रत अवस्था में विषयों को देखता है और स्वप्नावस्था में अत्यन्त असंलग्न और क्षीण भाव से मन ही मन विषयों का अनुशीलन करता है किन्तु देखता नहीं है, फिर सुषुप्तावस्था में विषयों को जरा भी स्मरण नहीं करता, वैसे ही साधक पहले अपने मन को विषयों से हटा कर ज्यों ही आत्मस्थ करने लगेगा, त्यों ही निद्रालु व्यक्ति के विषय दर्शन की भाँति उसके मन में दृश्यादि अस्फुट भाव से नाचने लगेंगे, बाद को विषय दर्शन न होंगे, कभी कभी असंलग्न रूप से विषय आ पड़ेंगे। फिर मनको और भी गंभीर रूपसे मग्न करने की चेष्टा करते करते मन सम्यक् विरति प्राप्त कर लेगा, तब यह बोध भी न रह जायगा कि मैं सोच रहा हूँ। यही है मन की निवृत्ति। मन की निवृत्ति हो जाने पर ही परम शान्ति आकर योगी का आश्रय लेती है, और उस शान्त समाहित अवस्था में ब्रह्मज्ञान का सम्यक् विकाश होता रहता है। यही है **आत्मसाक्षात्कार**। तब ज्ञान ज्ञेय, ज्ञाता तीनों एकाकार हो जाते हैं, इस कारण अभिमान अहङ्कार लेशमात्र भी नहीं रह जाता। उनसे भले बुरे जो भी कार्य सम्पन्न क्यों न हो जायँ, उनसे उन्हें

बन्धन नहीं प्राप्त होता। योगीवर शुकदेव महाराज ने परीक्षित के प्रश्न के उत्तर में इसीलिए कहा था :—

"कुशलाचरिते नैषाम् हि स्वार्थः न विद्यते।
विपर्य्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो॥"

कुशल कर्म्मानुष्ठान में भी उनका स्वार्थ नहीं रहता, विपर्य्यय करने से भी कोई अनर्थ नहीं होता। क्योंकि वे निरहङ्कार हैं। अहङ्कार के ही कारण सदसत् कर्मों का फलभागी होना पड़ता है।

योगचर्या।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय मानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

अन्तःकरण को धैर्य से प्रशान्त करके भयशून्य बना देना पड़ेगा, अर्थात् योग करने से पीछे कहीं मर न जाऊँ, या सांसारिक विषयभोग छोड़ देना पड़े, या साधन करने से यदि कोई फल न मिले, तो उस अवस्था में इधर उधर दोनों तरफ का चला जायगा—इस भय को छोड़ देना पड़ेगा, नहीं तो दृढ़ता न आवेगी। ब्रह्मचारी व्रत में स्थित होकर अर्थात् गुरुशुश्रूषा और शुक्रधारण करने में सचेष्ट रह कर साधन करना पड़ेगा। शुक्रधारण न कर सकने से योगाभ्यास करके कोई सुफल नहीं मिलता, वरन् हित की हानि होती है। जो इस विषय में सावधान रहते हैं, वे शीघ्र ही योगफल प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार विषयों से मन को हटा कर मच्चित्त, मत्पर और समाहित,

होकर योगी को अवस्थान करना चाहिये। मन में अधिक विषयवांछा रहने से योग नहीं होता, इसलिए भगवान् को प्रिय बोध करना चाहिये, उनको प्रिय बोध कर सकने से 'मच्चित्त हो जाना कठिन नहीं है। और मत्पर होकर अर्थात् परमेश्वर पर निर्भर करके रहना चाहिये, अपने शरीर के बल से करूँगा कह कर गर्व करने से कुछ भी न होगा। भक्ति विगलित चित्त से उनके चरणों का आश्रय लेकर योगी को उनके ही ऊपर सद्भाव से निर्भर करके रहना चाहिये।

प्रथम अभ्यासी योगी को किस तरह मन को समाहित करना चाहिये इसी का उपाय बता रहे हैं। पक्का योगी सहस्रों कोलाहलों के बीच भी अपने चित्त को उनके सुचारु चरणों में योगयुक्त करके रख सकता है। उनको जो अमय परमानन्द अवस्था मिल चुकी है, उसमें दूसरों का कोलाहल क्या कर सकेगा। वे सभी नरनारियों में उनकी अपूर्व रूप-राशि देख कर मुग्ध और विह्वल हो जाते हैं। इच्छा करते ही मन को बहिर्विषयों से अन्तर्मुखीन कर लेने में उनको जरा भी देर नहीं लगती। किन्तु जो कच्चे हैं, जिन्होंने हाल ही में साधन आरम्भ किया है, उनको सङ्ग शून्य होकर एकाकी एकान्त स्थान में निरन्तर रहना चाहिये। चित्त और देह को संयत करके निराशी अर्थात् आकांक्षा शून्य होकर और परिग्रह शून्य होकर, मन को समाधान करना चाहिये। चित्त के समाधान में लोकसङ्ग अन्तराय है, लोभातुरचित्त में विषयों की आकांक्षा रहने से भी मन को समाहित करना कठिन है। देह की चञ्चलता भी स्थिर अवस्था की प्राप्ति में घोर विघ्नकारक है। हिलना डोलना, इधर उधर ताकना, या एक स्थान पर एकही भाव से बैठे न रह सकना—

ये सभी योगसिद्धि के अन्तराय हैं। इसीलिए योगी गण प्रारम्भ में आसन, मुद्रा और स्थिरदृष्टि का अभ्यास करते हैं। पातञ्जल दर्शन में लिखा है—

दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्व श्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

दुःख, (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) दौर्मनस्य—इच्छा के विरुद्ध कुछ हो जाने पर मन को जो क्षोभ होता है, अङ्गमेजयत्व,—जो हिलता है या अस्थिर हो रहता है, और श्वास प्रश्वास,—ये सब विक्षेप के सहभू हैं, अर्थात् विक्षिप्त चित्त में ही ये आते हैं, समाहित चित्त में नहीं आते। इसलिए चित्त को समाहित करने के प्रयत्न में इन सब विघ्न-बाधाओं को भी नष्ट कर देना होगा। विचार द्वारा दुःख दौर्मनस्य को, प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास और आसन-अभ्यास द्वारा शरीर की विकलता और अस्थिरता को जीत लेना पड़ेगा।

"स्थिर सुखमासनम्" (योगदर्शन, साधनपाद।)

निश्चल और सुख से बैठ सकना ही आसन कहलाता है। शरीर अवयव इधर-उधर हिलने न पावे, फिर भी बैठने में कोई कष्ट न हो, पैर में झिनझिनी न पैदा हो, इसके लिए असमतल स्थान में या वक्र भाव से या झुक कर बैठना न चाहिये। मेरुदण्ड को सीधा रख कर "त्रिरुन्नतं समं स्थाप्य शरीरं"—वक्ष, ग्रीवा और सिर इन तीनों स्थानों को ऊँचाई पर रख कर पद्मासन, स्वस्तिकासन या सिद्धासन करके बैठना चाहिये। किन्तु देखना होगा कि आसन लगाते समय सहजावस्था से और भी अधिक क्लेश उत्पन्न न होने पावे। गीता में भी भगवान् ने कहा है:—

> "शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
> नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥"

पवित्र स्थान में अपने आसन को निश्चल रखना चाहिये। इस आसन को अति ऊँचा या अति नीचा न होने देना चाहिये। पहले कुशासन, उसके बाद मृगाजिन, उसके ऊपर वस्त्र से आच्छादन करके आसन तैयार करना होगा। उस आसन पर बैठ कर मन को विक्षोभ रहित करके चित्त और इन्द्रिय की क्रिया को संयत करके योगाभ्यास करना चाहिये।

समंकायशिरोग्रीवं—शरीर का मध्य भाग, शिर और ग्रीवा अर्थात् मूलधार से लेकर मस्तक तक सम रहे—मेरुदण्ड को सरल या अवक्र भाव से स्थिर रख कर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रख कर, अर्थात् चाक्षुषी वृत्ति को अन्यान्य दिशाओं से आकर्षित करके ब्रह्माकारकारित भावना के साथ निर्मल आकाश में स्थापित करके इधर उधर न देखते हुए मनकी उपशान्ति के निमित्त—योगाभ्यास करना चाहिये।

योगाभ्यास का फल। युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत् संस्थामधिगच्छति॥

इस प्रकार से सर्वदा आत्मानं युञ्जन्—अर्थात् मन निरोध करके, संयतमानस होकर मत् संस्थां अर्थात् मत् स्वरूप में अवस्थिति रूप जो निर्वाण मोक्ष या परम शान्ति है उसको योगी प्राप्त करते हैं। चित्त का बहिर्गमन वृत्तिप्रवाह अभ्यास के कारण रुद्ध होकर आत्मा में समाहित हो जाता है, तब फिर बाहर के विषयों में विचरण करने की प्रवृत्ति

ही मन की नहीं रह जाती। इस प्रकार जब मन वृत्तिशून्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जब मन नहीं रह जाता, तो उसी को परम निवृत्ति या परमोपशान्ति की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में अविद्या बिलकुल ही तिरोहित हो जाती है, इस लिए सभी दुःख-क्लेशों की परिसमाप्ति हो जाती है। ब्रह्मानन्दमग्नचित्त फिर तो अनात्मवस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा ही नहीं करता। यही है प्रकृत निरुद्ध अवस्था। यहाँ तक कि देववाञ्छित ऐश्वर्य भी योगी के स्वरूपनिमग्न अटल चित्त को प्रलुब्ध नहीं कर सकता। जो उनको पा गया है वह फिर जागतिक वस्तुओं को क्यों चाहेगा? किन्तु जो लोग उस प्रकार की अत्युत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त नहीं कर सके हैं विषयाकृष्ट चित्त वाले ही लोग मध्यपथ में विभूति प्राप्त करके विमुग्ध और वञ्चित हो जाते हैं। इसीलिए जोर लगाकर कहना होगा—मैं और कुछ नहीं चाहता, हे प्रभु, केवल तुमको चाहता हूँ।

भगवान् कब प्रत्यक्ष होते हैं?

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

जब चित्त विशेष रूप से निरुद्ध होकर केवल आत्मा में ही अवस्थान करेगा, और सब प्रकार की काम्य वस्तु पाने में स्पृहाशून्य हो जायगा, किसी तरह के भी ऐश्वर्य लाभ की क्षीणाशा भी मन में न रह जायगी, तभी समझना होगा कि योगी योग प्राप्त कर चुके हैं। इस योगावस्था का ही नाम है आत्मसाक्षात्कार।

योगसिद्धि के लक्षण क्या हैं? समाधि क्या है?

यथा दीपो निवातस्थो
नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य
युञ्जतो योगमात्मनः॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्‌बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद्‌दुःख संयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

वायुशून्य स्थान में दीपक जिस प्रकार विचलित नहीं होता उसी प्रकार योगानिष्टान शील निरुद्ध चित्त योगी की अन्तःकरण स्थित सभी वृत्तियाँ विषयादि से सम्पर्क शून्य हो जाने के कारण जब अचञ्चल रूप से आत्मा में अवस्थिति करती हैं, जिस अवस्था विशेष में "योगसेवया" योगाभ्यास द्वारा चित्त निरुद्ध होकर उपशम प्राप्त कर लेता है; और जिस अवस्था विशेष में 'आत्मना' शुद्धान्तःकरण द्वारा 'आत्मानं' आत्मा से साक्षात् करके 'आत्मनि एवतुष्यति' आत्मा में ही परम तुष्टि प्राप्त करता है, उसी का नाम है समाधि। इस अवस्था में देहदृष्टि न रहने के कारण विषय के हेतु तृप्ति नामक कुछ भी नहीं रह जाती, इस प्रकार रजः और तमोगुण का तिरोभाव हो जाने के कारण चित्त की शुद्ध निर्मल अवस्था प्रकाशित हो जाती है और उस प्रकार के शुद्ध चित्त में परमात्मा के प्रकाश का अनुभव होता है—यही है परम सुखरूप ब्रह्मानन्द या साक्षात् ज्ञानमूर्ति, यह है सब प्रकार के विषय सुखादि की अतीत अवस्था। इस अवस्था विशेष में एक प्रकार के आत्यन्तिक शुद्धबुद्धि ग्राह्य सुख का अनुभव होता है; इसको प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्रिय मन कुछ भी यहाँ नहीं रहता। किन्तु मन में यह विचार आ सकता है कि, विषयों के साथ

इन्द्रियों का योग न रहने पर उस सुख का अनुभव कैसे करूँगा ? इसी के उत्तर में कह रहे हैं 'अतीन्द्रियम्', इन्द्रियाँ जिस तरह जिस प्रकार के सुख का आस्वादन करती है, यह वैसा नहीं है। यह केवल बुद्धिग्राह्य है, वह बुद्धि भी फिर आत्माकारा है, इसलिए विषयादि की छाया भी उस पर नहीं पड़ सकती अतएव जिसमें अवस्थित होने पर फिर आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होना पड़ता, जो निरवच्छिन्न स्थिर होते हुए भी निरावलम्ब है, वही है समाधि। यह विचार आ सकता है कि बुद्धि के इस आत्माकारकारित भाव से जिस सुख की बात कही गयी है वह कुछ अंशों में घोखाघड़ी है। वास्तव में बात ऐसी नहीं हैं। क्योंकि इस आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेने पर कोई अन्य लाभ लाभ ही नहीं जान पड़ता। यदि आत्मानन्द भाव केवल रसहीन शून्यमात्र रहता तो उस अवस्था में योगी लोग दूसरे सुखों को सुख कह कर स्वीकार क्यों नहीं करते ! इससे यही बात समझ में आती है कि—इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी, वह अवस्था ही—निरतिशय सुखस्वरूप है, क्योंकि उसमें अवस्थित होने पर फिर शीतोष्णादि गुरुतर दुःखों से अभिभूत होना नहीं पड़ता। जिस अवस्था में दुःख का लेश मात्र भी स्पर्श नहीं होता, वही 'योगसंज्ञित' योगशब्द-वाच्य है यह जान लेना चाहिये। साधारणतः जिस सुख के सम्बन्ध में जैसी धारणा लोगों को रहती है उस सुख का लेशमात्र भी इसमें नहीं है, तो भी किसी तरह का दुःख भी इस अवस्था को भेद करके योगी को क्लिष्ट नहीं कर सकता। सुख के लिए भी स्पृहा नहीं है, दुःख के कारण भी व्याकुलता नहीं है—यही है प्रकृत योग या समाधि। किसी वस्तु का

अभाव होने से दुःख होता है और उसकी पूर्ति हो जाने पर वैषयिक सुखदुःखादि की उत्पत्ति होती है। इसमें योग भी नहीं है, वियोग भी नहीं है, दहिने-बायें हिलना डोलना नहीं है—यह मध्यावस्था में स्थिर है। इसी का नाम है द्वन्द्वातीत अवस्था। इसको किस प्रकार आयत्त करना चाहिये—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमं।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

रजोगुण से मन चञ्चल हो जाने पर उसको पुनः पुनः प्रत्याहार द्वारा आत्मवशीभूत करते करते रजो वृत्ति शान्त हो जाती है, तब प्रशान्तचित्त निष्पाप, ब्रह्मत्व प्राप्त योगी को उत्तम सुख प्राप्त हो जाता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

मन बुद्धि के कारण सुख-दुःखादि-सम्पर्क शून्य आत्मा में सुख दुःखादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है। किन्तु वह मन बुद्धि ही जब आत्मकाराकारित हो जाती है—तब फिर जागतिक सुख दुःखों के तरङ्गाभिघात से मन बुद्धि उद्वेलित नहीं होती, इस प्रकार आत्मवशीकृत योगी विगतपाप हो कर 'ब्रह्मसंस्पर्श' रूप अविद्यानिवर्त्तक जो सर्वोत्तम सुख है—उसी को तब उपभोग करते हैं। योगी को तब जीवन्मुक्ति हो जाती है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

योगाभ्यास का चरम फल क्या है इसे बतला रहे हैं।

योगाभ्यास द्वारा समाहित अन्तःकरण योगी सर्वत्र समदर्शी हो जाते हैं। क्योंकि आत्मा क्या है, इस बात को वे जान गये हैं। और उस आत्मा को वे जब "अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्"—के रूप में प्रत्यक्ष देखने लगते हैं तब वे किस तरह असम बुद्धि हो सकते हैं? तब लौकिक ज्ञाति, कुटुम्ब, स्वजन, मित्र यहाँ तक कि अपने शरीर के भी पृथक् अस्तित्व का अनुभव नहीं होता, इसलिए वे किसी के प्रति द्वेष बुद्धि या प्रिय बुद्धि नहीं रख सकते। तब वे क्या देखते हैं? ब्रह्मादि स्थावरान्त सर्वभूतों में अवस्थित अपनी आत्मा को देखते हैं, और अपनी आत्मा में सर्वभूत अभिन्न रूप से मौजूद हैं यही वे देख पाते हैं। देहादि अवस्था अविद्याकृत है, वही अविद्या जब नहीं रह जाती, तब देह का भान भी नहीं रह जाता, देह का भान न रह जाने पर भेद-भाव दिखाई ही नहीं पड़ सकता। इसलिए सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि हो जाने के कारण सूत्र जाल में वस्त्र और वस्त्र में सूत्र दर्शन की भाँति आत्मा में ही प्रपञ्च है और प्रपञ्चादि भी आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ऐसे सम्यक् दर्शन से उनकी वैषम्य बुद्धि एक ही साथ तिरोहित हो जाती है।

योगी का चरम साक्षात्कार—सर्व भूतों में आत्मदर्शन।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो योगी पुरुष सर्वत्र, जागतिक सभी पदार्थों में मुझे देख पाते हैं, और मुझमें ही सभी भूतों को देखते रहते हैं, उनके लिए मैं अदृश्य नहीं रहता, एकात्मता के कारण वे भी मेरे परोक्ष में नहीं जाते या मुझसे अदृश्य नहीं होते।

समाधि कुल दो प्रकार की है। संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। ध्यान गंभीर होने से ही समाधि आसन्न होती है। ध्यान करते करते जब सभी ध्येय वस्तुएं ही ज्ञात हो जाती हैं और दूसरी सभी भूली जा सकती हैं, तो यही संप्रज्ञात समाधि कहलाती है। और असंप्रज्ञात समाधि यह है—

समाधि-साधन

मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्मकारतया स्थितिः।
या सम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥

मन वृत्ति शून्य होकर जब ब्रह्माकार में अवस्थित हो जाता है, जिस अवस्था में ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञाता का पार्थक्य दिखाई नहीं पड़ता, वही है असंप्रज्ञात समाधि।

जैसे ध्यानावस्था से संप्रज्ञात में आना होता है, वैसे संप्रज्ञात समाधि से असंप्रज्ञात समाधि को पहुँचा जाता है। यद्यपि समाधि साधन अत्यन्त कठिन है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि प्रति दिन नियमित चेष्टा करने से इसको आयत्त में लाया जा सकता है। चित्त में क्षण क्षण पर असंख्य वृत्तियाँ उदित होती हैं। एक चिन्ता दूसरी से भिन्न होती है। इस प्रकार क्षण क्षण पर विभिन्न वृत्तियों का उदय होना ही विक्षिप्तावस्था कहलाती है। यह समाधि का अत्यन्त प्रतिकूल भाव है। इस विक्षोभ भाव को साधन विशेष से स्थिर करना होगा। अभ्यास द्वारा यह भयंकर चित्त-विक्षेप प्रशमित हो जाता है। इस अभ्यास के साथ यदि चित्त वैराग्य युक्त रहे, तो वह सोने में सोहागा सा बन जाता है। क्योंकि विषयानुराग के कारण ही चित्त अधिक विक्षिप्त होता है। विषय हेय है, यह धारणा सुदृढ़ हो जाने पर मन की अनेक कल्पनायें घट जाती हैं, इसलिए

उसी परिणाम में चित्त भी स्थिर रहता है। जिस विषय में मन का अनुराग अधिक रहता है, उसकी ही चिन्ता मन अधिक करता है। यदि इस प्रकार कोई साधु, गुरु अथवा इष्ट मूर्ति के प्रति प्रिय भाव हो गया हो, तो उसको भी पुनः पुनः चिन्ता करना स्वाभाविक है। इस चिन्ता की एकतानता से ही ध्यानावस्था पूर्णता प्राप्त करती है। ध्यानावस्था में एक ही वृत्ति बहुत देर तक स्थायी रहती है। जो लोग नित्य अभ्यास करते हैं, वे जानते हैं कि चित्त में क्षण क्षण पर कितनी असंख्य वृत्तियां उदित होती रहती हैं, उसी चित्त में फिर अभ्यास बल से एक ही वृत्ति बहुत देर तक स्थायी हो जाती है। पहले पहल भिन्न भिन्न कितनी ही वृत्तियों के बाद दूसरी वृत्तियाँ उठती रहती हैं, उसके बाद उनका ह्रास होकर एक ही प्रकार की क्षण स्थायी वृत्ति का उदय होता रहता है, तभी समझ लेना होगा कि दवा का असर पड़ गया है। उसके बाद एक ही वृत्ति अधिक समय तक स्थायी हो जाती है। इस अवस्था में निद्रालु की आँखों की तरह आँखें जकड़ जाती है, भारी हो जाती हैं। मन बातें कहना नहीं चाहता, इन्द्रियाँ बिखरी हुई रीति से विषयों को ग्रहण करती हैं कभी करती भी नहीं, ठीक नींद आने के पहले जैसी अवस्था होती है। उसके बाद ध्यानावस्था और भी गंभीर हो जाने पर, बाह्य विषय शरीरादि भी विस्मृत हो जाते हैं, केवल ध्येय विषय स्पष्ट जागरूक रहता है—उसी का नाम है समाधि। इस समाधि अवस्था से ही जो जान लेने की बातें हैं उनका चरम ज्ञात हो जाता है। ऐसे समय में अनेक अलौकिक विषय प्रत्यक्ष होते रहते हैं। किन्तु उन तरह तरह के भावों के पृथक् ज्ञात की सूक्ष्म सोपान-श्रेणियों को अतिक्रम करके निर्विकल्प

चरम अवस्था को पहुँचा जाता है। यही है प्रकृत आत्म-साक्षात्कार। सूक्ष्म विषय को समझने की आवश्यकता पड़ते ही जैसे हम मन को स्थिर कर लेते हैं, अर्थात् बाह्य विषयों से मन को हटा लेते हैं, नहीं तो सूक्ष्म ज्ञान नहीं होता, कोई अच्छा विषय समझ में नहीं आता, वैसे ही आत्मज्ञान चरम सूक्ष्म ज्ञान है ; मन में स्थूल बाह्य विषयादि का थोड़ा भी प्रभाव रहने की हालत में उस परम ज्ञान का उदय नहीं होता। इसी लिए विशेष सतर्क होकर बाह्य विषय से मन को लौटा कर आत्मस्थ करना चाहिये। इस प्रकार पौरुष प्रयत्न द्वारा समाधि सिद्ध हो जाने पर 'विवेक-ख्याति' या "ऋतम्भरा प्रज्ञा" का उदय होता है,—जो प्रज्ञा फिर कभी नष्ट नहीं होती। यही है कैवल्य मुक्ति।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

हे पार्थ यही है ब्राह्मी स्थिति, इसको जो पा जाते हैं, वे फिर संसार में मोह को प्राप्त नहीं होते। मृत्युकाल में भी यदि इस ज्ञान में अवस्थिति की जा सके तो उससे ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है।

समाधिस्थ या स्थितप्रज्ञ के लक्षण भगवान् ने गीता में बताये हैं—

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥"

जिन्होंने मनोगत सभी कामनाओं को त्याग दिया है और अपने में आप ही तुष्ट हैं, अर्थात् तृप्ति के निमित्त जिन्हें

बाहर को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती, जो परमानन्द स्वरूप आत्मा में डूब गये हैं वे ही हैं सिद्ध, बुद्ध और मुक्त—इन लक्षणों से युक्त पुरुष को ही स्थितप्रज्ञ कहते हैं। इच्छा, द्वेष, सुखदुःखादि अनात्म धर्म हैं, मन जब तक रहता है तब तक इनका रहना होगा ही, किन्तु समाधि के समय मनोनिवृत्ति हो जाने से सभी अनात्मधर्म तिरोहित हो जाते हैं। तब समुज्ज्वल ज्ञानसूर्य अपनी प्रभा से उद्भासित होने लगता है, तब साधक किसी तरह का अज्ञान या अभाव आवरण न रहने के कारण निर्मल ब्रह्मानन्द अमृत रस की प्राप्ति से विभोर होकर आत्माराम और आत्मक्रीड़ हो जाते हैं। अब यह प्रकट हो गया कि, समाधिस्थ पुरुष में ये सभी लक्षण प्रकट तो अवश्य हो जाते हैं, किन्तु आठों पहर तो वह समाधि नहीं रहती। जब योगी समाधि से ऊब जाते हैं, तब उनका मन लौट आता है, यह मन तब संसारादि के प्रति आसक्ति दिखाता है या नहीं, इसके ही उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—योगी पुनः पुनः समाधिमग्न होकर ऐसी आत्महारा अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं कि, वे समाधि से ऊब जाने की अवस्था में भी पुत्र मित्रादि में सर्वत्र ही अनभिस्नेह रहते हैं अर्थात् स्नेहयुक्त नहीं रहते। आत्मा में उनकी प्रीति इतनी रहती है कि अनात्म पदार्थ स्त्री-पुत्रादि के प्रति या इस देह के सुखदुःख में उनके हर्षित या दुःखित होने की सम्भावना नहीं रहती। वे प्रिय या अप्रिय वस्तु पाकर अभिनन्दन या निन्दा नहीं करते, "तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"—ऐसे ही व्यक्ति की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, अर्थात् वे ज्ञान में अचल प्रतिष्ठ हो जाते हैं।

यह स्थितप्रज्ञ पुरुष अनायास ही प्रत्याहार करने में समर्थ हो जाते हैं, इसीलिए भगवान् ने कहा है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कूर्म जिस प्रकार आशंका का कारण उपस्थित होने के साथ ही अपने शिरःपदादि अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार इच्छामात्र से ही जो योगी इन्द्रिय-विषयों से इन्द्रियों को अनायास ही सहज में हटा ले सकते हैं, उनकी ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित मानी जाती है। वह प्रज्ञा और किसी से हिलने वाली नहीं है। पूज्यपाद महर्षि वशिष्ठदेव ने कहा है—"जो योगमार्ग का अवलम्बन करके राग-द्वेष का परिहार कर देते हैं, लोष्टकाञ्चन में सम दृष्टि रखते हैं, संसार वासनाओं को विसर्जित कर देते हैं वे ही भक्त हैं। वे दान, भोजन या हवनादि जिस किसी भी कार्य का अनुष्ठान करें या न करें उनसे उत्पन्न सुख-दुःखादि में उनका समान ज्ञान रहता है। वे इष्टानिष्ट का त्याग करके कर्त्तव्य बोध से एक मात्र समुपस्थित विषय का अनुष्ठान करते हैं, किसी समय किसी तरह भी वे अभिभूत नहीं होते।

वे लोग उच्छृङ्खलता के वशवर्त्ती हो कर कार्य करने को तत्पर होकर शास्त्र के अभिप्राय को व्यर्थ कर डालते हैं, और कोई सुफल हा नहीं पा सकते। यह अवश्य ही शास्त्रों का दोष नहीं है, यह हम लोगों के ही कुकर्मों का फल है। इसका प्रतिकार भी शास्त्रविधि मान कर ही करना चाहिये।

बहुतेरे कहते हैं आजकल वे सब साधन, अनुष्ठान सम्पन्न ही नहीं किये जा सकते और इतने अनुष्ठान नियमादि पालन करना अच्छा भी नहीं लगता। उसमें कोई विशेष आनन्द नहीं मिलता, व्यर्थ ही एक अभ्यास का बोझ ढोते हुए मरने से लाभ ही क्या है? वास्तव में ही जिस कार्य में कोई आनन्द नहीं मिलता, या जिसमें कोई रस बोध नहीं होता, उस कार्य्य का अभ्यास करने को उद्यत होने पर मन स्वभावतः ही विद्रोही हो जाता है, किन्तु अभ्यास का भी फिर ऐसा ही प्रभाव है कि अभ्यास करते करते अभ्यस्त विषय में क्रमशः आप ही आप रस बोध होने लगता है। यदि यह रस बोध न होता तो उस हालत में कोई भी मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के प्रतिकूल विषय को आयत्त में न ला सकता।

अभ्यास की शक्ति चित्त प्रसादन।

अभ्यस्त विषय अभ्यास के गुण से अच्छे लगेंगे, अवश्य ही लगेंगे, और उनके हजार नीरस रहने पर भी या कठोर रहने पर भी, अभ्यास उनको सहज और सरल बना ही डालेंगे, अवश्य बना डालेंगे। छात्रों में देखा गया है कि किसी की किसी विषय में स्वाभाविक रुचि रहती है, और किसी विषय को पढ़ने की बिलकुल ही इच्छा नहीं करती। किन्तु देखा गया है कि प्रयत्न और अभ्यास के फलस्वरूप

अभ्यास से आध्यात्मिक बलवृद्धि होती है।

अत्यन्त अप्रिय विषय ही फिर अत्यन्त प्रिय बन गये हैं। उसी प्रकार जो प्रवृत्ति बहु बार चरितार्थ की जा चुकी है, उसी प्रवृत्ति को पुनः पुनः चरितार्थ करने की एक स्वाभाविक प्रबल इच्छा पैदा होती है, चाहे वह सत् प्रवृत्ति हो या दुष्प्रवृत्ति ही क्यों न हो। इसलिए शुभ कर्म करने का अभ्यास करने से शुभ कर्म करने की ही प्रवृत्ति उत्पन्न होगी। आत्मसंयम का अभ्यास करने से आत्मसंयम की ही तरफ चित्त उन्मुख हो रहेगा। केवल यही नहीं, संयम का अभ्यास ठीक व्यायाम की तरह है। व्यायाम जिस तरह शारीरिक बलवृद्धि करता है सदाभ्यास भी उसी तरह आध्यात्मिक बल बढ़ाता रहता है।

अभ्यास ही पुरुषकार है।

किसी एक विषय का जब हमलोग दृढ़ भाव से अभ्यास करते रहते हैं, तभी उसको पुरुषकार कहते हैं। मन अविरत विषय भावनाओं से निरन्तर विक्षिप्त होता रहता है, इनसे किसी तरह भी उसे लौटाया नहीं जा सकता, इस लिए इस दुर्द्धर्ष चित्त को बहिर्विषयों से बल पूर्वक आकर्षित करके अन्तर्मुख को ले जाने का अभ्यास साधन करना ही पड़ेगा, यही है असल पुरुषकार। इस मनोवृत्ति के असंयत और बहिर्विचरणशील रहने की हालत में किसी तरह भी शान्ति या सुखलाभ का उपाय नहीं है। दुष्ट अश्व जैसे विपथ में चालित होने पर आरोही को गढ़े में गिरा देता है, वैसे ही यह असंयत मन और ये इन्द्रियाँ विविध कुपथों में प्रवृत्त होकर मानव को मोह कूप में गिरा कर दुःख क्लेश की कठोर जंजीर में आबद्ध कर देती हैं। जब तक इस प्रकार बुद्धि का मालिन्य रहता है, तब तक मनुष्य के जगद्भ्रम का अन्त नहीं होता और मिथ्या अभिनिवेश

का वशवर्त्ती होकर वह अपने अहंकार से आप ही आप विनष्ट हो जाता है। जन्म-जन्मान्तरों से मानव का यह मोह छूट नहीं रहा है, वह देह से देहान्तर को जा रहा है और साथ ही साथ इन सब वासनाओं को साथ लिये जा रहा है, इस कारण पुनः पुनः जन्मान्तर परिग्रह और विविध दु:खक्लेशों की किसी तरह भी निवृत्ति नहीं हो रही है। यह देहाभिमान ही उसका सर्वापेक्षा कठिन बन्धन है। आत्मज्ञान के अभाव से यह देहाभिमान दूर नहीं हो रहा है। हमारे सभी आर्यशास्त्रों का उपदेश है—इस देहात्म बुद्धि के विनाश का साधन करो, नहीं तो मुक्ति नहीं है। मन चञ्चल होने पर ही वासना के वश में हो जाता है और उसकी विचित्र कल्पना से ही विषयों के प्रति दृढ़ अभिनिवेश होता है और उससे इस संस्कार के कारण देहात्मबुद्धि प्रबल हो जाती है, फिर इस देहात्मबुद्धि के ध्वंस न होने से मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। समाधि के अभ्यास के बिना किसी तरह भी इस "देहात्मबुद्धि" या स्थूल शरीर में मैं हूँ इस ज्ञान का विनाश सम्भव न होगा। 'यह हेय है और यह उपादेय है' यह सोचकर मन जो अनुराग और विराग प्रकट करता है वही हमलोगों का बन्धनरज्जु है। मन ही पुरुषकार द्वारा वैराग्यभूषण से मण्डित होकर फिर इस मोहबन्धन को छिन्न कर सकता है। मेरा मन यदि मुझे सहायता न करे तो कोई भी मुझे उद्धार नहीं कर सकता। इसीलिए वशिष्ठ देव कहते हैं—"राम! कुठार द्वारा जैसे वृक्ष को काट दिया जाता है, वैसे ही मन की सहायता से ही मन को काट देना पड़ता है। जो लोग इस प्रकार मन द्वारा मन को काट डालते हैं, वे ही लोग परम पावन पद प्राप्त करके निर्वाणसुख भोग करते रहते हैं।"

गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने यही इङ्गित किया है :—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

जिन्होंने विवेकयुक्त आत्मा द्वारा देहेन्द्रिय की समष्टि रूप आत्मा को वश कर लिया है उस जितेन्द्रिय व्यक्ति की आत्मा ही बन्धु है। और अजितेन्द्रिय व्यक्ति की आत्मा शत्रु की भाँति अपकार करने में प्रवृत्त हो जाती है। संसार-भोगसुख प्रभृति असत् पदार्थों के लिए हमलोग जिस परिमाण में व्याकुल और चेष्टित होते रहते हैं, यदि सत् शास्त्रों की आलोचना और इन्द्रियसंयम पूर्वक इस मन को हम रुद्ध करने की चेष्टा करते और मनोवृत्ति होने से कैसी अपरिसीम शान्ति मिलती है इसे देख पाते, तो उस हालत में हम परमार्थ चिन्ता का ही अनुसरण करते, कुत्ते की तरह मांसखण्ड की आशा में हड्डी चबा कर अपने आपको क्षतविक्षत न करते ।

संसार में हमलोग अत्यन्त आसक्त हैं, संसार की सभी छोटी छोटी वस्तुओं में ही हमारा मन आबद्ध है, संसार के अतीत किसी पदार्थ पर हमारी दृष्टि नहीं है। इसलिए इस देह या इस देह के भोग, किसी के हाथ से भी किसी तरह भी हमें निष्कृति नहीं मिल रही है। 'सत्यमेव जयते नानृतं'—'सत्य की ही विजय होती है, मिथ्या की विजय नहीं होती।' पार्थिवता को ही सर्वस्व मानने वाले हमलोग जो पगपग पर सत्य की अवमानता करके मिथ्या को आलिंगन कर रहे हैं, साधु वचनों को ग्रहण नहीं कर रहे हैं,

योगाभ्यास से समदृष्टि साधन ।

सदुपदेश की परवाह नहीं कर रहे हैं, इसका कारण और कुछ भी नहीं है—बालक जैसे मिथ्या बातों से प्रवंचित होता है हमलोग वैसे ही आशा के प्रलोभन से प्रवंचित हुए हैं। हाय, इस मायाविनी आशा को छोड़ कर कब हमलोग "सुखदा निराशा को" सर्वतो भाव से वरण कर सकेंगे? कब हमलोगों का ऐसा संसारभ्रमरूप अज्ञान तिमिर सम्यक् दूर हो जायगा। इस भ्रम को नष्ट कर देने का उपाय क्या है इसका उपदेश जगत् गुरु वशिष्ठ देव ने कृपापूर्वक दिया है :—

"विचार-बल से ही यह मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है। पर्वत पर आरोहणादि करना जिस प्रकार दुस्साध्य है उसी प्रकार बहुकाल से मनुष्य हृदय में बद्धमूल इस मिथ्या ज्ञान को विनष्ट करना दुस्साध्य है। अभ्यासयोग और युक्ति ......की सहायता से यह जगद्भ्रम दूर हो सकता है। ......समाधि की सहायता से सभी वृत्तियों का क्षय हो जाने पर दाहशून्य अग्नि की तरह, निर्वाण प्राप्त मन को विलीन करके जो नाम रहित सत् विराज करते हैं वही परमात्मा का रूप है।··· सभी वस्तुओं का लय हो जाने पर भी जो जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों के अतीत तुरीय रूप में अवशिष्ट रह जाता है, वही परमात्मा का रूप है।......उनका जन्म नहीं है, जरा नहीं है और आदि नहीं है, वे सत्य हैं, नित्य निर्मल हैं, शिव स्वरूप हैं और शून्यस्वरूप हैं और वे सभी कारणों के कारण हैं। रूप रस गन्ध और स्पर्शादि जो कुछ तुम जान रहे हो, वह सब कुछ ही वे ही हैं, और जिससे तुम उन सभी को जान रहे

अभ्यास से भ्रम दूर होना।

हो वे भी वे ही हैं। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनों के बीच प्रकाश्य रूप से विराजमान जो दर्शन हैं, वे ही चैतन्य स्वरूप ब्रह्म हैं। उनको जान लेने से ही आत्मज्ञान प्राप्त होता है।......जो योगी पुरुष खेचरी-मुद्रा की सहायता से भौंहों के बीच अर्ध उन्मीलित दृष्टि सन्निवेश करके उस स्फुट तारका द्वारा इस जगत् को देखते हैं, वे परमात्मा को ही देखते हैं......ब्रह्मज्ञान का अभ्यास न करने से तुम कभी इस शरीर से ब्रह्म स्वरूप प्राप्त न करोगे। तुम्हारी देह में इन्द्रियाँ अधिष्ठान कर रही हैं। इसी लिए तुम ब्रह्मदर्शन से वंचित रहोगे। यह देह (अर्थात् देह में आसक्ति) त्याग करके चिदाकाश रूप का आश्रय ग्रहण करने से, ब्रह्मलाभ करोगे इसमें सन्देह नहीं है।

अभ्यास द्वारा सिद्धि, ब्रह्मज्ञान लाभ।

.."अभ्यास के विना किसी का कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। जो भी कार्य करने लगोगे, उसी में अभ्यास का प्रयोजन होगा। अभ्यास के विना कोई, कभी कोई कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। पण्डितगण कहा करते हैं, सर्वदा ब्रह्मचिन्तन, ब्रह्म-विषयों का कथोपकथन, प्रकृष्ट विधान से ब्रह्मबोध और ब्रह्म के प्रति एकनिष्ठता ही ब्रह्माभ्यास है। ......कारुण्य द्वारा आत्माभिमान को जीत लेना चाहिये, मौन द्वारा वाचालता को जीतना चाहिये, उद्योग द्वारा तन्द्रा पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये, वेदों में विश्वास के द्वारा सन्देह को जीत लेना चाहिये, छः रिपुओं के वशीकरण द्वारा आशंका को जीत लेना चाहिये, योग के प्रभाव से क्षुधा पर विजय प्राप्त करनी चाहिये, नित्यानित्य के विचार से स्नेह को जीत लेना चाहिये, स्पृहा

ब्रह्माभ्यास

पैदा हो जाता है, किन्तु फिर उसका कुछ दिनों तक अभ्यास करते करते ही कब वह अभ्यास गत हो जाता है यह बात समझ में भी नहीं आ सकती। मन को स्थिर करना ही कठिन है, ध्यान करना और भी कठिन है किन्तु चेष्टा करते करते वह भी आयत्त हो जाता है। जब लोग बन्दूक चलाने या तीर छोड़ने का अभ्यास करते हैं तब पहले पहल लक्ष्य को स्थिर ही नहीं कर सकते, किन्तु क्रमिक अभ्यास से लक्ष्यवेध अनायास साध्य हो जाता है। देखा गया है कि जो जिस कार्य को करने का अभ्यास करता है या जिसे सोचने में वह विशेष अभ्यस्त हो जाता है, वह उसके चित्त में इतने कड़े भाव से संस्कार अंकित कर देता है कि, उसका कार्य एक बार हो जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता, वह पुनः पुनः क्रम से चित्त में आने लगता है और प्रति बार ही चित्त में उस संस्कार को गभीरतर और दृढ़तर बना जाता है। इसी कारण ही कोई एक काम या चिन्ता एक बार करने के बाद उसको पुनः पुनः करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। और इसी कारण ही शायद यह संसार और इसकी माया का संस्कार हमारे चित्त को इतना जकड़ लेता है कि, इच्छा न रहने पर भी हम लोग अवश हो कर ससार चिन्ता करने को बाध्य हो जाते हैं। अभ्यास जितना पुराना और दीर्घ काल का होगा, उतना ही उसको पोंछ डालना कठिन हो जायगा। इस संस्कार की इतनी अधिक शक्ति है कि, मन की अनिच्छा रहते हुए भी वह मन पर अधिकार कर बैठता है; इसी कारण जो चोर है, जो मिथ्यावादी है, या जो घातक है, वह अपने कार्य में अभ्यस्त हो जाता है, बाद को अपना दोष समझ सकने पर भी उसका फिर संशोधन नहीं

परिहार करके अर्थ को, क्षमा द्वारा क्रोध को, संकल्प त्याग द्वारा वासना को······आत्मचिन्तन द्वारा श्वास प्रश्वास को, धैर्य द्वारा काम को, तत्त्वज्ञान द्वारा भ्रम को प्रमाद को और विषय तृष्णा को जीत लेना चाहिये।······काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न ये पाँच ब्रह्मपथ के विषम कण्टक हैं। और दान, ध्यान, अध्ययन, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, चित्त-शुद्धि, आहार-शुद्धि और इन्द्रिय-शुद्धि ये दस ब्रह्म सिद्धि के साक्षात् उपाय हैं, योग-साधन के एक मात्र मार्ग हैं। भोग वासना ही अविद्या है, 'पुरुषकार के साथ किये गये उद्योग' की सहायता से संकल्प त्याग करने से ही अविद्या का क्षय होता है।

अभ्यास द्वारा वासनाजय।

बद्ध जीव वासनाओं का दास है, इसीलिए वह आशा के आश्वासन से संसार में घूमता हुआ मरता रहता है, सत्य वस्तु को नहीं पाता। सत्य वस्तु को देखकर भी समझ नहीं सकता। इसी का नाम है बुद्धि की जड़ता। यह पूर्व पूर्व के कुअभ्यासों के कारण उत्पन्न होती रहती है। बुद्धि की इस जड़ता को मिटा डालने के अभ्यास का ही नाम प्रयत्न या पुरुषकार है।

अभ्यास का प्रभाव।

अनेक विषय हमारी अज्ञातावस्था में अति सहज में अभ्यस्त हो जाते हैं। किन्तु उन अभ्यासों को अन्त में छोड़ देना प्राणान्तकर हो जाता है। मदिरा पीने, अफीम खाने या किसी प्रकार के नशे में अभ्यस्त हो जाना कठिन नहीं है, किन्तु छोड़ने का अभ्यास ही कष्टकर है। कोई काम पहले बहुत ही कड़ा जान पड़ता है, शायद इसे कर न सकूँगा, ऐसा भय

पैदा हो जाता है, किन्तु फिर उसका कुछ दिनों तक अभ्यास करते करते ही कब वह अभ्यास गत हो जाता है यह बात समझ में भी नहीं आ सकती। मन को स्थिर करना ही कठिन है, ध्यान करना और भी कठिन है किन्तु चेष्टा करते करते वह भी आयत्त हो जाता है। जब लोग बन्दूक चलाने या तीर छोड़ने का अभ्यास करते हैं तब पहले पहल लक्ष्य को स्थिर ही नहीं कर सकते, किन्तु क्रमिक अभ्यास से लक्ष्यवेध अनायास साध्य हो जाता है। देखा गया है कि जो जिस कार्य को करने का अभ्यास करता है या जिसे सोचने में वह विशेष अभ्यस्त हो जाता है, वह उसके चित्त में इतने कड़े भाव से संस्कार अंकित कर देता है कि, उसका कार्य एक बार हो जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता, वह पुनः पुनः क्रम से चित्त में आने लगता है और प्रति बार ही चित्त में उस संस्कार को गभीरतर और दृढ़तर बना जाता है। इसी कारण ही कोई एक काम या चिन्ता एक बार करने के बाद उसको पुनः पुनः करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। और इसी कारण ही शायद यह संसार और इसकी माया का संस्कार हमारे चित्त को इतना जकड़ लेता है कि, इच्छा न रहने पर भी हम लोग अवश हो कर संसार चिन्ता करने को बाध्य हो जाते हैं। अभ्यास जितना पुराना और दीर्घ काल का होगा, उतना ही उसको पोंछ डालना कठिन हो जायगा। इस संस्कार की इतनी अधिक शक्ति है कि, मन की अनिच्छा रहते हुए भी वह मन पर अधिकार कर बैठता है; इसी कारण जो चोर है, जो मिथ्यावादी है, या जो घातक है, वह अपने कार्य में अभ्यस्त हो जाता है, बाद को अपना दोष समझ सकने पर भी उसका फिर संशोधन नहीं

कर सकता, क्योंकि पूर्व अभ्यास का फल उन लोगों के कार्यों पर बहुत ही अधिक बल प्रकट कर देता है। *

इसीलिए भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है:—

"आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥"

अच्छे कर्मों और सच्चिन्ताओं का संस्कार भी ठीक वैसा ही होता है। दया जितनी करते रहोगे दया करने की प्रवृत्ति उतनी ही बढ़ती चली जायगी। उसी प्रकार सभी सद्गुण भी निरन्तर के अभ्यास से प्रबल हो उठते हैं।

---

*इसीलिए हम देखते हैं कि विद्वान् भी अपने संस्कार विरुद्ध कर्मों और चिन्ताओं को भली भाँति समझ नहीं सकते। संस्कार को अतिक्रम करना बहुत ही शक्ति का काम है। इस चित्त के रहते संस्कार शून्य अवस्था प्राप्त करना भी एक तरह से असम्भव है। जो लोग कहते हैं 'इन सब संस्कारों को छोड़ देना चाहिये', वे सब संस्कार कुसंस्कार हैं',—वे लोग भी वास्तव में संस्कारों के वशवर्ती होकर ही इस तरह कहा करते हैं। जो योग युक्त नहीं हैं, उनका चित्त किस तरह संस्कार शून्य हो सकता है यह बात मेरी समझ में नहीं आती। केवल जिद पकड़ लेने से ही, या किसी संस्कार को 'कु' कहकर समझ सकने से ही वह नष्ट नहीं होता। असत् कार्य को बहुत से ही लोग घृणा करते हैं उसकी निन्दा करते हैं, उसके लिए बड़ी बड़ी वक्तृताएँ झाड़ते हैं, किन्तु कार्य क्षेत्र में कितने असत् कार्य किये बिना रह सकते हैं? जो लोग एक साथ न खाने, स्पृश्य अस्पृश्य, और जाति भेद आदि मानने को कुसंस्कार कहना चाहें, तो उनकी बातों पर मैं अश्रद्धा करना नहीं चाहता। किन्तु जो संस्कारगत हो चुका है, उसको उड़ा देना ही क्या सहज बात है? अपने विश्वास को बहुत प्रयत्न करने पर भी हटा देना कठिन है, क्योंकि बहुत दिनों के संस्कार को तर्जनी हिलाकर हटाय

यह जो मन अनवरत विविध चिन्ताओं में डूबा रहता है, स्थिर करने के कितने ही प्रयत्न करने पर स्थिर होना नहीं चाहता, उसका कारण भी यही है। पुनः पुनः अनावश्यक विषयों की चिन्ता करते करते वे सब निष्फल चिन्ताएँ मन पर इतना अधिकार कर लेती हैं कि, मन को जरा सा अवसर मिलने के साथ ही वह फिर उसी चिन्ता में डूब जाता है। मन ठीक बन्दर की तरह उद्देश्य विहीन दौड़ धूप में व्याकुल हो रहा है। फिर भी यदि अच्छी तरह सोच कर देखा जाय तो समझ में यह बात आ जाती है कि ये सब चिन्ताएँ

नहीं जा सकता। कभी कोई ऐसा कर सके हैं या कर सकेंगे ऐसा विश्वास मैं नहीं कर सकता। ये सब भेदाभेद भाव अच्छे हैं या खराब हैं, इसकी चर्चा यहां नहीं हो रही है, इसके स्वपक्ष में युक्तियों का अभाव नहीं है। इसलिए उसके बारे में वितंडा करना व्यर्थ है। मेरा कथन यह है कि विशुद्ध ज्ञान के बिना जब कि कोई भी संस्कारशून्य नहीं हो सकता, तब उस ज्ञान को जब तक प्राप्त नहीं कर लिया जाता तब तक उसको लेकर तर्क करना निष्प्रयोजन है। अपने मत को सभी विशुद्ध कहा करते हैं, और दूसरों के मतको कुसंस्कार कहते हैं। जिसका जिस तरह के समाज में लालनपालन हुआ है, उसका संस्कार उसके ही अनुकूल गठित होता है, और वह स्वपक्ष के अनुकूल युक्ति को युक्तिसंगत कहता है। दो विरुद्ध संस्कार-सम्पन्न समाजों के दो बालकों की परीक्षा करके देखने से ही यह बात समझ में आ सकती है। वे बिना समझे ही अपने अपने समाज के मत को ही पोषण करने की चेष्टा करेंगे और अपने संस्कार के विरुद्ध मत यदि अच्छे भी हों तो उन्हें ग्रहण करने में उनका चित्त विमुख हो उठेगा। इसमें दोष किसी का भी नहीं है, संस्कार ही इन सब का कारण है। कुछ विद्वानों का मत है कि, बालकों को प्रारम्भ से ही किसी एक संस्कार का पक्षपाती

इस लोक या परलोक किसी लोक में भी सुफल उत्पादन नहीं करतीं वरन् वे संस्कार रूप से मन में रह जाती हैं और पुनः पुनः मन में जागती रहती हैं। संकल्प-विकल्पात्मक मन की सहस्रों चिन्ताओं को यदि ध्यानपूर्वक लक्ष्य किया जाय तो अपने ही निकट आप ही लज्जित हो जाना पड़ता है, और उनके संकल्प-विकल्पों की असारता देख कर हँसी को रोक देना कठिन हो जाता है। कभी कभी दुःख और अनुताप होता है, हम लोग जो अपने को विज्ञ कह कर परिचय देते हैं, और फिर शिशुओं की तरह संकल्प-विकल्पों की अलीक मत्त चेष्टाओं से सर्वदा जर्जरित हो रहे हैं। कोई प्रयोजन नहीं है तो भी मन में कितनी ही चिन्ताओं की तरंगें दौड़ रही हैं। यहीं एक चिन्ता आ गयी, फिर एक और चिन्ता तेज गति से चली आ रही है, वहाँ अपर तीसरी चिन्ता झाँक झूंक कर रही है—नित्य प्रवाहित सागर-तरंगों की तरह, चिन्ताओं का विराम नहीं है, विश्राम नहीं है। इनके पंजे से यदि निष्कृति हमें

बनने की सुविधा देना अन्याय है। अन्याय है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उपाय क्या है? हिन्दू समाज के संस्कारों से अलग करके उसको ब्राह्म समाज में रख दीजिये, ब्राह्मसमाज का रंग उसके मन पर चढ़ जायगा। ब्राह्म समाज से हटाकर ईसाई समाज में रख दीजिये, ईसाई-संस्कार उसके हृदय में भर जायँगे। संस्कारों के बाहर तो किसी को रख देने से काम न चलेगा। किसी न किसी समाज की आँच उस पर लगेगी ही, और नहीं तो वह मनुष्य न होकर कुछ और ही होगा। इसलिए इन सब व्यर्थ के तर्कों को छोड़कर जिससे मनुष्य बन सकें उसकी चेष्टा करना ही बुद्धिमान का काम है। यदि हम मनुष्य बन सकेंगे तो जिस समाज में ही क्यों न रहें, हम सभी उसी एक लक्ष्य-स्थल पर पहुँच सकेंगे।

अपने लिए नरक तैयार करते हैं यह बात वे समझ ही नहीं सकते। ये लोग धनमद से मत्त होकर "असत्यमप्रतिष्ठंते जगदाहुरनीश्वरम्" कहकर चीत्कार करेंगे इसमें आश्चर्य ही क्या है? वे लोग इस जगत् को वेदपुराणादि प्रमाण मूलक कहना नहीं चाहते, वेदादि का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—"त्रयो वेदस्य कर्त्तारः भण्डधूर्त्त निशाचराः।" इस कारण धर्माधर्म रूप प्रतिष्ठा या व्यवस्था इस जगत् में नहीं है। जिसको जो खुशी हो वही वह करे। क्योंकि जगत् अनीश्वर—ईश्वर रहित है। फिर दण्ड देने वाला कौन है? विक्षेप के कारण मन स्थिर न होने से भ्रान्ति दूर नहीं होती, और सत्य को हृदयङ्गम नहीं कर सकते। इस कारण यह चञ्चल चित्त ही हम लोगों की माया फाँस है इस विषय में सन्देह नहीं है। इसके ग्रास से निस्तार पाना नितान्त ही कठिन है, किन्तु इसके पंजे से अपने को बचा न सकने से दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। हाय! अपनी हत्या आप ही कर डालने के लिए रस्सी की जरूरत नहीं पड़ती, यह वासना ही हमारी बन्धन रज्जु है और यह सुदृढ़ रज्जु ही हमारे विनाश के लिए यथेष्ट है। जो सुचिन्ता के अभ्यास से इस कुचिन्ता से त्राण पाने की इच्छा करते हैं, उनको खूब दृढ़ अभ्यासशील होना पड़ता है, नहीं तो पूर्वाभ्यास चित्त को अवश करके उनके ऊपर आधिपत्य करता रहता है इसीलिए पुनः पुनः कह चुका हूँ, फिर कह रहा हूँ, एक तरफ साधनाभ्यास और साथ ही साथ विचार, दूसरी तरफ साधुसङ्ग की एकान्त आवश्यकता है।

साधुसंग के प्रभाव से विवेक का उदय होता है और विचारोत्पन्न विवेक द्वारा एक विपरीत संस्कार की नींव

पड़ने की सूचना मिलने लगती है। बहुतों को यह अभियोग करते सुन चुका हूँ, कि वे लोग सैकड़ों चेष्टाएँ करके भी कुचिन्ता और कदर्य अभ्यासों के हाथ से किसी तरह भी अपने को बचाने में समर्थ नहीं हो रहे हैं। ऐसे समय में निराशा आने की बात तो है ही किन्तु निरुत्साह न हो कर यदि वे निरन्तर चेष्टा को जाग्रत रखें और साथ ही साथ कौशल अवलम्बन करें, तो ऐसा होने से अवश्य ही श्रेय प्राप्ति की सम्भावना होगी। वह कौशल है "विपरीत भावना," अर्थात् जो मन विषय चिन्ता में नितान्त अभ्यस्त है और विकारग्रस्त है, उसको "चिन्ता छोड़ो, कुअभ्यास छोड़ो, सत् पथ में चलो" यह बात कहना निरर्थक है। हजारों उपदेश देने पर भी वह उन्हें कर न सकेगा। इस कारण उसको 'चिन्ता' से बिलकुल ही विरत करने से काम न चलेगा। चिन्ता करते रहने की छूट उसको देनी ही पड़ेगी, किन्तु प्रति क्षण जिस चिन्ता में वह अभ्यस्त है उस चिन्ता की नहीं। क्योंकि ऐसा होने से संस्कार और भी प्रबल हो जायगा। यह पहले पहल कुछ कड़ा जान पड़ता है, किन्तु बाद को सहज मालूम होने लगता है। जो खूब आमोद पसन्द करता है और उसके लिए तरह तरह के अवैध आमोद उपभोग करते करते चरित्रहीन बन जाता है, उसको आमोदजनक साथ ही वैध और चरित्र को उन्नत करने वाले किसी कार्य में नियुक्त करना होगा। जो काम पसन्द करता है और निरन्तर अपने विषय के कार्यों को लेकर ही व्यस्त रहता है, उसको यदि दूसरों के जरूरी कामों में नियुक्त कर दिया जाय या भगवत्

साधुसंग के प्रभाव से विवेक का उदय।

विपरीत भावना से चित्त शुद्धि

सम्बन्धी किसी काम में लगा दिया जाय तो उसका पूर्व अभ्यास अपने चिरन्तन स्वार्थ की सीमा की विपरीत दिशा को दौड़ पड़ता है। नदी के प्रचण्ड वेग को कम करने के लिए स्रोत के मुँह पर बांध बांध देने से जैसे कुछ फल नहीं होता, उसके किनारे किनारे दूसरी तरफ से नहरें खोद कर जल निकाल देना पड़ता है, वैसे ही मन में जिस श्रेणी की चिन्ता या कार्य करने की प्रवृत्ति रहती है, उसकी विपरीत चिन्ता या कार्य में उसको थोड़ा थोड़ा करके अभ्यस्त कराना पड़ता है। ऐसा होने से पूर्व वेग के घट जाने की सम्भावना हो जायगी। जिसकी अर्थ चिन्ता प्रबल हो उसको उससे छुटकारा मिल जायगा, यदि वह लोगों के दुःखदारिद्र्य की आलोचना करे और उन्हें दूर करने की चेष्टा करे। लोगों की पीड़ा व्याधि के बारे में और पूर्व पूर्व समय के धनवानों की अवस्था में उलट फेर होने के विषय में पुनः पुनः आलोचना करने से भी वे कुछ सुफल पा सकते हैं। जिसकी काम चिन्ता प्रबल है, वह यदि सद्ग्रन्थ अध्ययन करे और सदालोचना करे, और अपने शरीर तथा मन को सर्वदा जनहितकर कार्यों में नियुक्त करे—जिससे कि कामादि को मन में आश्रय पाने का अवसर न मिले, और भोग के द्वारा कष्टकर रोगादि की उत्पत्ति, भोग सुख की अनित्यता और परिणाम विरसता तथा शरीर की क्षणभंगुरता के बारे में मन ही मन आलोचना करे, तो उस हालत में काम का वेग बहुत परिमाण में घट जाता है। जिसको लोभ है, वह यदि दान करने की चेष्टा करे; जो प्रवञ्चक है वह यदि "सच्ची बात ही बोलूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा कर ले; जो क्रोधी स्वभाव का है वह यदि क्षमाशील और सहनशील बन जाने का अभ्यास करे; जो अहंकारी है वह यदि अपने से अच्छी अवस्था वाले और अधिक गुण

सम्पन्न व्यक्ति के चरित्र की आलोचना करें; जो अत्यन्त मोहग्रस्त है और स्त्री पुत्र घर गृहस्थी के प्रति अत्यन्त आसक्त है, वह यदि मृत व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार करे, श्मशान और सुवृहत् जनशून्य अट्टालिकाओं को देख आवे, तो उस हालत में आप ही आप इस पार्थिव धन जन और प्रिय परिजनों के प्रति उसका अनुराग घट जाता है। विशेषतः यदि सभी सोच लें और प्रति दिन हृदय से भगवान् से यह प्रार्थना करें कि "मुझसे किसी का अनिष्ट न होने पावे! लोगों को तो यों ही कितने दुःख कितनी यन्त्रणाएं भोग करनी पड़ती हैं, मैं उनके दुःखों को और न बढ़ाऊँ! रोग, मृत्यु, अभाव, अनशन के प्रचण्ड झपट्टे से सभी मुरझाये हुए हैं, मैं उन लोगों के प्रति और उपद्रव न करूँ! दूसरों का दुःख दूर करने के लिए, दूसरों के आँसू पोंछने के लिए मैं अपने हृदयद्वार का बन्द न कर डालूँ, बल्कि प्रयोजन होने पर स्वार्थ विसर्जन कर सकूँ, इसके लिए हे भगवन् मुझे बल दो!" तो जगत् का बहुत दुःख-भार हलका हो जाय और लोग पापों के आकर्षण से बहुत परिमाण में बच जायँ इसमें सन्देह नहीं है। क्योंकि जो बातें सोची जाती हैं चित्त धीरे धीरे उनके सस्कारों को ग्रहण किये बिना रह नहीं सकता।

दशम अध्याय

संयम अभ्यास

सदभ्यास और असदभ्यास के असीम प्रभाव की आलोचना मैं पहले कर चुका हूँ। असदभ्यास के वश में आकर लोग कितने ही, नये नये अभावों से प्रपीड़ित हो रहे हैं — इच्छापूर्वक कितने ही कष्ट सह रहे हैं—उसकी सीमा नहीं है। चेष्टा करने से अति सहज में ही इन सब दुःखों से लोग मुक्ति पा सकते हैं। किन्तु हम लोग इतने निर्बोध हैं कि, अभाव के पीड़न से जल भुन कर मरते रहेंगे यह भी स्वीकार है, तो भी अनायास ही जिसको छोड़ा जा सकता है, उसको छोड़कर यन्त्रणा को हलका न बनावेंगे।

असंयम ही वर्तमान संसार में अशान्ति और अभाव का कारण है।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से आजकल, धनी, मध्यवित्त और दरिद्र गृहस्थगण सभी प्रायः एक ही प्रकार की चाल से संसार-यात्रा निर्वाह करना चाहते हैं। धनियों के पास अर्थ है, वे लोग शौक और फैशन में आकर अर्थव्यय करें तो यह बहुत दोष की बात नहीं होती। किन्तु जिन लोगों की परिमित या स्वल्प आय है, वे भी यदि उसी तरह नकल करना चाहें, तो उनको कष्ट होना और उनका अभाव से उत्पीड़ित होना अनिवार्य है। किन्तु इस साधारण सी बात पर कोई भी जरा धीरता के साथ विचार करके नहीं देखता। भारतवर्ष के चिरन्तन आदर्श में घर-गृहस्थी चलाने में

अनभ्यस्त हो जाने के कारण हमलोगों को इतना दारिद्र्य और इतना अभाव है। जो लोग अपने और स्त्री पुत्र-कन्याओं के दो समय उदर पूर्ण करने और पहिनने के कपड़े तथा औषध-पथ्य जुटाने में इतनी अधिक घबड़ाहट में पड़ जाते हैं, वे लोग फिर दूसरों का दुःख कैसे दूर करेंगे? परन्तु पूर्व काल में हमारे पितामह लोग जिस रीति से गृहस्थी चलाते थे और जीवन-निर्वाह करते थे, उसका अनुसरण करके चलने से, यथार्थतः कोई हानि भी नहीं होती, बल्कि थोड़ी सी आमदनी में एक तरह सुख स्वच्छन्दता से ही गुजारा किया जा सकता है। हमलोगों का अपना अभाव अधिक रहने के कारण ही, अवश्य खिलाने-पिलाने योग्य स्वजनों, अतिथि-अभ्यागतों, दीन दरिद्रों की शुश्रूषा के लिए अर्थ की कमी पड़ जाती है। खाने-पहनने में हो, या साज-सामान में हो, बड़े लोगों की तरह या साहेबी ठाट से रहने की आकुल चेष्टा ने ही हमारी शान्ति की गृहस्थी को अशान्ति से भर दिया है। इस अवस्था की प्रतिकूल चाल और भोग विलास के लिए अत्यधिक लोलुपता ही हम लोगों को दिन पर दिन अन्तःसार शून्य करती जा रही है। इसका क्या कोई प्रतिकार नहीं है? हम अभ्यासों के इतने दास और विषयों के इतने सेवक बन गये हैं कि, इन सब अभावों की पूर्ति न कर सकने से अपने को कितने अभागे मानने लगे हैं। किन्तु ये सभी अभाव ही अपनी कल्पना हैं, केवल शून्य पर प्रतिष्ठित हैं। ये नहीं है सोच लेने से ही तो आपद मिट जाती है, ऐसा न करके हाय हाय करके घूमते रहना सचमुच ही अनुताप का विषय क्या नहीं है? पूर्ववर्ती आर्य सभ्यता के आदर्शों से विचलित होने से ही, हमें कष्ट हो रहा है। अब इस तरह अभाव बोध करना अभ्यास या संस्कारगत

हो गया है। हम लोगों के पूर्व पुरुष पहले इन अभावों को अभाव ही नहीं मानते थे। इसलिए ये सभी अपने ही बनाये हुए अभ्यास हैं, जिन्हें थोड़ी सी चेष्टा करने से ही मिटाकर दूर कर दिया जा सकता है, यह न करके उन सबको प्रश्रय देकर अविरत दुःख भोग करना क्या नितान्त ही पाप भोग करना नहीं है? यदि कहो कि, ये सब सुखादि में अभ्यस्त हो गये हैं, अब इन सबको छोड़ सकूँगा क्यों? यह बात ठीक नहीं है, यह बात कहने से काम क्या चलेगा! समझ रहा हूँ कि यह अभ्यास भविष्य में मेरे दुःखों का कारण बन जायगा, जान कर सुनकर भी क्या मैं उसके विरुद्ध खड़ा न होऊँगा? इस तरह कापुरुष की भाँति दुर्बलता दिखाने से काम क्यों चलेगा? अवश्य ही किसी भाँति के प्रतिकार के लिए उठ कर लग जाना पड़ेगा। मुझे दृढ़ विश्वास है कि अभ्यास के कारण जो बात सस्कारगत बन गयी है, विपरीत अभ्यास द्वारा उसी प्रकार एक दूसरे सस्कार को प्रतिद्वन्द्वी रूप में खड़ा कर दिया जा सकता है। भारतवर्ष का सत्य आदर्श ही है सयम। भारतवर्ष के आदर्श ने त्याग की दिशा से पूर्णता लाभ किया है, भोग की दिशा से नहीं। उसके अशन-वसन में, भोग विलास में, घर बाहर, आचार व्यवहार में वार्तालाप में सर्वत्र ही हमारा सयम रक्खा हुआ है, किसी जगह भी वह मात्रा को पार करके आगे नहीं बढ़ सकता था। भारतवर्ष का यही विशेषत्व है। किन्तु अब इस सयम का अत्यन्त अभाव हो गया है। इसीलिए हम लोगों को इतना दुःख है, इतना कष्ट है! इस तरफ न देखते हुए देशोन्नति के लिए सिर पटक कर मर जाने पर भी, और सैकड़ों सैकड़ों हिन्दू विश्वविद्यालय, धर्म केन्द्र या सभाएँ

कायम करने पर भी वर्तमान समय में इस देश का जो यथार्थ अभाव है, वह किसी तरह भी दूर न होगा। इस कारण, जो लोग यथार्थ देश-हितैषी हैं और देशवासियों के मंगलकामी हैं, उन लोगों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे संयम पर दृष्टि रखते हुए शिक्षा-विधान की व्यवस्था करें।

आरम्भ से शिक्षा पाने से ही बच्चों का संयमाभ्यास संस्कारगत हो जायगा। मैं देख रहा हूँ कि संयम-शिक्षा के अभाव से ही हम लोग भिखारी की तरह आत्मविक्रय कर रहे हैं, मिथ्या का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं, यहाँ तक कि चौर्य वृत्ति अवलम्बन कर रहे हैं और अकारण ही अभ्यस्त अभ्यासों की पूर्ति के लिए अधर्म का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। ये सब इस जाति को कितना दुर्बल बनाते जा रहे हैं, इसे दूरदर्शी व्यक्ति मात्र अनायास समझ सकते हैं।

जो लोग अभ्यास के द्वारा अपने अभावों को संकुचित नहीं कर सकते, या प्रमत्त इन्द्रियों की दुर्द्धर विषय लालसा को संकुचित नहीं कर सकते, उन लोगों के भाग्य में और भी कितने दुःख बदा है यह केवल विधाता ही बतला सकते हैं। संयम के बल से ही ब्राह्मण ब्राह्मण थे, क्षत्रिय क्षत्रिय थे। आज संयम के अभाव से भारत की उन सब श्रेष्ठ जातियों ने दास्यवृत्ति में मन लगा दिया है। इसी कारण उच्च जातियों में शूद्रत्व के सभी लक्षण (मिथ्याचार, कपटता प्रभृति) प्रभूत परिमाण में दिखाई पड़ रहे हैं। "अर्थ की आवश्यकता नहीं है, इमली की पत्तियों के झोल से ही अच्छी तरह काम चलता है—" यह बात आज कल के ब्राह्मण पण्डितगण जोर लगा कर कह नहीं सकते। क्योंकि उन लोगों ने भी भोग और आराम का दासत्व करना सीख लिया है।

संसार में कष्ट और अभाव विमोचन करने के लिए और सुनीति तथा सदाचार प्रवर्तित करने के लिए कुछ बाह्य और आभ्यन्तरिक संयम अभ्यास करने की चेष्टा करना नितान्त आवश्यक हो उठा है।

इस सम्बन्ध में पूर्व अध्याय में बहुत सी बातें बतला चुका हूँ। मनीषियों ने अभिज्ञता द्वारा समझ लिया था, जैसे सभी कामों में ही नियम मान कर चलना आवश्यक है, वैसे ही उपासना में भी वरन् कुछ अधिक नियम मान कर चलना आवश्यक है। नहीं तो प्रयत्न में शिथिलता आती है। एक बार शिथिल प्रयत्न हो जाने पर फिर पूर्वावस्था को लौट जाने में विशेष वेग उठाना पड़ता है। मन बहुत ही दुर्निग्रह है, इसको लेकर जो लोग सर्वदा विचार-विमर्श करते हैं, उनको यह अज्ञात नहीं है कि इसकी विक्षेप शक्ति कैसी प्रबल है। इसलिए प्रथम शिक्षार्थी के लिए असंयत रूप से उपासना करना कभी निरापद नहीं कहा जा सकता। चालक को लेकर इसमें एक और विपद् है। आज कल सभी गुरु हैं, शिष्य बन कर शासित होंगे यह इच्छा सभी को कम है। प्रायः सभी आध्यात्मिक उपदेष्टा एक एक दूकान खोलकर बैठे हुए हैं। सभी क्रेता खरीदने के लिए व्याकुल हैं। लोग भी जहाँ तहाँ जिसके तिसके पास उपदेश लेने में व्यग्र हैं—वे लोग भी सस्ता भाव और सुविधा ढूँढते हुए घूम रहे हैं। ऐसी अवस्था में जो होना संभव है वही हो रहा है। गुरु लोग धर्म शिक्षा देते समय प्रायः अधर्म को प्रश्रय दे रहे हैं। सर्वत्र विधि मान कर चलने की चेष्टा करना ही पौरुष का लक्षण है। यह न करके सभी हीन वीर्य होकर लोक दृष्टि में हेय बनते जा रहे

उपासना में संयम।

हैं। क्योंकि शास्त्राचार लंघन करके जो किया जाता है वह विधि हीन कार्य है, और वह निरर्थक श्रम माना जाता है।

असंयत रूप से बातें कहने की प्रवृत्ति हमलोगों की बहुत ही प्रबल है। साधन-पथ में ऐसा विघ्न भी और दूसरा नहीं है। अधिक बातें कहते समय बहुधा जानकारी में या गैरजानकारी में हमलोग मिथ्या व्यवहार करते हैं। पुनः पुनः इस तरह करते रहने से यह एक दुरपनेय अभ्यास में परिणत हो जाता है, और चित्त को अत्यधिक दुर्बल बना देता है। चिन्ता में भी हम बहुत असंयत हैं। हमलोगों को जान लेना चाहिये कि अनवरत मन की मौज के ही अनुसार मन को चिन्ता करने की छूट दे देने से उसको दुर्बल बना दिया जाता है। इसलिए चिन्ता के संयम का अभ्यास न कर सकने से, हमारी दुर्गति की सीमा न रहेगी। कुचिन्ता मनुष्य को जितना जीर्ण बना देती है, उतना और किसी बात से नहीं। कुचिन्ता जिसमें प्रबल है, उसके लिए कुकर्म करना स्वाभाविक है। इस कारण जितनी असम्भव, अनावश्यक, आपत्तिजनक चिन्ताओं को मन में घुसने दोगे चित्त उतना ही विक्षिप्त हो जायगा। स्मरण रखना चाहिये कि चित्त संयम ही चित्त शुद्धि है। इस प्रसङ्ग में एक और बात सहृदय पाठकों को स्मरण करा देना चाहता हूँ। यह कार्य कठिन नहीं है, जरा मन लगा कर करने से वे लोग देश का प्रभूत मंगल साधन कर सकेंगे। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति यदि प्रति दिन आधा घंटा लोक-शिक्षार्थ व्यय करें, तो उस दशा में कुछ ही वर्षों में, समग्र देश में निरक्षर व्यक्ति ढूँढने पर न मिलेगा। जब तक प्रत्येक स्त्री-पुरुष विद्यालोचना से वंचित रहेगा, तब

वाक्य और चिन्ता का संयम।

तक देश का प्रकृत दैन्य नष्ट होगा या नहीं इसमें सन्देह है। प्रत्येक विद्वान युवक यदि संकल्प कर लें कि, वे कम से कम एक निरक्षर व्यक्ति को भी लिखने-पढ़ने में मदद देंगे तो उस हालत में देश का विशेष कल्याण होगा। इसमें अर्थ-व्यय नहीं है, तो भी अति सहज में लोक-शिक्षा का प्रचार हो सकता है।

इन्द्रिय और विषय-भोग में असयम।

विषयभोग और इन्द्रिय चरितार्थता इन दोनों में ही आजकल हमलोग खूब असंयत हो गये हैं। इस कारण हमलोग तो, सब ओर से अकर्मण्य और दुर्बल होते जा रहे हैं इस सम्बन्ध में विस्मित होने का कारण नहीं है। प्राचीन आर्य सभ्यता की गति भोग की तरफ नहीं है, त्याग और संयम की तरफ है। इन्द्रियों के दास बन कर ही आज हमलोग भोग के लिए कुत्ते की तरह द्वार द्वार दौड़ते हुए घूम रहे हैं। इन्द्रियों के संयम से ही पुरुषार्थ प्रकाशित होता है, इन्द्रियभोग से लोग कापुरुष बन जाते हैं। विषय और इन्द्रिय भोग करते करते ऐसे तीव्र और घृणित अभ्यास पड़ जाते हैं कि, जब स्वभावतः ही उन सभी से मन के लिए विश्राम ग्रहण करने का समय आ जाता है, तब भी हमलोग निर्लज्ज की तरह उनको छोड़ कर रह नहीं सकते।

लोक-व्यवहार, आहार और वेष-भूषा में असंयम।

सामाजिक व्यवहारों में भी आजकल हमलोगों में अब जरा भी संयम नहीं रहा। सभी अत्यन्त अमितव्ययी हो गये हैं। विवाह, उपनयन, अन्नप्राशन, श्राद्धादि में हम लोग अत्यधिक व्यय करते रहते हैं। अवश्य ही कुछ कामों में बाध्य होकर हमलोगों को खर्च करना

पड़ता है। किन्तु जहाँ संयत होने से भी काम चल सकता है वहाँ भी हमलोग असंयम दिखाते हैं। इससे दुर्दशा का कोई अन्त नहीं रह जाता। मध्यवित्त गृहस्थ लोग धनियों का अनुकरण करने में दुर्दशा को बुलाते हैं।

सभी विषयों में सामर्थ्य के अनुसार खर्च करने में अपमान की कौन बात है? अनेक समय बाध्य हो कर खर्च करना पड़ता है जरूर, किन्तु जिससे दुःख और कष्ट होता है, उस तरह के कार्य को प्रश्रय देने से दुर्बलता ही प्रकट होती है। हमलोगों की ऐसी दुर्दशा हो चुकी है कि, इन सब विषयों में हम लोग अपमान बोध करते हैं, फिर भी दूसरा एक पड़ोसी—सम्भवतः निकट का आत्मीय—अभाव से कष्ट से जर्जरित है, उनकी सहायता करते समय हमलोग लज्जाजनक कार्पण्य का आश्रय लेने में अणु मात्र कुंठित नहीं होते। यह कैसी दुर्बलता है? यह कैसी कुशिक्षा है!

इसके बाद आहार में असंयम की बात आती है। सोचकर देखने से मालूम हो जाता है कि यूरोपीयों और मुसलमानों का अनुकरण करने को तत्पर होकर हमलोग आहार के सम्बन्ध में इतना अनुपयुक्त और अनुचित असंयम दिखाते हैं कि उनसे हमें लज्जा अनुभव करना चाहिये। केवल यही बात नहीं है, इसमें व्यय इतना अधिक होता है, कि दरिद्र और मध्यवित्त गृहस्थ लोग आमदनी में खर्च संभाल नहीं सकते। फिर भी एक तरफ इस तरह भोग बाहुल्य है और दूसरी तरफ मुट्ठीभर अन्न के लिए कितने ही लोग हाहाकार मचाते हुए घूम रहे हैं। कर्मभीरु आलसी लोगों की बात छोड़ देने पर भी ऐसे अनेक मनुष्य हमारे देश में पड़े हुए हैं जो वास्तव में असमर्थ और दया के पात्र हैं।

अर्धाशन और अनशन से इनको आधे दिन बिताने पड़ते हैं। अपने विलास को कम न करके इन लोगों के प्रति उदासीन भाव अवलम्बन करना क्या सचमुच ही अधर्म नहीं है ? भर पेट दालरोटी खाकर हजम कर सकने से ही खूब बलवान बना जा सकता है, इसके लिए गुरुपाक पदार्थ न होने से भी हानि नहीं है। कुछ काल पहले भी हमारे देश में यही दालरोटी खाकर ही लोग अनेक वीरत्व के काम कर गये हैं, इन दिनों अन्न के साथ व्यञ्जन उपकरणों से, मछली-मांस के कलिया पोलाव से, मिठाइयों की प्रचुरता से जितना ही हमारा भोजन-पात्र घनाच्छादित होता जा रहा है, उतना ही हमारे प्लीहा-यकृत् स्फीत और उदरामय बढ़े हुए आकार में प्रकट होते जा रहे हैं। सत्त्वगुण प्रधान, ब्राह्मण प्रधान भारतवर्ष में ये सब अनाचार अत्याचार क्यों सहे जायँगे ? ये सब दानवीय आहार क्या इस देश में सह्य होता है या ऐसे भोजन से कोई मंगल होता है ? विषय-भोग में वैराग्य ही इस देश का आदर्श है। भोग से केवल "कर्मभोग" ही भोगना पड़ता है, और कोई लाभ नहीं होता। पाँच छः प्रकार की तरकारियों के बिना हमारा खाना नहीं होता, जीभ के प्रति यह असंयत अनुराग दिखाते हुए हम लोग शरीर के प्रति कितना अत्याचार करते हैं और अनर्थक व्ययबाहुल्य से समूचे संसार को अभाव की चक्की में पीस डालते हैं, यह बतलाकर खतम नहीं किया जा सकता। आहार पवित्र और पुष्टिकर होना चाहिये। उस तरफ किन्तु हम लोगों की दृष्टि नहीं है, इसी कारण देश के प्रधान खाद्य घी, दूध अब बिना मिलावट के पाने का उपाय नहीं रहा। इससे स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है, मन जड़ होता जा रहा है, बुद्धि की मलिनता पैदा हो रही है, देश के लोगों का आयुक्षय और धनक्षय हो रहा है; किन्तु उस

तरफ किसी की भी दृष्टि नहीं है, तो भी देश के प्रति ममता की बातें तो सभी के मुँह से सुनाई पड़ती है।

प्रत्येक सद्गृहस्थ को ही यह स्मरण रखकर आहार का व्यय कम कर देना पड़ेगा कि, कम से कम एक भूखे निरन्न व्यक्ति को वे भोजन करावेंगे। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ यदि एक आदमी के लिए एक समय का ही भोजन जुटा दें, तो भी देश का बहुत उपकार किया जा सकेगा।

भूषण-परिच्छदों में भी हमलोग ऐसे ही असंयत हैं वरन् कुछ अधिक ही हैं। पुरुषों के साज-सामान और स्त्रियों के वसन-भूषणों के निमित्त इतना व्यय बढ़ गया है कि, लोग अब सत् प्रवृत्ति लेकर टिक नहीं सकते। तो भी यह सब निरर्थक व्यय मात्र है। वसन-भूषणों से लोगों की शोभा यथार्थ बढ़ जाती है या नहीं इस विषय में मुझे सन्देह है। मान लेता हूँ, वसन-भूषण शोभा बढ़ाते हैं, किन्तु उस शोभा से मतलब ही क्या, भैया, यदि शरीर की शोभा बढ़ाने में मनोवृत्तियों को और भी अधिक अशोभनीय बना देना पड़े? इससे लाभ हुआ या क्षति हुई जरा धीरज के साथ विचार करके देखने से ही मालूम हो जायगा।

जगत् में दुःख-क्लेश की सीमा नहीं है, कितने दुःखी कितने आतुर असहायावस्था में पड़े हुए हैं, इसकी संख्या नहीं है। पृथ्वी के इस दुःखक्लेश के भार को यदि कुछ हलका बना सकूँ, एक अनाथ, पीड़ित और पतित को भी आश्रय दे सकूँ, या स्वल्प परिमाण में भी उनका दुःख दूर कर सकूँ, तभी यह जीवनधारण सार्थक होगा। जो सर्व भूतस्थ हैं उनकी इस तरह सेवा न करने से अन्य किसी काम से ही उनको परितुष्ट नहीं किया जा सकता। प्रत्येक

जीव में भगवान् मौजूद हैं जान कर जीव मात्र के प्रति करुणापरवश होना ही यथार्थ मनुष्यत्व है, और इस तरह पुरुषार्थ साधन ही वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति का परिचायक है। यही भगवान के निकट यथार्थ आत्मनिवेदन है। इस हितानुष्ठान में चेष्टा करने से सभी कुछ न कुछ कर सकते हैं। जहाँ ही जो कोई भी क्यों न रहें, वे उसी स्थान पर कोई न कोई लोकहितकर कार्य इच्छा करने से ही कर सकेंगे। अशिक्षित को शिक्षादान, क्षुधातुर दरिद्र को अन्नदान असहाय को सहायता दान, भीत को अभयदान, दुश्चरित्र को उपदेशदान, अधार्मिक को धर्मपथ में ले आना, इत्यादि लोकहितकर कार्यों का इस दुरवस्थाग्रस्त देश में तो अभाव नहीं है। अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार किसी भी एक काम को लेकर पुरुषार्थ प्रयोग कर सकते हैं।

समस्त अध्यायों का संक्षेप

जो इहलोक में और परलोक में शुभदायक हैं, ऐसे कुछ नीतिगर्भ उपदेश नीचे लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

१—कर्म ही उन्नति का सोपान है, कर्म ही मुक्ति का निदान है। कर्म न करने से कर्मी कर्मबन्धन से मुक्तिलाभ नहीं किया जा सकता। "कुरुकर्मैव तस्मात् त्वं" कर्म कहने से अवश्यही शुभ कर्म ही समझना चाहिये।

२—जगत् में परीक्षाएं अनेक हैं, कभी उत्तीर्ण हो जाओगे, कभी न होगे। इसके लिए निराश मत हो। गिर पड़े हो उठ जाओ, फिर गिर जाने पर फिर खड़े हो जाओ। जो उठना चाहता है, उसको कभी कभी गिरना भी पड़ता है। जो कभी न चलेगा, उसके गिरने की आशंका कम है जरूर, किन्तु जान लो कि जो एक कदम भी आगे बढ़ सकता है वह भी उस निश्चेष्ट आलसी की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

३—हम लोगों में से प्रायः सभी जन्म से ही शुकदेव जी नहीं बने हैं। इस कारण प्रलोभन बहुल संसार में हमारा पदस्खलन विन्दु मात्र अप्राकृत या अस्वाभाविक नहीं है, इसलिए गिर गये हो इस बात से लज्जा से भय से उसे छिपा रखने की चेष्टा मत करो। जिसको विश्वास कर सको, ऐसे किसी अन्तरङ्ग मित्र के सामने आत्मदोष प्रकट कर दो। इससे अन्तःकरण का बोझ हलका हो जाता है।

४—निर्जन स्थान में आत्मध्यान करना चाहिये। सर्वदा आत्मपरीक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिये। मन

के प्रति लक्ष्य रखने से ही मन असत् मार्ग से विरत हो जायगा।

५—सहज में ही मन को विश्वास मत करो। इसका चाञ्चल्य और विक्षेप जब तक दूर नहीं होते तब तक कभी मत सोचो कि यह शान्त हो गया है।

६—यदि निरोगी और बलशाली बनना चाहो तो जितेन्द्रिय और मिताचारी बनने की शिक्षा लो।

७—वृथा तर्क मत करो, विशेष जानकारी के बिना कोई बात मत कहो।

८—दुष्कर्म परित्यक्त हो जाने पर भगवत् पद में रति उत्पन्न होती है।

९—भगवान को चाहने से ही मिल जाते हैं। जैसे अत्यन्त क्षुधातुर अन्न की आकांक्षा करता है, या अत्यन्त पिपासातुर व्यक्ति जल की आकांक्षा करता है, भगवान को पाने की आकांक्षा में भी उसी तरह की तीव्रता रहना आवश्यक है।

१०—भगवान पर विश्वास न रहने के कारण ही लोग मृत्यु से डरते हैं। जिनको भगवान में विश्वास है, उनको मृत्युभय नहीं रहता।

११—परार्थ जीवन उत्सर्ग करो या न करो, जीवन चला ही जायगा, इसको कोई रोक कर न रख सकेगा। वह जीवन ही धन्य है जो पर हितार्थ परित्यक्त होता है। ऐसा त्याग ही पुरुषार्थ है।

१२—सांसारिक सुख, भोग या आराम की चाह मत करो। कभी तो पाओगे ही नहीं, केवल पग पग पर वंचित होकर मनमें क्लेश पाओगे।

१३—सर्वदा विचार-परायण रहना चाहिये। सुख ही आ जाय और दुःख ही आ जाय यह तो चिरस्थायी नहीं है, इसे खूब स्थिर भाव से विचार करके देख लेना। सुख या दुःख किसी को भी अविचार पूर्वक न ग्रहण करना चाहिये। किसी पर भी मोहित मत होना।

१४—शरीरनाश वास्तव में मृत्यु नहीं है, पाप-वासना ही यथार्थ मृत्यु है। इस पाप-वासना से ही मनुष्य प्रति क्षण जर्जरित होकर निरन्तर दुःख भोग कर रहा है। मृत्यु इसकी अपेक्षा बिलकुल ही कष्टकर नहीं है।

१५—जिनको कहा गया है "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" उनको इसी जीवन में जान कर जाना पड़ेगा। वासना के दूसरे पार का नाम ही है "तमः पार" यह महर्षि वशिष्ठ की उक्ति है। सर्व प्रथम वासना के बन्धन से अपने को मुक्त करो, तब देखोगे कि एक 'दिव्य धाम' तुम्हारे निकट प्रकाशित हो गया है, जहाँ चन्द्र सूर्य का आलोक नहीं है, कोई अन्धकार नहीं है; तो भी सर्वत्र ही निर्मल शुभ्र ज्योति बिखर रही है—जहाँ प्रवेश करने पर फिर लौटना नहीं पड़ता। यही वैकुंठपति का परम धाम है।

१६—जो वासना को संयत कर सकता है वही अन्धकार के दूसरे पार गमन करने में समर्थ होता है।

१७—भोगत्याग या विषय वैराग्य यह सब बल प्रयोग से नहीं होता। विचार और साधना की सहायता से मन शान्त हो जाने से ही विषयों में आप ही आप आसक्ति घट जाती है। साधन सम्पन्न और विचारवान् न हो कर जो मिथ्या मोह के वशीभूत होकर संसार से भाग जाता है, वह कहीं भी आश्रय ढूँढने पर नहीं पाता। इस असंस्कृत

मन को लेकर वन में जाओ या घर में ही रहो एक ही बात है, सर्वत्र ही दुःख की मूर्ति देख कर सिहर उठोगे। मन को शान्त, समाहित करो, बाद को यथेच्छ रूप से विचरण करते रहना। पहले मन को व्याधि निर्मुक्त करो, बाद को घर वन सब ही अमृत से सने हुए मालूम होंगे।

१८—व्यर्थ के कामों या अनर्थक चिन्ता में समय अधिक नष्ट मत करो। क्योंकि मानव की परमायु कितनी ही है? जो लोग असत् कर्म में प्रवृत्त हैं और असदालोचना में मत्त हैं वैसे मत्त व्यक्ति का सङ्ग सर्वदा त्याग करने के लिए यत्नवान होना चाहिये। दूसरों के कार्यों की समालोचना करने के पहले अपने कार्यों की समालोचना करो। जहाँ अच्छी वार्ताएं होती हैं, अच्छी चर्चाएँ होती हैं वहाँ ही यातायात करो। परोपकारी साधुव्यक्ति के सम्पर्क में रहने की चेष्टा करो। जो लोग ईश्वरीय विषय आलोचना करना पसन्द करते हैं उन लोगों का सङ्ग करो, बहुत बल संग्रह कर सकोगे। निन्दक, नास्तिक, ईश्वर द्वेषी का संग कदापि मत करो।

१९—उपासना के द्वारा मन निगृहीत हो जाने पर भगवत् प्रेम प्रतिष्ठित हो जाता है। अतएव सर्व प्रयत्न से उपासना का आश्रय लेकर इस दुर्निवार शत्रु मन को जीत लेने की चेष्टा करनी चाहिये।

२०—दिन में कम से कम कुछ ही दण्ड एकान्त में ध्यान करना चाहिये। यदि सुविधा हो महीने के अन्त में कम से कम एक दिन भी निर्जन स्थान में जाकर एकान्त चित्त से साधना करनी चाहिये। वर्ष के अन्त में एक महीना हो, एक पखवारा हो, एक सप्ताह हो किसी तीर्थस्थान में या पुण्यस्थान में जाकर वास करना चाहिये। वहाँ इन इने

गिने दिनों को केवल साधुसंग और भगवदुपासना में विताने की चेष्टा करनी चाहिये। -

२१—शास्त्रविधि को अमान्य मत करो, शास्त्राचार से द्वेष मत करो। ऋषिवाक्य को भ्रान्त मत समझो धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में युक्ति ढूँढने की इच्छा मत करो, गुरुवाक्यों पर अश्रद्धा मत करो। इन सब को सदाचार कहते हैं—इससे ही परम पद लाभ होता है।

२२—व्याधि-संकुल देह, असंस्कृत मन और अमार्जित बुद्धि लेकर ऋषियों के समाधिलब्ध ज्ञान को ठीक ठीक समझा नहीं जा सकता। यदि उन्हें समझना चाहो, तो ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित हो जाओ, संयम अभ्यास करो, और तपश्चर्या में लग जाओ। उपासना और संयम के बिना जितने बड़े ही पण्डित क्यों न रहो, उनकी एक भी बात समझ सकोगे ऐसी आशा मत करो।

——:o:——

एकादश अध्याय

मनुष्यजीवन में अभ्यास का प्रभाव और उसके दृष्टान्त

उपदेश और उपसंहार

अभ्यास द्वारा क्रमशः ही चरित्र की दृढ़ता सम्पादित होती है और चित्त में बल संचार होता है। अभ्यास बहुधा ग्रन्थि की तरह ठीक कार्य करता है, उसका भेद करना कठिन है। सदाभ्यास से उसी तरह चरित्र में ग्रन्थि तैयार हो जाती है, जिसको भेद कर प्रवृत्ति की उत्तेजना बल प्रकाश नहीं कर सकती। किसी एक सत्कार्य या सत् चिन्ता का अभ्यास करते करते पूर्वकृत असत् कार्य या असच्चिन्ता की शक्ति अवश्य ही घट जायगी। इस अभ्यास ने अनेक असच्चरित्र लोगों के जीवन में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इसके ही बल से रत्नाकर वाल्मीकि वन गये थे, नर पिशाच जगाई मधाई भक्त श्रेष्ठ के रूप में परिणत हो गये थे। साधु की कृपा से और उनके संस्पर्श से परिवर्तन संघटित होता है यह बात सच है, किन्तु उस अवस्था को धारण करने के निमित्त अभ्यासयोग आवश्यक है। अपने पुरुषकार के विना केवल दूसरे की कृपा से कुछ भी नहीं होता। अंग्रेजी में एक कहावत है –'Habit is the second nature' अभ्यास द्वारा इस चित्त को तुम्हारी जैसी इच्छा हो ठीक उसी रूप में परिणत कर सकते हो। महासाधु होना या अत्यन्त

कुत्सित चरित्र का मनुष्य बन जाना सब कुछ ही तुम्हारे आयत्त में है, सब ही तुम्हारे अभ्यास पर निर्भर करते हैं। अभ्यास के बल से इस चंचल चित्त को निर्वात प्रदीप शिखा की भाँति अचंचल बना कर समाधिमग्न कर सकते हो, फिर संसार-सागर में आकंठ निमज्जित करके डुबकियाँ खिला भी सकते हो। भगवान् ने गीता में स्पष्ट ही कहा है:—

"अभ्यासयोग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

'हे पार्थ, अभ्यास रूपी उपाय द्वारा चित्त को अनन्यगामी बना कर और उस चित्त द्वारा दिव्य परम पुरुष का चिन्तन करते करते उन्हीं को प्राप्त किया जाता है।'

भगवत्-स्मरण का अभ्यास मृत्युकाल में मुक्ति दायक है।

इस स्मरण के अभ्यास को जो मृत्यु काल तक दृढ़ रख सकते हैं, उनको ही परम गति प्राप्त होती है। मृत्यु के समय जैसी चिन्ता का उदय होगा, जरूर तदनुसार गति होगी, किन्तु मृत्युकाल में वही चिन्ता अवशभाव से उदित होती है—जो मुझे चिरकाल से अभ्यस्त है। धोखा देकर कोई केवल मृत्यु के समय ही भगवत् स्मरण करके उद्धार पा जायँगे, यह भरोसा कोई न करे। जो बात सबसे अधिक अभ्यस्त है, उसकी ही चिन्ता मृत्युकाल में चित्त में पुनः पुनः उपस्थित होती है, और जन्मान्तर परिग्रह भी ठीक उसी के अनुसार होता है। इसी लिए भगवान् ने कहा है—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च"—'अतएव मुझे सर्वदा स्मरण करो'—किन्तु 'युध्य च' क्यों? चेष्टा न करोगे तो—प्रवृत्ति और पूर्व अभ्यास खूब बाधा देने को चेष्टा करेंगे ही, अतएव उनके साथ युद्ध की तैयारी

करो, जिससे कि प्रवृत्ति के उद्दाम स्रोत में तुम बह न जाओ।

जिन लोगों ने पहले पहल अभ्यास आरम्भ किया हो, उनको चाहिये कि, अभ्यास के बल से जब तक चारित्र खूब दृढ़, बलिष्ठ और एकनिष्ठ नहीं हो जाता, तब तक अभ्यास के वेग को किसी तरह भी घटने न दें। बहुधा यह संयम या साधन अभ्यास करते करते फिर वह मीठा न मालूम होगा, प्राणान्तिक जान पड़ेगा,--तो भी अभ्यास मत छोड़ियेगा। पूज्यपाद श्रीयुक्त विजयकृष्ण गोस्वामी जी ने अपने एक शिष्य से कहा था—"देखो, प्रति दिन नियमित रूप से थोड़े समय के लिए साधन करना चाहिये। अच्छा न लगने पर भी औषध निगलने की तरह करने से क्रमशः रुचि उत्पन्न होगी। नाम में अरुचि होने पर उसकी औषध नाम ही है। जब पित्त रोग से मुख तीता हो जाता है, तब मिश्री भी तीती लगती है। किन्तु उस रोग की औषध मिश्री ही है। खाते खाते मिश्री मीठी लगने लगती है। मन स्थिर क्या सहज में ही होता है? मन स्थिर हो जाने से ही काम बन जायगा। पहले पहल मन अत्यन्त अस्थिर ही रहता है—नाम जपने में भी विरक्ति मालूम होती है, किन्तु उस समय "औषध निगलने" की तरह नाम जपना पड़ता है। क्रमशः जोर लगा कर जपते जपते यदि एक बार वह अभ्यस्त हो जायगा, तो फिर गड़बड़ी न रहेगी। अभ्यास न होने तक छोड़ना नहीं चाहिये, बल पूर्वक जपते रहना चाहिये।"

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

पूज्यपाद योगीश्रेष्ठ महात्मा श्यामाचरण लाहिड़ी महोदय

ने कहा है—"अनावश्यक बातें कहना ही लोगों का अभ्यास है; उससे तो यही अच्छा है कि उस समय को भगवान के स्मरण में लगा रखें, तो उससे बहुत लाभ होता है। मन चंचल क्यों होता है? अनवरत विषय चिन्ता से यदि चिन्ता को संयत करके अनवरत स्मरण करने का अभ्यास कर सको, तो चित्त अनन्यगामी और स्थिर हो ही जायगा। अभ्यास करो—तुम लोग भी देवता की वांछित अवस्था प्राप्त करोगे।"

मामनुस्मर युध्य च।

अभ्यास का ऐसा ही अचिन्तनीय प्रभाव होता है कि एक व्यक्ति रोग से जीर्ण ज्ञानहीन होकर पड़ा हुआ है किन्तु किसी निर्दिष्ट समय पर कोई निर्दिष्ट कार्य करने में वह अभ्यस्त है; वह कार्य करने का समय उपस्थित होते ही वह अज्ञानावस्था में भी अभ्यस्त कार्य करने में प्रवृत्त हो जायगा। इस अभ्यास के सम्बन्ध में एक दिन बोलपुर ब्रह्मचर्याश्रम में श्रद्धास्पद श्रीयुक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर महाशय के साथ मेरी बातचीत हुई थी। पहले उनको किसी एक साधन या जपादिअभ्यास के प्रति विशेष श्रद्धा नहीं थी। 'क्रमशः मत परिवर्तन हो गया है' यह कह कर रवीन्द्र बाबू ने एक घटना का विवरण सुनाया, जहाँ तक याद है लिख रहा हूँ। उन्होंने कहा था कि, उनके पितृदेव पूजनीय स्वर्गीय देवेन्द्र-नाथ ठाकुर महाशय उनको गायत्री जपने और ध्यान करने का पुनः पुनः आदेश देते थे। रवीन्द्र बाबू सोचते थे "केवल कुछ शब्दों का ही उच्चारण करने से और उनका प्रति दिन अभ्यास करके क्या लाभ होगा, वरन् उनके अर्थों को समझ लेना संगत हो सकता है" इस लिए इस विषय में उन्होंने पहले पहल विशेष मनोयोग नहीं दिया। उन्होंने कहा कि अब वे उसकी उपकारिता समझ सके हैं। इस प्रसङ्ग में

उन्होंने अपने पितृदेव के अभ्यास के बारे में उल्लेख करके कहा कि, वे अपने सुदीर्घ जीवन के प्रायः समस्त भागों में ही शेष रात्रि में जाग कर गायत्री जपते थे और ध्यान करते थे। मृत्यु के कुछ दिन पहले ही वे बीच बीच में बीमार पड़ने लगे। एक बार वे खूब बीमार हो गये, बातचीत करना बन्द हो गया था, हिलने डोलने में भी उनको कष्ट हो रहा था। उनकी शुश्रूषा के लिए निकट ही वे लोग रात्रि के समय ठहरे हुए थे। एक दिन रात्रि के शेष भाग में वे कैसे हैं देखने के लिए वे लोग गये। जाकर उन लोगों ने देखा, वे दीर्घकाय उन्नत पुरुष ध्यानयोग में निमग्न हैं। बाह्य शरीर में विशेष चेतना नहीं थी किन्तु उनका चित्त ठीक उसी समय जाग्रत होकर ध्यान धारणा करने में अभ्यस्त था, इसलिए पूर्वाभ्यास बल पूर्वक अवश अचेतन शरीर को साधन के लिए बिठाने में समर्थ हुआ था। जीर्ण, अस्वस्थ, बलहीन शरीर उनके चिरकाल के अभ्यस्त साधन में विघ्न न पहुँचा सका। अभ्यास की ऐसी ही शक्ति है।

अभ्यास के बल से साधना में सिद्धि।

परमहंस रामकृष्ण साधन अभ्यास में इतने अनुरक्त थे कि, वे जीवन की अनेक रात्रियाँ एकाकी निर्जन स्थान में साधनाभ्यास में बिता देते थे। मैं ने सुना है विभिन्न विभिन्न साधन-पंथों में से बहुतों का उन्होंने अभ्यास किया था। जो भी हो, उन्होंने साधनाभ्यास में दृढ़ प्रयत्न किया था यह निश्चित है। उसी के फल स्वरूप आज वे समग्र जगत् के पूजनीय बन गये हैं।

स्वर्गीय परिव्राजक श्रीश्री कृष्णानन्द स्वामी—अपने पूर्वाश्रम में रेलवे आफिस में एक साधारण केरानी के कार्य पर

नियुक्त थे। कालेज की पढ़ाई समाप्त कर के अधिक विद्या उपार्जन करने की सुविधा उनको नहीं मिली थी यह सच है, किन्तु अपनी चेष्टा, प्रयत्न और अभ्यास के फल-

अभ्यास से दैवशक्ति लाभ।

स्वरूप वे सर्वशास्त्र पारदर्शी बन गये थे। देशवासियों की स्वधर्म में अनास्था और अविश्वास देखकर उनका हृदय रो उठता था। देश के लोगों में स्वदेश और स्वधर्म के प्रति अनुराग बढ़ाने के लिए, ब्राह्मधर्म की प्रबल विरुद्ध प्रतियोगिता के बीच भी वे बंगाल और अन्यान्य प्रदेशों के अनेक नगरों और गावों में हरि सभा और सुनीति-संचारिणी सभा प्रतिष्ठा करने में समर्थ हुए थे। केवल यही नहीं, देश के चिन्ता स्रोत और युवकों की उन्मार्गगामिता के स्रोत को वे विभिन्न मुखों की ओर घुमा देने में समर्थ हुए थे। यह उनकी असामान्य प्रतिभा का फल है। वे पहले पहल धर्म के सम्बन्ध में कुछ कुछ बोलने की और समझाने की चेष्टा करते थे, इसके लिए उनको लिखने और बोलने दोनों का ही अभ्यास करना पड़ा था। आफिस में हड्डी-तोड़ परिश्रम करके आने के बाद फिर दुरूह शास्त्रादि की आलोचना, करना, वक्तृता देना, निबन्ध लिखना, ये कितने अभ्यास और पौरुष के फल हैं यह सहज ही में अनुमान करने योग्य है। अविश्रान्त चेष्टा के फलस्वरूप वक्तृता करना उनको इस तरह अभ्यस्त हो गया था कि लोग उनकी वाग्मिता को अब भी दैवशक्ति का प्रभाव मानते हैं। उनकी अविश्रान्त अमृत वर्षिणी, भावमयी, उद्दीपना पूर्ण भाषा जिन्होंने अपने कानों से नहीं सुनी है उन्हें समझना कठिन है कि उन्होंने भाषा में कैसी असाधारण शक्ति प्राप्त कर ली थी। विहार प्रान्त में ही उनको यह कार्य पहले आरम्भ करना पड़ा था,

इस लिए हिन्दी भाषा में लिखने और बोलने का अभ्यास भी उनको विशेष रूप से प्राप्त करना पड़ा था। यह दुर्भाग्य है कि उनके भाव पूर्ण अपूर्व भक्तिरसयुक्त बंगला और हिन्दी के सभी व्याख्यान उनकी अकाल मृत्यु से उनके साथ ही विलय प्राप्त कर चुके हैं। जो कुछ हैं वे बहुत थोड़े से अंश मात्र हैं, उनको पढ़ कर भी लोग विशुद्ध प्रेम भक्ति रस में डूब जाते हैं। उनके प्रेम विगलित, भक्ति-अश्रु का स्मरण करने से आज भी जीवन अपूर्व भक्ति रस से भर जाता है। नितान्त ही दुर्भाग्य की बात है कि इस देश के तमसाच्छन्न धर्माकाश को जिन्होंने चन्द्रमा की भाँति सुनिर्मल किरणजाल से आलोकित कर दिया था; जिन्होंने देश के कल्याणार्थ ही समस्त भोग सुख और विलास वासना की जलांजलि देकर भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक आर्यधर्म की विजय-वैजयन्ती उड़ा दी थी; जिन्होंने शारीरिक रोग-यंत्रणा से कातर होते-हुए भी धर्म-पिपासु भक्तिमान सज्जन पुरुषों की अन्तरात्मा को भक्ति पीयूप धारा से सुशीतल करने के सकातर आह्वान की कभी उपेक्षा नहीं की थी—उन्हीं साधु पुरुष की उनके ही स्वदेशवासियों ने अकारण न मालूम कितनी ही लांछनाएँ की हैं—किन्तु वे महर्षि ईसा मसीह की भाँति क्रूस-विद्ध हो कर भी स्वदेशवासियों की कल्याण कामना करने से कभी विमुख नहीं रहे। रोग जीर्ण शरीर लेकर भी वे धर्मपिपासु स्वदेशवासियों को आश्वासन देने में उपेक्षा न कर सके। कातर और दुर्बल शरीर से इस तरह अत्यन्त परिश्रम करने से जीर्ण शरीर और भी जीर्णतर और भग्न हो गया। आज प्रायः नौ-दस वर्ष हुए वे दिव्यधाम में चले गये हैं, किन्तु

उनके अभाव से धर्म-जगत् की कैसी क्षति हुई है, यह सोचने से आज भी आँखें आँसू से भर उठती हैं।

काशी के दण्डी स्वामियों के आचार्य पण्डिताग्रगण्य स्वर्गीय स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती ने बड़ी आयु तक कुछ भी लिखना पढ़ना नहीं सीखा था। शरीर में असाधारण बल था, केवल अक्खड़पन करते हुए ही घूमते फिरते थे। जब उन्होंने संन्यास ग्रहण किया तब भी प्रायः निरक्षर थे। उसके बाद विद्याध्ययन में ऐसा असाधारण अभ्यास और उद्यम प्रयोग करने लगे कि थोड़े ही समय में सब शास्त्रों में उनको असाधारण पाण्डित्य प्राप्त हो गया। जो कुछही समय पहले पढ़ना तक भी न जानते थे, वे तीन चार वर्षों में ऐसे सुयोग्य बन गये कि संस्कृत भाषा में लगातार पाँच-छः घंटे तक शास्त्रीय आलाप करते हुए विबुध मण्डली को विमुग्ध कर देते थे। मैंने सुना है कि उनकी असाधारण तर्कशक्ति के सामने आर्य समाज के प्रतिष्ठाता सुतीक्ष्ण बुद्धिसम्पन्न स्वामी दयानन्द सरस्वती को भी पराभव स्वीकार करना पड़ा था। प्रति रात्रि को तीन चार कोस दूरवर्ती स्थान में जाकर आचार्य से शास्त्राध्ययन करना और वहाँ से रात्रि के अन्त में लौट आना—इस प्रकार लगातार चार-पाँच वर्ष तक उन्होंने असाधारण प्रयत्न किया था। इसी लिए एक समय भारत के समस्त पण्डितवर्ग ने उनकी प्रतिभा के सामने मस्तक अवनत किया था। यह कम पौरुष की बात नहीं है। विशुद्धानन्द स्वामी के अन्यतम शिष्य गम्भीरानन्द सरस्वती से हमलोगों ने यह बात सुनी थी कि श्रद्धास्पद गम्भीरानन्द जी भी उनकी सहिष्णुता और त्याग देखकर उनको पौरुष की प्रतिमूर्ति ही मानते थे। दण्डी स्वामियों

अभ्यास से प्रतिभा का विकास।

में वर्तमान समय में उनकी तरह साहसी दृढ़काय बलिष्ठ और तेजस्वी पुरुष विरले ही दिखाई पड़ते हैं।

असाधारण अध्यवसायी पुरुष महात्मा स्वर्गीय विजय कृष्ण गोस्वामी ने अपने शिष्यों और जिज्ञासु भक्तों के सामने कितनी ही बार इस अभ्यास की शक्ति की बातें प्रकट की हैं। उनके अपने जीवन में भी इस अभ्यास ने कैसा प्रभाव बढ़ा दिया था, बहुत दिनों का अभ्यास परित्याग करने में उनको कितना कष्ट उठाना पड़ा था—यह बात कितनी ही बार उन्होंने अपने ही मुख से स्वीकार की है। इस महात्मा की अपूर्व भगवद्भक्ति और सुदृढ़ विश्वास ने कितने उन्मार्गगामी नास्तिकों को धममार्ग में लौटा दिया है यह याद पड़ने से हृदय कृतज्ञता से पूर्ण हो उठता है।

काशी के सुविख्यात परमहंस स्वर्गीय भास्करानन्द स्वामी से एक मनुष्य ने पूछा—"आप इस प्रचण्ड जाड़े में किस तरह अनावृत शरीर से रहने में समर्थ हुए हैं? हम लोग इतने जाड़े के कपड़ों से शरीर ढककर भी सिहरते हुए मर रहे हैं।" उत्तर में उन्होंने कहा था—

अभ्यास के फलस्वरूप सहनशीलता।

"इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है, तुम लोग भी सह सकोगे, और किसी किसी अंश में मैं देख रहा हूँ तुम लोग भी सह रहे हो।" आश्चर्य में पड़कर प्रश्नकर्त्ता ने पूछा—"कहाँ, हमलोग किस जगह सह रहे हैं? हमलोग तो बिल

तुम लोग, शायद अनजान में ही किसी एक अंग को शीत सहन करने के लिए अभ्यस्त बना दिया है, मैंने चेष्टा और अभ्यास द्वारा सर्वांङ्ग में शीत सहने का अभ्यास कर लिया है। इसमें आश्चर्य में पड़ने का कोई कारण नहीं है, सबही अभ्यास का फल है।"

कोई कोई तर्क करते हैं आजकल साधना करके कोई सिद्धिलाभ नहीं कर सकता। योगाभ्यास प्रभृति कठोर साधनाएँ आजकल के दिनों में चलने वाली नहीं हैं। पूर्व-काल में मुनि-ऋषियों को सामर्थ्य इनमें थी, वर्तमान युग के क्षीण प्राण मनुष्यों के लिए योगादि अभ्यास विडम्बना मात्र है। किन्तु वे लोग शायद जानते नहीं हैं कि इस घोर कलिकाल में भी कोई कोई अभ्यास और प्रयत्न के फलस्वरूप ज्ञान और योग के चरम शिखर पर चढ़ गये हैं। काशी के सुप्रसिद्ध राजयोगी स्वर्गीय श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय गृहस्थ ही थे। अधिक लिखना-पढ़ना भी सीखा था, ऐसी बात भी नहीं है। किन्तु देश विख्यात बहुश्रुत पण्डितगण भी उनके शास्त्र-ज्ञान का परिचय पाकर विस्मयाभिभूत हो जाते थे। न पढ़ने पर भी उनका सर्वशास्त्रों पर अधिकार था। दर्शन शास्त्र के जटिल तत्त्वों को अति सहज में लोगों को हृदयङ्गम करा सकते थे। केवल यही नहीं, सभी अनैक्यों के बीच एक अविरोधी ऐक्य का पता उनको लग गया था। सभी शास्त्रों के सूक्ष्म और आध्यात्मिक भावों का सुन्दर विश्लेषण उनके गभीर आध्यात्मिक ज्ञान का परिचय देता था। सुप्रसिद्ध चिकित्सक गण भी उनका शरीर सम्बन्धी और भेषज सम्बन्धी ज्ञान देखकर मुग्ध हो जाते थे। जिसने उनको देखा

अभ्यास के फलस्वरूप सिद्धिलाभ और ज्ञान लाभ।

में वर्तमान समय में उनकी तरह साहसी दृढ़काय वलिष्ट और तेजस्वी पुरुष विरले ही दिखाई पड़ते हैं।

असाधारण अध्यवसायी पुरुष महात्मा स्वर्गीय विजय कृष्ण गोस्वामी ने अपने शिष्यों और जिज्ञासु भक्तों के सामने कितनी ही बार इस अभ्यास की शक्ति की बातें प्रकट की हैं। उनके अपने जीवन में भी इस अभ्यास ने कैसा प्रभाव बढ़ा दिया था, बहुत दिनों का अभ्यास परित्याग करने में उनको कितना कष्ट उठाना पड़ा था—यह बात कितनी ही बार उन्होंने अपने ही मुख से स्वीकार की है। इस महात्मा की अपूर्व भगवद्भक्ति और सुदृढ़ विश्वास ने कितने उन्मार्गगामी नास्तिकों को धर्ममार्ग में लौटा दिया है यह याद पड़ने से हृदय कृतज्ञता से पूर्ण हो उठता है।

काशी के सुविख्यात परमहंस स्वर्गीय भास्करानन्द स्वामी से एक मनुष्य ने पूछा—"आप इस प्रचण्ड जाड़े में किस तरह अनावृत शरीर से रहने में समर्थ हुए हैं? हम लोग इतने जाड़े के कपड़ा से शरीर ढककर भी सिहरते हुए मर रहे हैं।" उत्तर में उन्होंने कहा था—"इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है, तुम लोग भी सह सकोगे, और किसी किसी अंश में मैं देख रहा हूँ तुम लोग भी सह रहे हो।" आश्चर्य में पड़कर प्रश्नकर्त्ता ने पूछा—"कहाँ, हमलोग किस जगह सह रहे हैं? हमलोग तो बिलकुल ही सह नहीं सकते।" स्वामी जी ने कहा—"देखो, शरीर के सभी स्थान तो तुम लोगो ने ओढ़ने से ढक नहीं रखे हैं, यह मुँह तो खुला पड़ा है, हाथ की अँगुलियाँ खुली हुई हैं, वे सब तो शीत का प्रकोप सहने में अभ्यस्त हो गये हैं।

अभ्यास के फलस्वरुप सहनशीलता।

तुम लोग, शायद अनजान में ही किसी एक अंग को शीत सहन करने के लिए अभ्यस्त बना दिया है, मैंने चेष्टा और अभ्यास द्वारा सर्वाङ्ग में शीत सहने का अभ्यास कर लिया है। इसमें आश्चर्य में पड़ने का कोई कारण नहीं है, सबही अभ्यास का फल है।"

कोई कोई तर्क करते हैं आजकज साधना करके कोई सिद्धिलाभ नहीं कर सकता। योगाभ्यास प्रभृति कठोर साधनाएँ आजकल के दिनों में चलने वाली नहीं हैं। पूर्वकाल में मुनि-ऋषियों की सामर्थ्य इनमें थी, वर्तमान युग के क्षीण प्राण मनुष्यों के लिए योगादि अभ्यास विडम्बना मात्र है। किन्तु वे लोग शायद जानते नहीं हैं कि इस घोर कलिकाल में भी कोई कोई अभ्यास और प्रयत्न के फलस्वरूप ज्ञान और योग के चरम शिखर पर चढ़ गये हैं। काशी के सुप्रसिद्ध राजयोगी स्वर्गीय श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय गृहस्थ ही थे। अधिक लिखना-पढ़ना भी सीखा था, ऐसी बात भी नहीं है। किन्तु देश विख्यात बहुश्रुत पण्डितगण भी उनके शास्त्र-ज्ञान का परिचय पाकर विस्मयाभिभूत हो जाते थे। न पढ़ने पर भी उनका सर्वशास्त्रों पर अधिकार था। दर्शन शास्त्र के जटिल तत्त्वों को अति सहज में लोगों को हृदयङ्गम करा सकते थे। केवल यही नहीं, सभी अनैक्यों के बीच एक अविरोधी ऐक्य का पता उनको लग गया था। सभी शास्त्रों के सूक्ष्म और आध्यात्मिक भावों का सुन्दर विश्लेषण उनके गभीर आध्यात्मिक ज्ञान का परिचय देता था। सुप्रसिद्ध चिकित्सक गण भी उनका शरीर सम्बन्धी और भेषज सम्बन्धी ज्ञान देखकर मुग्ध हो जाते थे। जिसने उनको देखा

अभ्यास के फलस्वरूप सिद्धिलाभ और ज्ञान लाभ।

है वही जानता है, कि वृद्धावस्था में भी उनका शरीर उनकी आँखें और उनका मुँह क्या ही सुन्दर प्रतिभा मण्डित और ज्योतिपूर्ण था। संसार की विविध विचित्र घटनाओं के बीच भी उनका प्रशान्त आनन्द भाव, चित्त का स्थैर्य, सुख-दुःख में सम भाव, बाहर के घात-प्रतिघात में उदासीनता, पलकहीन दृष्टि और ज्ञान की उज्ज्वलता क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या पण्डित, क्या मूर्ख, क्या संन्यासी, क्या गृही जो कोई भी उनके पास आता था उनको ही मन्त्र मुग्धवना रखती थी। वह स्वल्पभाषी गम्भीर ज्ञानी पुरुष अपने में आप ही मग्न रहा करते थे। निरवच्छिन्न ध्यान समाहित चित्त संसार के सुख दुःख, भाव अभाव में किसी तरह भी विचलित नहीं होता था। राजर्षि जनक की तरह संसार में रहते हुए भी वे संसार के दूसरे पार पहुँच गये थे। बाहर या लोक समाज में उनकी कोई ऐसी प्रतिष्ठा ही नहीं थी जरूर, किन्तु वे जिस धन से धनी थे, उसके सामने पार्थिव श्रेष्ठतम पद भी नगण्य मात्र था। पार्थिव सम्पत्ति या सम्मान-प्रतिष्ठा उनके उस उच्चासन को स्पर्श करके कभी कलंकित न कर सकी थी।

योगाभ्यास के बल से ऐसा असाधारण योगैश्वर्य उन्होंने प्राप्त कर लिया था कि, उनके निकट राजमुकुट भी अति तुच्छ रूप में विवेचित होता था! उनकी कृपा पाने की आशा से कितने पण्डित, कितने ज्ञानी, कितने ब्रह्मचारी, कितने दण्डी, कितने गृही, कितने त्यागी, कितने धनी, और कितने दरिद्र प्रति दिन झुण्ड के झुण्ड में उनके पास जा पहुँचते थे, किन्तु सभी उनसे यथायोग्य सम्मान और श्रद्धा पाकर चले जाते थे, कोई यह नहीं कह सकते कि उन्होंने कभी किसी की भी अश्रद्धा या अवहेला की थी। उनकी समस्त

शक्ति, समस्त प्रतिभा ऐसे एक विनय से आच्छादित रहती थी कि, विशेष अनुसन्धित्सु व्यक्ति के अतिरिक्त कोई भी उसे पकड़ नहीं सकता था। उनके परिजन और अनुरागी लोगों में सभी उनकी यह महिमा सम्यक् समझ सके थे या नहीं मैं नहीं जानता। क्योंकि उनका कोई बाह्य आडम्बर, लोगों के लिए दिखावे का कोई चालचलन या कपट वेशभूषा नहीं थी। किसी तरह का बाह्य आडम्बर या मिथ्याचार वे बिलकुल ही पसन्द नहीं करते थे। अत्यन्त प्रयोजन न मालूम होने पर किसी के किसी कार्य का वे कभी प्रतिवाद नहीं करते थे। बहुत बातें बोल ही नहीं सकते थे। बातें क्या कहूँ 'मुनिः संलीन मानसः'—जिस राज्य में उनका मन विचरण करता था उस राज्य की बातें वचनों से समझाने योग्य नहीं हैं। वह अवस्था निज अनुभवानन्द स्वरूप है। लोग जब पाखण्ड करते थे, झूठी सजावट बनावट से लोगों को भुलावे में डालने की चेष्टा करते थे, तब उन लोगों के बालकोचित भाव देखकर कभी कभी जरा हँस पड़ते थे और कहते थे ये लोग ऐसे मूर्ख हैं कि भगवान् को भी ठगना चाहते हैं। उनकी निन्दा करने पर भी कभी प्रतिवाद नहीं करते थे, बड़ाई करने पर भी अनुमोदन नहीं करते थे। यदि कभी क्षोभ प्रकट करते थे तो केवल इसीलिए कि ये अबोध मनुष्य अपना अमूल्य समय व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं, समय का मूल्य कितना है और इस समय के अन्दर प्रयत्न करने से मनुष्य कितना लाभवान हो सकता है, यह न समझ कर अभागे स्त्री-पुरुष निरर्थक बातों और परचर्चा में समय नष्ट करते हैं। वे कहा करते थे कि, जो समय हमारे हाथ में है, उसका यदि सद्व्यवहार किया जाय, तो इस लोक में ही लोग मुक्ति का आस्वाद पा सकते हैं। लोगों का

उस तरफ चित्ताकर्षण करने के लिए कितनी ही बार कितने ही लोगों के सामने हाथ जोड़ कर उन्होंने कातरता दिखायी थी। मानो इन सब मोहमुग्ध लोगों की दुर्दशा देख कर उनका करुण प्राण व्यथित हो उठता था। ऐसे निरभिमान पुरुष थे कि, एक दिन उनके एक शिष्य ने उनसे कहा—"महाशय, अमुक व्यक्ति आपकी बड़ी निन्दा करता है, सुनते से बड़ा कष्ट होता है,"—महापुरुष ने उसी क्षण उत्तर दिया—'आप भी उस बात का समर्थन कर सकते थे, एकही बात में सब खतम हो जाता, व्यर्थ बातें बढ़ाने से लाभ क्या है? कौन किसको क्या कह रहा है उन सब बातों का खयाल न करके प्राणपण से यत्नपूर्वक साधना करते चलिये, इससे जीवन कृतार्थ हो जायगा।' उनकी कोटि के श्रेष्ठ साधक गण स्वभावतः ही अभिमान, यश या लक्ष्मी, किसी से भी आसक्त नहीं होते, सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी इन लोगों को कोई क्षोभ नहीं होता, क्योंकि साधन-प्रभाव से महासागर की तरंग-राशि की तरह उन्होंने संसार वासनाओं को अतिक्रम करने की उपयुक्त शक्ति प्राप्त कर ली थी। आज कितने दिन बीत चुके (१८९५ ई० में शारदीय महापूजा की महाष्टमी के दिन) उनके देह शरीर का अवसान हो गया, किन्तु अब तक भी उनके चित्त के प्रशान्त आनन्दमय भाव ने, सुख दुःख में एक रूप स्थिर गम्भीर भाव ने उनके अनुरागी वर्ग की स्मृति को आनन्द रस से अभिसिञ्चित कर रखा है।

पूर्व पूर्व युगों के व्यास, वशिष्ठ, वाल्मीकि, कपिल मन्वादि श्रेष्ठ मुनि ऋषिगण सभी पुरुषकार के पक्षपाती थे। अपेक्षाकृत आधुनिक लोगों में भी बुद्धदेव, शङ्कराचार्य प्रभृति असामान्य धीसम्पन्न लब्धप्रतिष्ठ पुरुषों ने पुरुषकार ही ग्रहण करने को कहा है। अत्यन्त आधुनिक राजा राम

मोहन राय हैं, जिन्होंने वर्तमान युग का स्वस्तिवाचन किया है, उनके समस्त कार्यादि पर्यालोचना करने से वे पुरुषकार की प्रतिमूर्ति के रूप में ही प्रतीत होते हैं। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, प्रातःस्मरणीय विद्यासागर महाशय, ऋषिकल्प भूदेव चन्द्र मुखोपाध्याय, अमर बङ्किमचन्द्र, विवेकानन्द प्रभृति श्रेष्ठ मनीषिगण पुरुषकार के प्रभाव से ही प्रसिद्धि प्राप्त कर गये हैं। और भी अनेक लोगों के नाम लिये जा सकते हैं, जैसे कृष्णदास पाल, डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार प्रभृति—ये लोग साधारण अवस्था से पुरुषकार के प्रभाव से ही समाज में शीर्ष स्थान अधिकार करने में समर्थ हुए थे। इनमें से सभी के बारे में लिखने से स्थान न मिलेगा। यहाँ पूज्यपाद भूदेव चन्द्र के सम्बन्ध में ही दो एक बात बताने की चेष्टा कर रहा हूँ। भूदेव बाबू आनुष्ठानिक ब्राह्मण पण्डित के घर के लड़के थे। उनके माता-पिता दोनों ही निष्ठावान् हिन्दू थे। इस दरिद्र किन्तु शुद्ध ब्राह्मण पण्डित के लड़के जब अंग्रेजी विद्या में सम्यक् पारदर्शी होकर शिक्षा-विभाग में उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे, तब भी ब्राह्मणोचित रीति-नीति के एकान्त पक्षपाती थे। आजकल प्रायः ही देखता हूँ, जो कुछ मोटे वेतन की नौकरी पर हैं, वे आहार में परिच्छद में तो साहब का ठाट बना ही लेते हैं, उसके अतिरिक्त हिन्दू के आचार-विचार, धर्म मानकर चलना बहुत आवश्यक नहीं समझते; किन्तु इस देवविश्रुत पुरुष ने कार्य-क्षेत्र में साहब लोगों के साथ बेरोक टोक मिलते हुए भी पहले के प्राचीन पन्थ का अनुसरण करने में कभी लज्जा अनुभव नहीं किया। किन्तु इनके समसामयिक सहपाठियों में से बहुतेरे ही उच्छृङ्खल हो गये थे।

भारतवर्ष के अतीत और वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ मनीषिगण पुरुषकार के पक्षपाती हैं।

इसका एक मात्र कारण यह है कि स्वदेश की प्राचीन रीति-नीति, शास्त्र और ऋषियों के प्रति श्रद्धाभाव जन्म काल से ही रहने के कारण, और बाल्यकाल के अभ्यास और संस्कार उनके इतने प्रबल थे कि, उच्च विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन और उच्च पद कुछ भी उनको इन सबसे भ्रष्ट न कर सका।

श्री युक्त गौरीपद चक्रवर्ती।

परम भागवत श्रद्धास्पद पण्डित श्रीयुक्त गौरीपद चक्रवर्ती एक आदर्श विनयी स्वधर्मनिष्ठ भक्तिमान पुरुष थे। क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या स्त्रियों यहाँ तक कि भृत्यों के सामने भी उन्होंने कभी अविनय या औद्धत्य प्रदर्शन किया था या नहीं इसमें सन्देह है। उनका स्वभाव ऐसा मधुर था कि, जिन्होंने कभी उनका सङ्ग किया है, वे ही मोहित हो गये हैं और उनको विनय गुण का आधार कह कर स्वीकार किया है। आप एक पेनशन प्राप्त पदस्थ पुलिस कर्मचारी थे। मैंने देखा है एक साधारण कान्स्टेबिल के साथ भी वे कभी असम्मान के साथ बातचीत नहीं करते थे। अति साधारण मनुष्य होने पर भी वे उनके साथ भद्रोचित व्यवहार करने में कभी कुण्ठित हुए हैं ऐसा मालूम नहीं होता। मैंने सुना है नयी उम्र में भी उन्होंने कभी किसी के साथ अभद्र व्यवहार नहीं किया। वास्तव में बाल्य-

थे। कई वर्ष हुए वे भक्तिलभ्य दिव्यधाम को चले गये हैं। ऐसा प्रेमनिष्ठ भक्ति विगलित चित्त मनुष्य जीवन में मैंने कम ही देखे हैं। तो भी कैसा सुदृढ़ पौरुष उनमें विद्यमान था। एक ही साथ इन दोनों गुणों के मिलन से उनके जीवन ने एक अपूर्व शोभा धारण कर ली थी। उनके सुदीर्घ जीवन की कार्यावली समालोचना करने से मन में बहुत ही आशा का संचार हो जाता है। वह गृहस्थ होते हुए भी दृढ़ भक्ति विश्वास और ज्ञान में क्या ही सुमेरु की तरह अटल थे।

श्रीयुत द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर।

ऋषिकल्प पूज्यपाद द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर महाशय का पवित्र जीवन भी एक सदभ्यास का उज्ज्वल उदाहरण स्थल है। उनका सारा जीवन तत्वालोचना और गभीर दर्शन शास्त्र के जटिल तत्त्वों की मीमांसा में लिप्त रहा, इसीलिए संसार की विविध भोगवासनाएँ, छल, चातुरी और दुश्चिन्ताएँ उनके ज्ञान-प्राचीर के सुदृढ़ वेष्टन को अतिक्रम करके किसी दिन भी उनके चित्त को अभिभूत न कर सकीं। संसार का कोई भी जंजाल उस चित्त में रह सकता है यह उनको देखने से किसी तरह भी नहीं मालूम होता था। वृद्धावस्था में भी उनका चरित्र शिशु की तरह सरल और ज्ञानोद्भासित था। एक माधुर्य उनके समस्त मुखमण्डल पर दीप्यमान रहता था। ज्ञानालोचना में दीर्घजीवन का अधिकांश समय व्यतीत होने के कारण ही संसार के अन्य विषय दृढ़ भाव से उनको अभ्यस्त न हो सके थे, इसलिए उनके चरित्र में विषयों का कोई दाग पुढ़ न सका। इस महान् चरित्रवान् पुरुष से हमें विशेष शिक्षा का विषय यह मिलता है—कि जीवन के प्रारम्भ काल से चित्त-गति को जिस तरफ घुमा रखने का अभ्यास किया

जायगा, वही अभ्यासशक्ति ही उसके जीवन को तदभिमुखी रखने को वाध्य करेगी और धीरे धीरे अभ्यास स्वभाव में परिणत हो जायगा। इसके अतिरिक्त ऐश्वर्य के बीच लालित होने पर भी मनुष्य सदभ्यास के बल से किस हद तक सत् और सुन्दर हो सकता है यह भी इस महात्मा के जीवन में पूर्ण परिस्फुट है। उनके साथ वार्तालाप करने से, दो दण्ड उनके पास बैठे रहने से, उनके सरल प्राण की सच्ची बातें सुनने से, और वह देशविश्रुत प्राण परिपूर्ण शिशु की भाँति सरल हँसी सुनने से मालूम होता था मानो अतीत युग के तपोवन में किसी ऋषि के पास ही बैठा हुआ हू।

श्रीमत शिवनारायण—इन जीवनियों के प्रसंग में इस महात्मा के जीवन चरित्र का उल्लेख करना भी आवश्यक समझता हू। परमहंस महाराज ने निर्विरोधी सन्यासी होते हुए भी, लोककल्याणार्थ आजीवन चेष्टा और यत्न करने में त्रुटि नहीं की। अपने जीवन को उन्होंने सुमहती साधना द्वारा दृढ़ और उज्ज्वल बना दिया था और जीवन के जिस महान् लक्ष्य को वे साधनलब्ध अन्तर्दृष्टि के प्रभाव से उपलब्धि करने में समर्थ हुए थे, उसे वे उच्च स्वर से सब के लिए घोषणा कर गये हैं। उनकी वाणी और विश्वास में जो एक प्रचण्ड बल था उसे कोई थोड़ी सी तपस्या द्वारा नहीं पा सकता। उन्होंने जिस वस्तु को प्राप्त किया था, जीवन के अन्तिम दिन तक किसी घटना ने उससे उनको स्खलित नहीं किया—यह साधारण अभ्यास का फल नहीं है। उनकी साधना के सम्बन्ध में ज्योति रचयित्री श्रद्धास्पदा श्रीमती हेमलतादेवी ने मेरे पास जो बातें लिख भेजी थीं उन्हें मैं पूरा यहाँ उद्धृत कर रहा हूँः—

"स्वर्गीय परमहंस शिवनारायण स्वामी ने देश के पश्चिम भाग में ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में और कोई विवरण मालूम नहीं हुआ है। बाल्यकाल में उनके पिता ने ओंकार मन्त्र उच्चारण पूर्वक सविता के तेज का ध्यान करने का उपदेश दिया था और आन्तरिक प्रेरणा से अर्थात् स्वाभाविक अनुराग से वह अत्यन्त यत्न से इसमें प्रवृत्त होकर आर्य जाति के तपस्यालब्ध सत्य के सारज्ञान में पहुँच कर परमानन्द के अधिकारी हो गये थे।

इस प्रकाशमान तेजोमण्डल में परमपुरुष की ध्यान धारणा से उनके हृदय में, समूचा विश्व एक अखण्ड योग में प्रतीयमान हुआ था, और उस परमपुरुष की ही प्रेरणा से उन्होंने इस महासत्य को सम्पूर्ण रूप से आवरणमुक्त करके, विशुद्ध मूर्ति में, अब विश्व के सम्मुख उद्घाटित कर गये हैं, उन्होंने दिखाया है कि हिन्दू जाति का मूल धर्म, समग्र मनुष्यजाति को आलिङ्गन करने, समस्त विश्व के साथ एकान्त भाव से मिलित होने का अधिकार रखता है; और समग्र जगत् का सार सत्य इस तपस्यालब्ध आनन्द में ही निहित है।

स्वामी जी ने अग्निकार्य करने का आदेश दिया है और ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक स्त्री-पुरुष मनुष्य मात्र को ही इसमें समभाव से अधिकार है यह बात बारंबार मुक्तकंठ से उन्होंने घोषणा की है—इससे सभी मनुष्यों के प्रति समभाव उदय होता है और अग्निकार्य से अन्तःकरण ग्लानि शून्य होकर विशुद्धता प्राप्त करता है। जो प्रकाश अप्रकाश अर्थात् आलोक-अन्धकार को लिये हुए प्रत्यक्ष विराजमान हैं उनको प्रकाश अप्रकाश या आलोक-अन्धकरा

के योग से, प्रत्यक्ष करने से, अन्तर और बाहर परम शान्ति से भासमान हो जाता है यही उनकी अन्तिम बात है।

जो लोग परमात्मा के मानस दर्शन से प्रीतिपूर्वक इस साधना में लग जायँगे वे आशा, तृष्णा, लोभ, लालसा इत्यादि के सभी बन्धनों से मुक्ति पाकर शान्ति स्वरूप परमानन्द के अधिकारी हो जायँगे। यह उन्होंने एकान्त दृढ़ता के साथ विशेष रूप से उल्लेख किया है।

परमहंस शिवनारायण स्वामी अति अल्प काल पहले शरीर धारण करके पृथ्वी में विद्यमान थे। वर्तमान काल के बहुत से लोगों ने उनको देखा है किन्तु बहुत थोड़े ही से लोग आत्मा के प्रति उनके हृदय का असाधारण प्रेम उपलब्धि कर सके थे। जिन्होंने एकबार उसका अनुभव किया उन्हें फिर उसे भूल जाने का कोई उपाय नहीं है।

श्रीयुक्त हरिप्रसन्न मुखोपाध्याय—भागलपुर टी० एन० जुबिली कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री युक्त पण्डितप्रवर हरिप्रसन्न मुखोपाध्याय महाशय की भाँति निरहंकार सत्यनिष्ठ व्यक्ति बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं। उनको देखने से या उनसे बातचीत करने से यह समझ में भी नहीं आता था कि वे एक विचक्षण पण्डित हैं। प्रभूत पाण्डित्य को विनय के आवरण से छिपाकर वे इस ससार के सुख दुःख का बोझ यथार्थ भक्त की तरह चुपचाप ढोते हुए चल रहे थे, इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं थी। यह उनके सुदृढ़ अनुशीलन का फल था। कुछ ही वर्ष हुए इन महानुभाव पुरुष का देहावसान हो गया।

स्वर्गीय यतीन्द्रनाथ विश्वास—मेरे आत्मप्रतिम मित्र

स्वर्गीय यतीन्द्रनाथ विश्वास बाल्य काल और कैशोर अवस्था में अत्यन्त चंचल थे। दुष्टता, मारपीट, झगड़ा किये बिना वे रह नहीं सकते थे। ऐसा दिन नहीं जाता था कि इसके लिए वे विद्यालय में सजा नहीं पाते थे। देखने से मुझे बहुत कष्ट होता था, क्योंकि यतीन्द्रनाथ दुष्ट होने पर भी बहुत ही बुद्धिमान मेधावी बालक थे। लिखने पढ़ने में भी वे अपने क्लास में सर्वश्रेष्ठ थे। किन्तु इस तरह कुकर्मनिरत रहने से शायद अधिक दिन उनकी प्रतिभा समुज्वल रहती या नहीं इसमें सन्देह था। किन्तु भगवान् की इच्छा से उनकी मति का परिवर्तन हो गया, वे अपनी सङ्कटापन्न अवस्था को बात शीघ्र ही समझ गये। साथ ही साथ वे एक दृढ़ अभ्यास साधन करने लगे, जिससे एक वर्ष के अन्दर ही उनका अचिन्तित परिवर्तन देख कर सभी लोग आश्चर्य में पड़ने लगे। उनकी साधना सचमुच ही प्रशंसा योग्य थी। इसी समय से वे प्रवृत्ति के साथ प्रबल संग्राम में प्रवृत्त हो गये। उन दिनों कितनी ही रात्रियाँ उनकी अनिद्रा में बीत गयीं। प्राणान्तकर कष्ट होता रहता था, प्रलोभन की वस्तु निकट ही रहती थी, तो भी प्रवृत्ति के साथ में आत्मसमर्पण करने में एकान्त अनिच्छुक थे। दैवदुर्विपाक से पूर्वाभ्यास के प्रबल वेग से जिस दिन पराजित हो जाते थे, उस दिन उनकी अश्रुधारा से वक्षस्थल अभिसिञ्चित हो जाता था। उनके मुँह पर कोई हँसी नहीं देखता था। जो कुछ समय पहले अत्यन्त दुरन्त, असहिष्णु और वाचाल थे, वही यतीन्द्रनाथ अभ्यास के प्रभाव से शीघ्र ही अचञ्चल, सहिष्णु, मौनी और गम्भीर हो गये। उनके सहपाठी इष्ट मित्रगण अवाक् हो गये। वह चपलता, वह औद्धत्य कहाँ चला गया—आज किसके चरण पद्म पर उसका

समस्त चित्त भूलुंठित होकर प्रणत होने के लिए व्याकुल हो गया है। किस अपार्थिव लोभनीय वस्तु के निमित्त उसका चित्त आज समग्र जगत् के प्रति उदासीन बन गया है। कितने दिनों से चुपके चुपके वह अपने आप को तैयार कर रहा था, लोगों को उसे समझने का अवकाश तक नहीं मिला था। कष्ट सहने का अभ्यास इतना अधिक हो गया था कि भोजनालय में बहुत दिनों से रसोइया और नौकर नहीं है, तो वे पानी लाने से लेकर घर की सफाई करने तक सभी काम अपने ही हाथ से करते थे, फिर भी इसके लिए किसी ने किसी दिन उनका चेहरा अप्रसन्न नहीं देखा। आज कितने दिन बीत गये, यतीन्द्रनाथ इस मृत्युलोक को छोड़ कर चले गये हैं, किन्तु उनकी सुमधुर स्मृति, सदाभ्यास से उज्ज्वल बनाया हुआ दृढ़ चरित्र, आज तक भी हम लोग भूल नहीं सके हैं।

प्रफुल्ल नाथ मजूमदार।

मेरे सहोदरकल्प मित्र स्वर्गीय प्रफुल्लनाथ मजूमदार जीवन में जिस दिन समझ सके कि ब्रह्मचर्य विहीन होने से ही हम लोगों की इतनी दुर्दशा हो गयी है, उसी दिन से वे अपने को नियमित करने के लिए कृत सकल्प हो गये थे। कुछ प्रवञ्चकों ने मित्रों के वेश में उनको विपथगामी करने की चेष्टा की थी, किन्तु उन्हें वे लोग विशेष विपद्म न कर सके। उसी दिन से उनके मन में धारणा पैदा हो गयी कि केवल अपनी रक्षा करने से काम न चलेगा, सहपाठी इष्ट मित्रों की मतिगति परिवर्तित न कर सकने से वर्तमान अधःपतन से इस स्वजाति का उद्धार कर सकना असम्भव है। इसीलिए वह जीवन के व्रत रूप में और आध्यात्मिक उन्नति के

लिए एकान्त आग्रह के साथ ब्रह्मचर्य का उपदेश देते थे। केवल उपदेश देकर ही चुप नहीं रहते थे, जिससे उनके उपदेश कार्यरूप में परिणित हो जायँ उसके लिए विशेष सतर्क दृष्टि रखते थे। अवश्य ही उनका पवित्र और उन्नत चरित्र ही अनेक परिमाणों में युवकों को आकर्षित करता था। वे केवल वाक्यवीर ही नहीं थे। उनके कार्यों, जीवन और चिन्ता में ऐसा मेल था कि लोग उनकी उपेक्षा न कर सकते थे। स्वयं प्रति दिन अन्तिम रात्रि में जागकर शौचादि समाप्त करने के बाद स्नान सन्ध्या वन्दना पूरी करके, अध्ययन में लग जाते थे, फिर मध्याह्न में स्नान-संध्या, और सायंकाल स्नान-संध्या करते थे। उनका शरीर खूब बलिष्ठ था। हृदय इतनी करुणा से पूर्ण था कि कोई अस्पृश्य नीच जाति के भी विपत्तिग्रस्त हो जाने पर उसको सहायता करने में कभी घृणा अनुभव नहीं करते थे। जहाँ दुष्कर्मकारी लोग अपने दुष्कर्मों के भार से प्रपीड़ित रहते थे, उनको सदुपदेश देकर प्रफुल्लनाथ शान्त करते थे; जहाँ दारिद्र्य रहता था, वहाँ ही प्रफुल्लनाथ अपनी कौड़ी तक भी खर्च कर डालते थे, जहाँ कोई अनाथ या अनाथा आश्रय के अभाव से कष्ट भोगती रहती थी, प्रफुल्लनाथ का सकरुण दृष्टिपात उसपर अवश्य ही हो जाता था। एक तरफ बलिष्ठ शरीर उच्च अन्तःकरण और ज्ञान की उज्ज्वलता थी दूसरी तरफ कठोर परिश्रमी कर्मी थे, एक तरफ प्रेम पूर्ण हृदय था - दूसरी तरफ कठोर कर्त्तव्यनिष्ठा थी, इस सब ने उनके चरित्र और जीवन को क्या ही मधुमय बना दिया था। प्रफुल्लनाथ ने कितने उच्छृङ्खल नवीन युवकों को महाविनाश से बचाया है, इसे स्मरण करने से हृदय कृतज्ञता से परिपूर्ण हो उठता है। वे अपनी चेष्टा से अपने

जीवन-पुष्प को देवपूजा के उपयुक्त बना कर यथार्थ देवता बन गये हैं—उनको देखने से पुरुषकार की मानो सजीव प्रतिमूर्ति की ही प्रतीति होती थी। वे कितनी ही कठोर-ब्राह्मणोचित नियम-निष्ठाओं का आचरण करते थे, अध्ययन और लोकहितकर कार्य करते थे, किन्तु किसी दिन उनका शरीर पीड़ित और अस्वस्थ नहीं होता था। अभ्यासबल से ये सब कठोरताएँ उनकी प्रकृतिगत हो गयी थीं। अब वे किसी अदृश्य सुरपुर में शान्ति सुख अनुभव कर रहे हैं, किन्तु आज भी उनके मित्र और सुहृदगण तथा संगी-साथी उनकी पवित्र स्मृति वक्ष में ढोते हुए प्रतिदिन प्रेमाश्रु और भक्ति अर्घ्य द्वारा उनके वरणीय चरित्र की पूजा करके कृतार्थ हो रहे हैं।

भोजन में असाधारण संयम।

स्वर्गीय परमहंस स्वामी दयालदास जी (श्रीकृष्णानन्द स्वामी के गुरु) के एक शिष्य हैं, उनको सभी योगी जी महाराज के नाम से पुकारते हैं, वे खूब वृद्ध हैं, अभी तक शायद जीवित हैं। मैंने सुना है उन्होंने आहार त्याग दिया है। दस पन्द्रह दिनों के अन्तर में साधारण कुछ भोजन कर लेते हैं। फिर उस वर्ष हरिद्वार कुम्भ मेला में जाकर मैंने उनको देखा था, वे एक महीने से अनाहार पड़े हुए थे, फिर भी शरीर उसके कारण जरा भी बलहीन नहीं हुआ था। आहार के सम्बन्ध में इतना संयम खूब सुदृढ़ अभ्यास का ही फल है

मेरे बाल्य मित्र श्रीयुक्त शौरीन्द्रमोहन गुप्त की माता, जिनको मैं जननी के रूप में ही मानता हूँ—जिनका स्नेह, जिनकी दया, तपस्या और ब्रह्मचर्य हिन्दू रमणी महिला मात्र के लिए अनुकरणीय है—उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से

सहन करने का गुण अभ्यास किया है। तीर्थ दर्शन के लिए पहाड़ पर चलते समय गाड़ी के उलट जाने से एक पैर टूट गया समूचे अंग में बहुत चोट लगी, तो भी धीरज नहीं टूटा। उत्कट शारीरिक पीड़ा बिना क्षोभ के सह लिया है कि देखने से आश्चर्य होता है। स्त्रियों का सहन करने का गुण बहुत कुछ स्वभावसिद्ध तो जरूर है किन्तु उनकी तरह सहन करने का गुण कदाचित् ही दिखाई पड़ता है। बहुत दिनों का अभ्यास रहने से भी किसी व्यक्ति का चित्त इतना दृढ़ और कष्ट सहिष्णु नहीं होता।

इस ग्रन्थ के इस संस्करण के समय वे भी जीवित नहीं हैं। सारे जीवन में जो ब्रह्मचर्य और तपोनिष्ठ थीं उसका अन्तिम फल वे मृत्यु काल में भी दिखा गयी हैं; रोग की तीव्र यातना भी उनको चिराभ्यस्त संयम से भ्रष्ट न कर सकी। उन्होंने जीवन के अन्तिम निःश्वास तक भगवत् नाम लेते लेते योगीजनोचित दिव्य धाम प्राप्त किया।

एक और आदर्श सहनशील और भगवत्‌निर्भर का उदाहरण दिये बिना मैं नहीं रह सकता। मेरे परम पूज्यपाद

स्वर्गीय कृष्णाराम ब्रह्मचारी।

मित्र स्वर्गीय कृष्णाराम ब्रह्मचारी काशी के राणा महल में चौसट्ठी घाट के निकट रहते थे। असाधारण धैर्य, सहन करने का गुण और भगवत् निर्भरता उनके चरित्र का विशेषत्व था। स्त्री-वियोग हो गया, होनहार ज्येष्ठ पुत्र काल के गाल में चला गया, तीसरा पुत्र ज्वर भोगते भोगते युवावस्था को पदार्पण करते न करते ही परलोक को चला गया, किन्तु इस तरफ उनका भ्रूक्षेप भी नहीं था। मातृहीन रुग्न-बालक की वे जैसी सेवा और यत्न करते थे, उसे देखकर मैं

सोचता था, इस बच्चे की मृत्यु के बाद कृष्णाराम अत्यन्त शोक पावेंगे। बच्चे की मृत्यु के बाद दूसरे दिन जाकर मैंने देखा मानो घर में कोई दुर्घटना ही नहीं हुई है—खूब शान्त और निश्चेष्ट थे। वही मधुर हास्यज्योति, वही स्निग्ध गाम्भीर्य चेहरे पर चारो तरफ फैल रहा था!

उनकी ऐसी अवस्था देखकर मैं धारणा ही न कर सका कि पीछली रात को उनके पुत्र का देहान्त हो चुका है, इसलिए मैंने पूछा की उनके पुत्र की क्या हालत है। उन्होंने प्रसन्न मुँह से उत्तर दिया "उसका काशीलाभ हो गया।" सुन कर मैं निर्वाक् निस्पन्द हो गया! उनकी आमदनी का कोई स्थायी ठिकाना नहीं था, तो भी पालन पोषण के लिए बहुतेरे थे; केवल यही नहीं, अतिथि अभ्यागतों का समागम भी बहुत ही होता था, किन्तु तो भी एक दिन के लिए भी किसी ने उनको उद्विग्न नहीं देखा। कभी कभी ऐसे अभावमें पड़ जाते थे कि दिन का खर्च चलाना कठिन हो जाता था, तो भी किसी से मांग कर मनुष्य को घबड़ाहट में नहीं डालते थे। पीछे चुकता न करने से मित्रों को कष्ट होगा, इसीलिए उनके सामने भी अपना अभाव प्रकट न करते थे। तो भी पता लगाकर उनके अभाव की बात जब हमलोग जान जाते थे, तब बहुत ही अनुरोध करने से वे हँस कर कहते थे—"न बनाने से भी जो जुटा कर दे रहे हैं, उनको कह कर क्या बताऊँ! वे नहीं जानते ऐसी बात तो नहीं है—प्रयोजन होने पर वे ही विधान करेंगे।" ऐसे वे आश्चर्यजनक मनुष्य थे, कितने ही लोग कितनी ही फरमाइशें उनको करते थे, कितने ही कामों का भार उनके कंधे पर डाल देते थे, वे कूली की तरह वे सब काम कुंठाविहीन चित्त से पूरा

कर देते थे, फिर भी कभी उनके लिए कुछ मांगते नहीं थे। पाने की आशा भी नहीं रखते थे। जो अपने विचार से जो कुछ दे देता था, उसे ही प्रसन्न चित्त से ले लेते थे, न देने से भी कोई क्षोभ नहीं रहता था। लोगों के कामकाज लेकर सारा दिन दौड़ धूप करते हुए घूमते रहते थे, कुछ कहने पर कहते थे—"महाराज, मुझे तो अपना कोई काम नहीं है, दूसरे लोग काम देते हैं तो मैं करने को वाध्य हूँ! मैं तो यों बैठा ही रहता!" परिचित अपरिचित सभी उनसे काम करा लेते थे, वे किसी दिन उसके लिए कोई आपत्ति नहीं करते थे। उनके घर में राधाकृष्ण की मूर्ति अनेक शालग्राम शिलाएँ और महादेव जी की भी स्थापना थी, इस कारण पूस, माघ महीने के कठोर जाड़े में भी प्रातःस्नान करके प्रायः नगे शरीर, भक्ति विगलित चित्त से पूजा-अर्चना करते थे। इतना अधिक अभाव था, तो भी इसके लिए कोई क्षोभ नहीं था। यदि घर में कुछ खाद्य वस्तु रहती थी, तो उसे भी पड़ोसियों,—इतर जाति के बच्चों में वितरण कर देते थे। मीठी वस्तुओं के लोभ से प्रति दिन ही बच्चे उनके दरवाजे के पास आकर भीड़ लगाते थे। वे लोग कितना ही हल्लागुल्ला उपद्रव करते थे, किन्तु उसके लिए कभी उनको कुढ़ते मैंने नहीं देखा। वे परम वैराग्यवान पुरुष थे। उनके चरित्र के किसी स्थान में दाग नहीं था। वैसे सरल, सबल, सहिष्णु और स्थिरचित्त थे। वैसे मनुष्य अब दिखाई नहीं पड़ते! एक अति वृद्ध गूंगे बहरे पुरुष को अनाहार से मृतप्राय देखकर गंगा के घाट से अपने घर उठा लाये। उनकी सेवा के प्रभाव से थोड़े दिनों में ही वह वृद्ध सतेज और सबल हो उठा। स्वस्थ हो जाने के बाद

अब भी मौजूद हैं। किन्तु कृष्णाराम की तरह उदार, त्यागी, भक्तिनिष्ठ प्रेमिक साधु पुरुष अब दिखाई नहीं पड़ता। कितने ही स्थानों में जा चुका हूँ, कितने ही तीर्थ देख चुका हूँ, किन्तु ऐसा धैर्यशील ऐसा मनुष्यत्व से परिपूर्ण सबल सुदृढ़ फिर भी मधुमिश्रित हृदय मैंने और कहीं नहीं देखा।

श्रीयुक्त राय वरदाकान्त लाहिड़ी महाशय का जीवन भी पुरुषकार का एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। बाल्यकाल में पारिवारिक अर्थ कष्ट देख कर जब वे समझ गये कि विद्या अर्जन करके आय वृद्धि न कर सकने से गृहस्थी का कष्ट दूर करना असम्भव है, तब वे विद्याभ्यास के लिए दृढ़ प्रयत्न करने लगे। किन्तु घर पर रहने से परिचित स्वजन इष्ट मित्रों में रहने से पढ़ाई में बाधा पहुँचेगी यह बात उनकी समझ में आ गयी, इसलिए वे किसी से कुछ भी न बता कर बिलकुल अकेले ही दिल्ली जा पहुँचे। उस समय उनकी इच्छा लाहौर जाने की थी, किन्तु तब रेल से जाने का रास्ता दिल्ली तक ही था। उस अवस्था में भी वे बहुत कष्ट सहकर लाहौर जा पहुँचे। वहाँ कोई आत्मीय नहीं था, मित्र नहीं था, वहाँ की भाषा भी वे समझते नहीं थे। इस हालत में एक सज्जन भले आदमी ने उनको अपने मकान में रख कर उनके अध्ययन का प्रबन्ध कर दिया। कुछ ही वर्षों में विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त करके वे कानून पढ़ने के लिये तैयार हो गये। कानून की परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके वे कार्य-क्षेत्र में प्रवेश कर गये। कानून के व्यवसाय में परिश्रम और अध्यवसाय के गुण से शीघ्र ही उन्होंने पंजाब के वकीलों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। उनकी

श्रीयुक्त राय वरदाकान्त लाहिड़ी

भी वह असहाय वृद्ध कृष्णारामजी के आश्रय में हीं रह गया। बीच बीच में उसका रोग, उदरामय, घर के अन्यान्य परिजन वर्ग को विरक्त कर देता था, किन्तु कृष्णाराम हँसी भरे चेहरे से उसका सब क्लेद साफ कर देते थे, एक दिन भी उसको कोई कड़ी बात नहीं कही! शायद बूढ़े पिता की भी लोग इतनी सेवा नहीं कर सकते। ऐसा ही सुन्दर उनका चरित्र था, पथ का पथिक भी, जिसने एक बार उनको देख लिया था, या उनके साथ एक बार भी जिसकी बातचीत हो चुकी थी, वह कभी उनके उस माधुर्य-विमण्डित हास्यपूर्ण मुखमण्डल को भूल न सकेगा। अस्खलित ब्रह्मचर्य के सजीव प्रमाण स्वरूप प्रौढ़ावस्था में भी उनका उज्ज्वल गौरवर्ण बलिष्ठ शरीर, युवकोचित लावण्य और श्रमपटुता सबके चित्तको आकर्षित करती थीं। उनकी गुरुभक्ति भी असाधारण थी। चरित्र का इतना सौन्दर्य, इतने गुण, कितने कष्ट से, कितने परिश्रम से प्राप्त करना पड़ा था, यह स्मरण करने से आश्चर्य में पड़े बिना रहा नहीं जा सकता। बाल्यकाल के उनके कितने ही संगी अब भी मौजूद हैं, तोभी वे कब कैसे नीरव साधना से सबकी अनजान में, अपने आपको इतनी दूरके ऊँचे स्थान में पहुँचाने में समर्थ हुए थे, अपना मनः प्राण विश्वदेवता के चरणों में अंजलि देने की सामर्थ्य प्राप्त कर चुके थे—यह हमलोगों में से कोई भी नहीं जानता, किन्तु उनकी अपूर्व सार्थकता की बात याद करने से उनके विराट तथा सुन्दर मनुष्यत्व के प्रति एक प्रगाढ़ श्रद्धा आ पहुँचती है और तर्क के बिना ही उनके सामने यह मस्तक झुका देने की इच्छा होती है। हाय! अब भी, वही काशी मौजूद है, कितने साधु-सज्जन सद् विद्वान यहाँ

अब भी मौजूद हैं; किन्तु कृष्णराम की तरह उदार, त्यागी, भक्तिनिष्ठ प्रेमिक साधु पुरुष अब दिखाई नहीं पड़ता। कितने ही स्थानों में जा चुका हूँ, कितने ही तीर्थ देख चुका हूँ, किन्तु ऐसा धैर्यशील ऐसा मनुष्यत्व से परिपूर्ण सबल सुदृढ़ फिर भी मधुमिश्रित हृदय मैंने और कहीं नहीं देखा।

श्रीयुक्त राय वरदाकान्त लाहिड़ी

श्रीयुक्त राय वरदाकान्त लाहिड़ी महाशय का जीवन भी पुरुषकार का एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। बाल्यकाल में पारिवारिक अर्थ कष्ट देख कर जब वे समझ गये कि विद्या अर्जन करके आय वृद्धि न कर सकने से गृहस्थी का कष्ट दूर करना असम्भव है, तब वे विद्याभ्यास के लिए दृढ़ प्रयत्न करने लगे। किन्तु घर पर रहने से परिचित स्वजन इष्ट मित्रों में रहने से पढ़ाई में बाधा पहुँचेगी यह बात उनकी समझ में आ गयी, इसलिए वे किसी से कुछ भी न बता कर बिलकुल अकेले ही दिल्ली जा पहुँचे। उस समय उनकी इच्छा लाहौर जाने की थी, किन्तु तब रेल से जाने का रास्ता दिल्ली तक ही था। उस अवस्था में भी वे बहुत कष्ट सहकर लाहौर जा पहुँचे। वहाँ कोई आत्मीय नहीं था, मित्र नहीं था, वहाँ की भाषा भी वे समझते नहीं थे। इस हालत में एक सज्जन भले आदमी ने उनको अपने मकान में रख कर उनके अध्ययन का प्रबन्ध कर दिया। कुछ ही वर्षों में विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त करके वे कानून पढ़ने के लिये तैयार हो गये। कानून की परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके वे कार्य-क्षेत्र में प्रवेश कर गये। कानून के व्यवसाय में परिश्रम और अध्यवसाय के गुण से शीघ्र ही उन्होंने पंजाब के वकीलों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। उनकी

कानूनी व्यवसाय में दक्षता और बुद्धि की प्रवीणता देखकर सभी लोग उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। पंजाब प्रान्त में फरीद कोट नामक एक सिख राज्य है, वहाँ के बूढ़े राजा के मृत्यु समय के अनुरोध वचन से बाध्य होकर, उनके पुत्र के राजत्व काल में उन्होंने वहाँ के प्रधान मंत्री का पद ग्रहण किया और वहाँ- सुख्याति के साथ दस-बारह वर्ष रहकर राज्य की सुव्यवस्था कर दी। अध्ययन काल में तथा व्यवसाय काल में ही उनका विशुद्ध चरित्रबल देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है। वृद्धावस्था में भी कभी उनको चुप चाप बैठे रहते मैंने नहीं देखा। कोई काम न रहने पर निरन्तर अध्ययन करने में उन्हें थकावट नहीं मालूम होती थी। किन्तु आलस्य में समय बिताना उनके लिए असम्भव था। इस प्रबल पुरुषकार के प्रभाव से सभी विरुद्ध अवस्थाओं को अतिक्रम करके वे आर्थिक और आध्यात्मिक सभी विषयों में यथोपयुक्त उन्नति के शिखर पर पहुँचे थे। चरित्र की इतनी दृढ़ता के बीच भी फिर अपूर्व कोमलता और बालकोचित सरल भाव सबके हृदय को मोहित करता था। कष्ट में पड़ कर, अभाव में पड़ कर कोई कभी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं हुआ। किसी कारण वश आप को अफीम खाने की आदत पड़ गयी थी। किन्तु जब उसकी अपकारिता आपने हृदयङ्गम कर ली, उसी दिन उसी क्षण आपने उसे छोड़ दिया। सभी ने आशङ्का की थी, कि अनेक दिन की पड़ी आदत हठात् वे छोड़ न सकेंगे, या छोड़ने से रोग ग्रस्त हो जायँगे, किन्तु अत्यन्त मानसिक बल रखने के कारण उन्होंने फिर कभी अफीम नहीं खायी, तो भी इसके कारण उनको रोगआदि नहीं हुए। यह कम दृढ़ता और पौरुष की बात नहीं है।

ये हमारे अनेक परिचित इष्ट-मित्रों में 'मुखुज्ये जी' के नाम से परिचित हैं। इनका मकान कहाँ है, क्या परिचय है हम लोगों में से बहुतों को ही विशेष कुछ मालूम नहीं है। लोग उनसे परिचय पूछते हैं तो ये कहते हैं—"मेरा नाम है आशुतोष मुखुज्ये, मकान है दुमका में" इसके अतिरिक्त और कुछ मैं ने नहीं सुना। उनको हम लोग तेरह-चोदह वर्षों से जानते हैं, बहुतेरे और भी अधिक दिन से जानते हैं। 'किन्तु नाम गोत्र हीन' यह मनुष्य एक असाधारण पुरुष हैं, पुरुषकार के ज्वलन्त दृष्टान्त गीतोक्त निष्काम कर्मयोगी हैं। उनका सुदीर्घ जीवनकाल परहित व्रत और पर दुःखमोचन में ही बीता है। भारत विश्रुत प्रातःस्मरणीय विद्यासागर जिस बात के लिए सर्वसाधारण में 'दया के सागर' नाम से प्रसिद्धि पा चुके थे, इस आडम्बर हीन, वेश भूषा विहीन महात्मा को भी मैं ठीक उसी पदवी से पुकार सकता हूँ, जो लोग उनको जानते हैं, उनके लिए मेरी यह बात अतिरंजित न मालूम होगी। हमारे ये मुखुज्ये जी एक मलिन कपड़ा पहिने, बगैर पानी का एक हुक्का हाथ में लिये भारत में सर्वत्र ही विचरण करते रहे हैं। किसी से सम्मान पाने की प्रत्याशा नहीं है, किसी मनुष्य से आर्थिक प्रत्याशा भी नहीं है, अतिमात्रा में उदासीन—तो भी सर्वदा ही उनको खूब व्यस्त मैंने देखा। कौन कहाँ बैठा हुआ है, आहार नहीं जुट रहा है, किसी का वेतन कम है इस कारण परिवार पालन करने में असमर्थ है, कोई विद्यार्थी है तो भी अर्थाभाव से लिखना-पढ़ना चल नहीं रहा है, किसी को औषध नहीं जुटती, किसी को पथ्य नहीं जुट रहा है—इन सभी असहाय और निराश्रय व्यक्तियों

श्री आशुतोष मुखोपाध्याय

को सुख शान्ति पहुँचाने के लिए वे सर्वदा घूमा फिरा करते। किसको पकड़ने से अमुक को विपत्ति से छुटकारा मिलेगा; किस तरह अमुक की सिफारिश जुटाने से इस दरिद्र युवक को अन्न का ठिकाना लग जायगा, दिन रात शायद उनको इसी की एक मात्र चिन्ता लगी रहती थी। केवल चिन्ता की ही बात नहीं थी; इन सब बातों को सचमुच ही कार्य रूप में परिणत कर देना उनके लिए असाधारण क्षमता की बात होती इस तरह का पौरुष उनमें प्रचुर परिमाण में दिखाई पड़ता। कभी देखता किसी कन्या-भार ग्रस्त विपन्न भले आदमी की लड़की के लिए घर ढूँढते हुए घूम रहे हैं, कभी देखता, ऋण के भार से जो डूब गया है, उसको ऋण मुक्त करने के लिए सुपरामर्श दे रहे हैं, कभी देखता किसी दरिद्र भले आदमी की स्त्री प्रबल रोग से पीड़ित है, उसके छोटे छोटे बच्चे बच्चियों के तत्वावधान के लिए कोई नहीं है, और उनके पास भी समय का अभाव है, फिर भी वैसी हालत में देखा गया है कि मुखुज्ये जी ने एक ही साथ माता, रसोईदार और रोगिणी की शुश्रूषा का भार ले लिया है। कर्मवीर को क्षणमात्र का विश्राम नहीं है, एक दिन के लिए आराम का ठिकाना नहीं है, यदि दस कोस पैदल जाने से कार्य होता है, तो मुखुज्ये जी हुक्का हाथ में लिए तुरन्त तैयार हैं! "कष्ट हो रहा है" या "अब मैं न कर सकूँगा" यह कह कर किसी दिन विरक्ति दिखाना नहीं जानते! जो काम सामने आ रहा है उसी को प्रणत अन्तः करण से सर्वदा प्रफुल्ल मुखसे ग्रहण कर रहे हैं। इतना कर्मोद्यम, इतना उत्साह! किन्तु विफलता के लिए कभी उनका धैर्य नहीं छूटता। दुःख में मुँह फुलाकर बैठे हुए हैं यह अवस्था

मैंने उनकी कमी नहीं देखी। संसार में कोई भी उनका द्वेष्य है यह तो मालूम ही नहीं होता। सभी के लिए सहानुभूति सभी के लिए अनुकम्पा ने उनके समस्त चित्त को वरणीय कर रखा है। कोई काम दो एक बार विफल होने से उस कार्य में स्वार्थ रहने पर भी फिर हम लोगों का उत्साह नहीं रहता, किन्तु उनका कोई स्वार्थ नहीं है, केवल दूसरों के लिए काम करते जा रहे हैं—फिर भी पुनः विफल मनोरथ हो कर भी वे निरुत्साहित होने के पात्र नहीं हैं। पुरुषकार का ऐसा उज्ज्वल दृष्टान्त, साथ ही ऐसे निरहंकार पुरुष वर्तमान समय में ढूँढ़कर पाना ही कठिन है। सुदीर्घ जीवन का अधिकांश काल इस तरह परहित व्रत में बिताकर, सब प्रकार के अभावों दु:खों और क्लेशों को स्वीकार करके, उनका कर्ममय जीवन मध्याह्न-तपन के शिखर पर लटक गया है। अब उनका देह शरीर भग्नप्राय हो गया है—तो भी चेहरे पर उस प्रसन्नता के चिह्न में कोई कमी नहीं हुई है। उनकी तरह निरभिमान लोकहितैषी पुरुष जिस देश में जन्म ग्रहण करते हैं, वह देश उनके चरणस्पर्श से धन्य हो जाता है। हम लोग जो उनका स्नेह पाने में समर्थ हुए हैं, इससे हम अपने को भाग्यवान समझते हैं। [कुछ थोड़े वर्ष हुए यह महात्मा भी अमरधाम को चले गये हैं। इनके अभाव से आज कितने लोग चुपचाप आँसू बहा रहे हैं, कितने ही लोग आश्रय हीन हो गये हैं इसकी संख्या नहीं है।]

बंगाल के सुप्रसिद्ध औपन्यासिक स्वर्गीय श्रीशचन्द्र मजूमदार का जीवन चरित्र भी अभ्यास के द्वारा उन्नति लाभ का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी सत्यवादिता, कर्तव्यनिष्ठा, स्वाधीनचित्तता, तेजस्विता, सबके प्रति प्रीति,

सुमधुर व्यवहार और ज्ञानानुराग जो देखता था वही मुग्ध हो जाता था। उनकी तरह अकृत्रिम सुहृद्, स्नेहमय आत्मीय, कर्तव्यनिष्ठ कर्मचारी, सदालापी सभासद, धर्मभीरु विचारक कदाचित् दिखाई पड़ता था। गुरुतर राजकर्म के सूत्र से तरह तरह के प्रलोभनों में उनको पड़ना पड़ा था। किन्तु किसी दिन लोभ के वशवर्ती हो कर वे कर्तव्य पथ से भ्रष्ट नहीं हुए। ऋण लेकर भी वे अपने विचार से पालन करने योग्य दूर सम्पर्कीय आत्मीयजनों का पालन करते थे, स्वयं जिस काम को कर्तव्य समझते थे प्रलोभन या भय प्रदर्शन से कदापि उससे च्युत नहीं होते थे। उनके सुमधुर स्नेहमय सविनय चरित्र के अन्दर एक न झुकने वाली दृढ़ता थी। अपमान या अविचार वे कदापि न सहते थे। इस कारण उनको अनेक बार अविवेचक क्षमतालोभी राजपुरुषों की विषदृष्टि में पड़ना पड़ा था, किन्तु किसी दिन स्वार्थ की तरफ देख कर उन्होंने अपनी मर्यादा बुद्धि को या कर्तव्य बुद्धि को कम नहीं किया।

चरित्र का यह महत्त्व और दृढ़त्व कठिन अभ्यास का फल है। वे अपने जीवन में अपने लड़के लड़कियों को अपने आदर्श के अनुसार शिक्षित बनाने की चेष्टा करते थे। मुझे आशा है उनकी वह चेष्टा कुछ अंशों में सफल हुई है।

साधु श्रीधर—एक और महात्मा की आख्यायिका न देने से यह चरितावली अधूरी रह जायगी। ये हैं भक्त श्रीधर—पूज्यपाद स्वर्गीय विजय कृष्ण गोस्वामी के एक शिष्य और भक्त। इनमें ऐसा एक तेज और धैर्य था, ऐसा एक विश्वास और निष्ठा थी, जिसे स्मरण करने से विस्मयाभिभूत होना पड़ता है। निरन्तर साधनाभ्यास से उन्होंने एक ऐसा चरित्रबल प्राप्त किया था, जो एक ईश्वर के

अतिरिक्त और किसी की भी परवा नहीं करता था। अवस्था चाहे जितनी ही क्यों न बिगड़ जाय, तथापि आवश्यकता के स्थान पर शरीर का एक मात्र कपड़ा भी दान करने में वे दुविधा न दिखलाते थे। जैसा विश्वास, वैसी ही दृढ़ता साथ ही विनय पूर्ण शान्तभाव इस महात्मा के मुख मण्डल पर नाचता रहता था। ऐसे सरल और सत्यवादी थे कि लोग कभी कभी उनको पागल समझने लगते थे। अपनी कोई त्रुटि अत्यन्त लज्जाजनक होने पर भी, उसे वे निर्भय होकर प्रकट कर देने में कुंठित नहीं होते थे। विशेष आध्यात्मिक बल और भगवद् विश्वास न रहने से कभी मनुष्य इतना सत्यमत नहीं हो सकता। वही पाप को छिपाता है जो विश्वतचक्षु भगवान् को नहीं मानता—वही छिपे तौर से पाप करता हुआ लोगों के सामने साधु बना रहता है जो लोकापवाद से डरता है किन्तु भगवान् से नहीं डरता। किन्तु सर्वत्र जो उनको अनुभव करता है, वह किसके सामने, कोई बात छिपावेगा? उनकी मृत्यु भी बड़ी सुन्दर और बहुत आश्चर्यजनक हुई। मृत्यु के कुछ पहले ही उनका शरीर कुछ खराब हुआ, कलकत्ते में चिकित्सा चल रही थी। उसके बाद सब लोगों को जान पड़ा कि वे क्रमश. ही अच्छे हो रहे हैं। तो भी उनके एक अन्तरङ्ग मित्र के परामर्श से फिर एक बार उनको डाक्टर से दिखाया गया। निश्चय हुआ कि वे और उनके मित्र दोनों ही दूसरे दिन प्रातःकाल डाक्टर के पास जायँगे। रात के समय अपने घर में सोये हुए थे, हठात् उनको मालूम हुआ कि उनका शरीर अस्वस्थ हो रहा है। जिनके मकान में रहते थे रात को उनको बुलवाकर बोले—"आज मेरा प्राणान्त होगा आप लोग यहाँ रहिये।" उपस्थित सभी ने समझा

यह उनका पागलपन है, इसलिए उनको समझाकर और कुछ भर्त्सना करके वे सभी सोने के कमरे में चले गये। फिर रात रहते उन लोगों को उन्होंने बुलवा भेजा और भगवान् के नाम सुनाने के लिए सभी से कातर स्वर से अनुरोध किया। उनकी उसी समय मृत्यु हो जायगी, यह बात कोई भी समझ न सका था, इसलिए उनलोगों ने उनकी बात पर ध्यान देने की अधिक आवश्यकता नहीं समझी। श्रीधर का अपूर्व साधुहृदय कोई समझ न सका, क्योंकि वे दरिद्र थे, और उनके सिर पर जटा भी नहीं थी, रंगीन कपड़े भी नहीं पहने थे। जो भी हो, जब कोई भी नहीं आया तब आसन्न समय पर आपही आप अपने हृदय-देवता को स्मरण करने लगे। उसके बाद किसी को देख कर मानो दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने प्रणाम किया फिर उठे नहीं। दीनों के बन्धु ने अपने उस दीन भक्त के शरीर से धूलि झाड़ कर उसको अपनी गोद में उठा लिया। प्रात:काल सभी ने श्रीधर के कमरे में जाकर विस्मय-विह्वल नेत्रों से देखा कि श्रीधर की प्राणवायु देह पिंजर छोड़कर वैकुंठ धाम को चली गयी है।

नंगटा या खाकी बाबा का नाम बहुतों ने सम्भवतः सुना होगा। बहुतों की धारणा है कि वे सिद्ध पुरुष थे। जो गांजा अधिक मात्रा में पीने से लोगों का मस्तिष्क विकृत हो उठता है, उसे दिनरात सेवन करते हुए भी वे स्वस्थ और सबल थे।

नगटा बाबा

खूब जबर्दस्त शराबी जितनी शराब एक ही बार पी जाता है वे उसका चार गुना पी कर भी विक्षिप्त नहीं होते थे ऐसा मैंने सुना है। फिर बहुत दिनों तक शायद थोड़ी भी नहीं पीते इससे कोई कष्ट नहीं होता था, अपनी आदतों के दास नहीं

थे। मन पर इतना आधिपत्य था। इस महात्मा का भी देहावसान हो गया है। जिस समय वे मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे मैं उनसे मिलने गया था। उनके लिए अपने साथ कुछ फल भी ले गया था। उनके अनुचरों ने मुझे उनके पास तक ही जाने नहीं दिया। बड़े कष्ट से मैं उनके पास जा पहुँचा, मैंने देखा पहले की वह कान्ति नहीं है। मुर्दे की तरह पड़े हुए हैं। मुँह पर शरीर पर मक्खियाँ भनभना रही हैं। देखकर बहुत ही दुःख हुआ। ऐसा कोई नहीं था जो जरा अच्छी तरह वहाँ शुश्रूषा करता। कुछ क्षण बाद मैंने देखा नंगटा बाबा ने आँखें खोलकर देखा और मेरा परिचय पूछा। मैंने फल को उठा कर सामने रख दिया। इतना जीर्ण और रोगातुर शरीर था किन्तु उस अवस्था में भी उनके उस स्वाभाविक चरित्र की मधुरता उस समय तक भी खूब अक्षुण्ण बनी हुई थी।

सुप्रसिद्ध तान्त्रिक स्वर्गीय वामाचरण का नाम बहुतों ने सुना है। जो श्मशान गीदड़-कुत्तों का ही विहार-स्थल है, दिन के समय जहाँ अकेले जाने में बहुतों का अन्तःकरण काँप उठता है, अमावस्या की घोर निशीथ रात्रि में

वामा पगला

वामाचरण वहाँ बैठे रहते थे, निश्चिन्त मन से लेटे रहते थे। शृगालों का दल उनको नितान्त मित्र समझ कर उनके पैर चाट कर चले जाते थे। अभ्यास के कारण ऐसी घृणाहीन अवस्था आ गयी थी कि कुत्तों को साथ लेकर उनको भोजन करते मैंने देखा है, केवल यही नहीं उनके मुख-विवर से अन्न निकाल कर अम्लान चेहरे से भोजन करते थे। यह भय हीन घृणा शून्यता कम मानसिक बल का परिचय नहीं है।

कितने दिनों के सुदृढ़ अभ्यास के बाद उन्होंने इस शक्ति को आयत्त किया था!

स्वर्गीय रामतनु लाहिड़ी का नाम शिक्षित समाज में सविशेष परिचित है। उनकी तरह सरल स्वभाव, विद्यानुरागी सत्यवादी ईश्वरनिष्ठ थोड़े ही व्यक्तियों ने बंगदेश में जन्मग्रहण किया है। बंगदेश में अब भी अनेक उच्चशिक्षित पदस्थ व्यक्ति जीवित हैं, जो उनकी सरलता, ऊँचे अन्तःकरण और धर्मानुराग का साक्ष्य प्रदान करेंगे।

स्वर्गीय रामतनु लाहिड़ी।

इस महात्मा को विद्यार्थी अवस्था से ही सङ्गदोष के कारण अत्यन्त मदिरा पान करने की आदत पड़ गयी थी। इसकी अपकारिता समझते हुए भी उनकी तरह साधु व्यक्ति सुदीर्घ जीवन काल में भी बुरी आदत से छुटकारा न पा सके। अभ्यास का ऐसा ही भयंकर प्रभाव होता है!

प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद पितृदेव स्वर्गीय कैलाशचन्द्र सान्याल—आजकल साधारण काम करके उसका चार गुना डंका बजा कर अपने कामों की महिमा प्रचार करने में हमलोग जरा भी लज्जा अनुभव नहीं करते। किन्तु ऊपर जिस महात्मा का नाम लिखा हुआ है, वे किसी धनी के सन्तान नहीं थे। एक विद्वान, अथवा आजकल जिसे स्वदेश हितैषी कहा जाता है वैसे भी कुछ नहीं थे, आज प्रायः आधी शताब्दी बीत रही है, उनका देहावसान हो चुका है, तो भी वे जिस छोटे गाँव में रहते थे, उस गाँव और उस गाँव के आस पास के गाँवों के अनेक बूढ़े लोग उनका नाम स्मरण करके आज भी

स्वर्गीय कैलाशचन्द्र सान्याल

आँसू बहाया करते हैं। दीनार्तों की सेवा करने, अनाथ दीनों को आश्रय देने, लोगों के दुःख से व्यथित होकर उसे दूर करने के लिए प्रयत्न करने में तत्पर ऐसे मनुष्य बहुत अधिक दिखाई नहीं पड़ते। कार्योपलक्ष्य से उन्हें गाँव से दूर प्रायः ही रहना पड़ता था, किन्तु जब वे गाँव में आ जाते थे, तब आनन्दोत्सव होने लगता था। छोटा सा गाँव उनके सद्गुणों और उदार चरित्र से आकर्षित होकर उनको कितनी श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, और अपने सभी कामों में उनके ऊपर कितना निर्भर करता था उसको कह कर खतम नहीं किया जा सकता। गाँव में जहाँ पीड़ितों का कातर आर्त्तनाद उठ रहा है, कैलासचन्द्र उसी रोगशय्या के पास बैठ कर दिन रात रोगी की सेवा शुश्रूषा में डूबे रहते थे, अपने आहार अपनी नींद के प्रति भ्रूक्षेप भी नहीं करते थे। जो गृहप्राङ्गण उपयुक्त गृह स्वामी की अकाल मृत्यु के कारण उनकी आश्रित विधवा और पालन पोषण किये जाने वाले लोगों के कोलाहल क्रन्दन से मुखरित हो रहता था वहीं उनका करुणार्द्रहृदय उसी क्षण उनका अभाव और क्लेश दूर करने के लिए बद्ध परिकर हो जाता था। जिसका कोई नहीं है, जो गृहहीन अनाथ है, ऐसे को अपने घर लाकर अथवा उसके जीवन-यापन की व्यवस्था करके ही वे निश्चिन्त होते थे। शारदीया पूजा महोत्सव के समय जब बंगाल का प्रत्येक गाँव आनन्द से हँस उठता था, जब प्रति गृहस्थ का गृह और प्राङ्गणभूमि शोभनीय सजावटों से सज्जी जाकर प्रफुल्ल हो उठती थी, बच्चों के नवीन वस्त्र पहिनने और आनन्द कलरव से गृह प्राङ्गण और राहघाट, मैदान आनन्द स्रोत से परिपूर्ण हो उठते थे, उस समय भी

शायद किसी गृहस्थ के यहाँ उपयुक्त उपार्जन करने में समर्थ व्यक्ति के न रहने से, उसका मकान जब शोक की बाढ़ से डूबता रहता था और विध्वस्त होता रहता था, उस मकान की अनाथा वृद्धाओं और बच्चों के दुःख शोकार्त्त मलिन मुख देखकर किसका हृदय रो उठता था, कौन उनके क्लेश दूर करने के लिए सबसे पहले वहाँ पूजोपहार नये वस्त्र आदि भेजते थे, वे थे साधन गाँव के ऋषिप्रतिम स्वर्गीय कैलासचन्द्र देवशर्मा। विपन्न व्यक्तियों को विपदुद्धार द्वारा साहाय्य देकर, निरन्न के लिए अन्न जुटाने की व्यवस्था करके उत्सव के समय उत्सवोपयोगी उत्साहद्वारा ग्रामवासियों को उत्साहित और प्रमोदित करके एक सुगन्धमय समुज्ज्वल वनफूल की भाँति जीवनयापन कर गये हैं, इसे स्मरण करने से भी चित्त पुलक से पूर्ण हो उठता है। उनके अपने मकान में और कार्यस्थल में ऐसे कितने ही दुखियों आश्रयहीनों का प्रतिपालन होता था, फिर भी उनकी आय उस परिमाण में कितनी कम थी, किन्तु उनका उदार चरित्र इन दुख राशियों का प्रतिविधान किये बिना कभी नीरव न रह सकता था, यह स्मरण करने से चित्त विस्मय से अभिभूत हो जाता है। मनुष्यों के प्रति उदार प्रेम और महती सहानुभूति ने और ईश्वर के प्रति अकपट भक्ति ने ही उनके चरित्र को विशेष रूप से वरणीय बना दिया था। उनका समग्र जीवन ही एक साधु का जीवन है। इतनी परदुःखकातरता और परदुःख दूर करने के लिए इतना प्रयत्न रहता था कि गाँव में किसी एक नीच जाति का मृत शरीर पड़ा हुआ है, मनुष्यों के अभाव से उसकी अन्त्येष्टिक्रिया नहीं हो रही है, गाँव के ऊँची जाति वाले उस मुर्दे को छू नहीं सकते, ज्यों ही उनको यह खबर मिल जाती, वे

उसी क्षण उसके घर पहुँच कर लाश उठा कर श्मशान भूमि में ढो ले जाते, समाज के लोगों से कितना लांछित होना पड़ेगा यह जानते हुए भी इस घोर विपत्तिकाल में उसकी सहायता किये बिना वे रह नहीं सकते थे। इस विषय में उनके एक अभिन्न हृदय मित्र थे उनका नाम था बिहारीलाल। ये भी अतिशय सज्जन और सदाशय पुरुष थे। उनपर कोई अत्याचार करता तो, सामर्थ्य के रहते भी वे उससे कभी प्रतिशोध लेने की चेष्टा नहीं करते थे, चुपचाप अन्याय उत्पीड़न सहते रहना उनका स्वभाव सिद्ध सद्‌गुण था। फिर वे ही उनके उत्पीड़नकारी विपन्न होकर जब उनकी शरण में आ जाते थे, तो उनसे की गयी लांछना की बात स्मरण न करके ही वे उनके उपकार के लिए प्राणपण से चेष्टा करने लगते थे। उनका समग्र जीवन प्रस्फुटित पुष्प की तरह सौरभमय और शोभामय होकर विकसित हो गया था—आज कितने दिन बीत चुके उस देव शरीर का, उस विश्वास भक्ति की कमनीय मूर्ति का अवसान हो गया है। अब भी बूढ़े लोग जिनकी स्मृति को मन ही मन स्मरण करके आनन्दित होते हैं, उनके प्रतिभामण्डल साथ ही गर्व हीन मुखमण्डल की किरणराशि ने कितने आर्त्त पीड़ितों को सान्त्वना दी है—उसे स्मरण करके उस सहनशील चरित्र के सम्मुख हाथ जोड़कर दण्डवत् प्रणाम करने की इच्छा होती है, और उस देव सदृश पुरुष की चरणधूलि में अपने शरीर को लोटपोट कर देने की इच्छा होती है। और कुछ दिनों के बाद सम्भवतः उनका नाम तक भी किसी के स्मरण-पथ में कभी उदित न होगा। किन्तु जिस एक देव चरित्र का केवल आदर्श वे रख गये हैं—उनके उन किये गये कर्मों की पुण्यगन्ध अबतक भी शायद उस छोटे से गाँव के आकाश

में, हवा में भरी हुई है जो कभी खतम होने वाली नहीं है। जभी वह याद पड़ती है तभी आनन्द से पुलक से अन्तःकरण भर उठता है, और जो गाँव उनके पदस्पर्श से धन्य हो चुका है उस गाँव की धूलि में अपने समूचे अंग को लोटपोट करा देने की इच्छा होती है।

जो विष स्वल्प मात्रा में भी खा लेने से प्राणान्त हो जाता है, अभ्यास के बल से उसी विष का अधिक मात्रा में व्यवहार करते हुए भी कितने ही लोग खूब निरापद भाव से दिन बिता रहे हैं।

कोई कोई भूतप्रेत देखने में इतने अभ्यस्त रहते हैं कि, पेड़ की पत्तियों के हिलने से या हवा के झकोरे से पेड़ की छाया के हिलने से उन्हें हृत्कम्प उपस्थित हो जाता है— समूचा शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। फिर कोई कोई जनशून्य शवभोगी गृध्रसंकुल श्मशान में, जहाँ गीदड़ कुत्ते मुर्दों को लेकर छीना झपटी कर रहे हैं, वहाँ रात विताने में भी कोई शंका या उद्वेग अनुभव नहीं करते। यह अभ्यास के अतिरिक्त और क्या है ?

साहसिकता भी अभ्यास का फल है। इस में शारीरिक शक्ति की प्रचुरता की अपेक्षा नहीं रहती। एक मनुष्य बाल्यकाल से बाघों का शिकार करने में अभ्यस्त है, उसको बाघ देख लेने से या बाघ की आवाज सुनने से बहुत डर नहीं मालूम होता और दूसरा अनभ्यस्त है किन्तु शायद शरीर से खूब बलवान है, तो भी वन में बाघ देखने से उसका हृदय काँप उठता है।

बुद्धि के उत्कर्ष और अपकर्ष का कारण भी यह अभ्यास

है। स्वभावतः कोई बुद्धिमान न रहने पर भी अभ्यास करते करते उसकी बुद्धि का विकाश हो जाता है।

आहार के सम्बन्ध में भी अभ्यास की शक्ति यथेष्ट रहती है। कोई तीता खाने में अभ्यस्त नहीं है, कोई तीता ही पसन्द करता है, किसी को तीते खाद्य में अत्यधिक प्रीति रहती है, किसी की नमक पर ही अधिक अभिरुचि रहती है। किसी को मीठी चीजों पर अनुराग रहता है, किसी को खटाई पर विशेष आसक्ति रहती है। किसी का निरामिष भोजन पर अधिक आग्रह रहता है, कोई मछली-मांस के लिए लालायित रहते हैं, ये सभी न्यूनाधिक अभ्यास पर ही निर्भर करते हैं।

किसी को उपकार करके आनन्द मिलता है, किसी को ठगने में ही आनन्द प्राप्त होता है। कोई थोड़ी ही बातों में रंज हो जाते हैं, कोई अत्यन्त उपद्रव भी सहिष्णु भाव से सहते हैं, कोई अत्यन्त इन्द्रियासक्त है, कोई खूब संयमशील है, कोई भोजन में इतने पटु हैं कि आठ दस आदमियों का आहार अकेले खा सकते है। फिर निराहार रहने का अभ्यास भी किसी किसीने आश्चर्य जनक रूप से आयत्त कर लिया है। एक आदमी के पास कुछ भी नहीं है, तो भी वह एक मात्र पहिनने के कपड़े को आवश्यकता पड़ने पर छोड़ सकता है, और कोई दूसरा है लखपती, तो भी एक कौड़ी खर्च करने में उसका प्राण मृत्यु यातना अनुभव करने लगता है। यह भी पूर्व कृत अभ्यास का ही परिणाम है।

किसी को सपरिजन उनसे घिरे रहने का अभ्यास है; वे अकेले किसी तरह भी नहीं रह सकते, और दूसरे सुदीर्घ

काल सुदूर प्रवास में रहते हुए भी खूब शान्ति से रहते हैं।

एक आदमी याचना करने में अनभ्यस्त है, किसी से कुछ लेने से मानो उसका सिर फट जाता है, और कुछ लोग सबके सामने ही संकोच छोड़कर हाथ पसारते रहते हैं। कुछ लोग सबके साथ सहज में ही अच्छी तरह मिलजुल सकते हैं, कोई ऐसे लजाधुर हैं कि किसी के साथ एक बात कहने का भी साहस नहीं होता। कोई कोई मनुष्य स्वभावतः ही अच्छे गले के होते हैं, अल्पायास से ही उच्च श्रेणी के गायक बन सकते हैं। किन्तु जिसको बिलकुल ही गला नहीं है, वह भी यदि अभ्यास करे तो खूब ऊँचे दर्जे का गायक भले ही न हो, कुछ तो उसका गला खुल ही जाता है यह निश्चित है।

इन सबकी पर्यालोचना करने से सुस्पष्ट समझ में आ जाता है कि भला बुरा सब कुछ ही अभ्यास का फल है। सदभ्यास के फलस्वरूप अन्तर्निहित सुप्त शक्ति जाग उठती है। कुअभ्यास का फल यह है कि, यह शारीरिक या मानसिक किसी शक्ति को ही बलवान नहीं बनाता परन्तु दुर्बल बना देता है—किन्तु सदभ्यास से दैहिक मानसिक दोनों शक्तियाँ ही अभिनव विकाश प्राप्त कर मनुष्य को देवता बना देती हैं। जो काम प्रथम दृष्टि में असम्भव सा प्रतीत होता है, पुरुषकार के प्रभाव से उसको भी कुछ अंशों में सम्भव बना दिया जा सकता है। महावीर कर्ण का यह वीरोचित वाक्य स्मरण कीजिये। उनको सूत पुत्र कह कर कौरव सभा में अपमानित करने की चेष्टा की जाने पर उनके मुँह से जो प्रदीप्त वाक्य निकल पड़ा था, उसे प्रति दिन सभी को एक बार स्मरण कर लेना चाहिये।

"सूतो वा सूत पुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषं॥"

अतएव जो श्रेयलाभ करने के इच्छुक हैं, वे अभ्यास योग का आश्रय ग्रहण करके उत्तम गति को प्राप्त करें। अभ्यास के द्वारा मनुष्य आबद्ध है, मोहमुग्ध है, दुर्बल है—फिर अभ्यास ही उसे सबल ज्ञानी और विमुक्त करने में समर्थ है। कुअभ्यास के फल से ही हमारी यह अधोगति है, फिर सदभ्यास ही (कर्म या चेष्टा) हमें समुन्नत बनायेगा। अभ्यास की अपेक्षा बलवत्तर शक्ति दूसरी कुछ भी नहीं है। अतएव आलस्य छोड़ कर फिर एक बार भगवद् वाक्य स्मरण कीजिये :—

"तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत॥
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥"

समाप्त।

लेखक की हिन्दी और बंगला की अन्य पुस्तकें:-

बंगला—	हिन्दी—
श्रीमद्भगवद्गीता ३ भागों में—	दिनचर्य्या—
बिल्वदल—	बिल्वदल प्रथम भाग—
दिन चर्य्या—	अभ्यास योग—
अभ्यास योग—	गुरु और दिक्षा तत्व—
आश्रम चतुष्टय—	गीता प्रथम भाग—
गुरु ओ दीक्षा तत्व—	
आत्मानुसन्धान—	(छप रही है)—
शतदल—	

सम्मतियाँ

दिनचर्या मूल्य १॥≠)

देशमान्य सुकवि स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अभिमत :—

आपकी "दिनचर्या" पढ़ कर उत्साह और उपकार मिला। यह पुस्तक बहुत काम की हुई है।

भूतपूर्व विचारपति माननीय स्वर्गीय शारदाचरण मित्र की सम्मति :—"दिनचर्या" पाकर कृतार्थ हुआ × × × आदि से अन्त तक पढ़कर बहुत जानकारी हुई। लिखित विषय सरल है, गुरुतर गुह्य विषय समझाकर बताये गये हैं; अन्तिम स्तोत्रों और संगीतों के चयन में सुरुचि और ज्ञान-भक्ति का परिचय है। ऐसा ग्रन्थ सनातन धर्मावलम्बी प्रत्येक के पुस्तकालय में रहना चाहिये। × × × "दिनचर्या" ग्रन्थ के लिए आप के प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हुआ।

भागलपुर टी० एन० जुबिली कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय हरिप्रसन्न मुखोपाध्याय एम० ए०, बी० एल की सम्मति:—पुस्तक उपदेशपूर्ण है, और इसमें हिन्दूधर्म की विशेष सार बातें सन्निवेशित हैं। पुस्तक को पढ़ कर मैंने अनेक विषयों की शिक्षा प्राप्त की है।

पाकुड़ राज स्कूल के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक परम श्रद्धास्पद स्वर्गीय लालमोहन गोस्वामी ने यह पुस्तक पढ़ कर जो पत्र लिखा था वह इस प्रकार है:—इतने थोड़े में इतने विशद रूप से सत्‌शिक्षाओं का समावेश मैंने और किसी पुस्तक में नहीं देखा। वर्तमान समय के जड़विज्ञान संकुल विद्यालयों में इसको स्थान मिलेगा या

नहीं यह मैं कह नहीं सकता। किन्तु यह न होने पर भी बालकों की सर्वाङ्गीन सद् शिक्षा की नींव डालने के निमित्त और देश के प्रकृत कल्याण साधन के लिए घर घर में यह पुस्तक रखना सब प्रकार से वाञ्छनीय है। × × ×

राजा बनविहारी कपूर, सी० एस० आई० महोदय की सम्मति।—इसमें अति कठोर दुरूह और आध्यात्मिक विषय ऐसी सरल भाषा में, प्राञ्जल रूप से वर्णित हुए हैं कि ये साधारण पाठकों को सहज में बोधगम्य होंगे। यह बहुत ही प्रशसनीय है।

प्रवासी, उद्बोधन आदि पत्रिकाओं में एक स्वर से प्रशंसित।

आश्रम चतुष्टय

यथार्थ देश हितैषी—देश के गौरव श्रद्धाभाजन माननीय श्रीयुत व्रजेन्द्रकिशोर राय चौधरी महोदय ने लिखा है:—

पुस्तक × × × पढ़ कर परम प्रीति उत्पन्न हुई। × × नाटक, उपन्यास, जासूसी कहानियों के इस बाजार में आप की पुस्तक कितनी आदृत, प्रशंसित और पुरस्कृत होगी मैं नहीं जानता, किन्तु प्रत्येक धर्मपरायण हिन्दू का आशीर्वाद अर्जन करने में आप समर्थ होंगे, इसमें विन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है।

श्रीयुक्त सुरेन्द्रनाथ ठाकुर बी० ए० की सम्मतिः— "दिनचर्या" और "आश्रमचतुष्टय" पुस्तक पढ़ कर मैं प्रसन्न और उपकृत हुआ। ग्रन्थकार की प्रत्येक बात उनकी अपनी साधना से प्राप्त अभिज्ञता की परिचायक है। × × इस तरह की सच्ची, हृदय की बातों से ही दूसरों का चित्त स्पर्श करना सम्भव है।

वर्दवानाधिपति महाराजाधिराज बहादुर के अभिप्राया-नुसार उनके प्राइवेट सेक्रेटरी ने जो पत्र लिखा है वह इस प्रकार है—

"The Maharajadhiraja Bahadur of Burdwan thanks you × × for a copy of "आश्रमचतुष्टय". He is much pleased with the book × × ×"

The Indian Mirror—Asram Chatustaya.

In this book, the author produces and explains the four stages of life which Manu enjoins on man to go through.

The author effectively points out the evils that have been caused to Hindu Society by the neglect of Manus injunctions. The author is not blind to the circumstances which have rendered the adoption of the rules in their entirity at the present day, and he has accordingly suggested the next best course to be adopted. In the Appendix, have been given some choice quotations from Manu, with Bengali Translations, regarding religious and moral duties. The compilation, as a whole, is a creditable production.

प्रवासीः—इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने आश्रमचतुष्टय का उद्देश्य, और पालनविधि लिपिबद्ध की है। मनु के धर्म-शास्त्र को ही भित्ति मान कर वे चले हैं। × × × उन्होंने हिन्दुओं के सभी आचार-अनुष्ठानों को ही युक्ति मूलकता (rationl light) देने की चेष्टा की है, यही इस

पुस्तक की विशेषता है। × × जो लोग हिन्दू धर्म का × × अनुष्ठान करते हैं, वे इस ग्रन्थ में बहुत कुछ सीखने की सामग्री पावेंगे। यह ग्रन्थ इसी कारण प्रत्येक हिन्दू को पढ़ना चाहिये।

उद्बोधन—पुस्तक की भूमिका में लेखक कह रहे हैं :— "ब्राह्मणादि यदि सच हों और ब्रह्म के साथ अविच्छिन्न मिलन ही यदि जीवन का व्रत हो, तो उस हालत में जीवन यापन के लिए इससे श्रेष्ठतर सुन्दरतर व्यवस्था असम्भव है।" लेखक की यह बात पुस्तक में सुललित भाषा में समर्थित हुई है, यह पाठक मात्र ही स्वीकार करेंगे। इस सफलता के लिए भूपेन्द्रबाबू पाठक वर्ग के प्रशंसाभाजन हैं। × ×

वर्तमान हिन्दू समाज के नेता श्रीयुत राजा प्यारेमोहन मुखोपाध्याय महाशय की सम्मति :—

"गृहस्थ के आचरण-व्यवहार के सम्बन्ध में आपने जेसा लिखा है उसे पढ़कर बहुत से लोग उपकृत होंगे।"

गुरु और दीक्षातत्त्व

प्रवासी पत्रिका :—हिन्दूशास्त्र में गुरु कहने से क्या समझना चाहिये, और दीक्षा आवश्यक क्यों है, इसे ग्रन्थकार ने आलोच्य पुस्तक में सहज भाषा में समझाने की चेष्टा की है। जो लोग इसे सविशेष आलोचना करके देखने की इच्छा करते हैं, वे लोग आलोच्य विषय से बहुत सहायता पावेंगे, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है।

विदुषी महिला, श्रीमती हेमलता देवी कहती हैं—"परम तत्त्व आश्चर्यजनक रूप से सहज भाव से इसमें बताया गया

है। इस एक ही छोटी सी पुस्तक को पढ़ने से समस्त शास्त्रों का फल मिलता है।"

अभ्यासयोग

मूल्य १।।।) (अजिल्द)

इसमें महर्षि वशिष्ठ के उपदेश, गीता का निगूढ़ भाव, सनातन धर्म की अन्तर्निहित शक्ति, कर्म, ज्ञान और भक्ति की सुन्दर व्याख्या, दैव और पुरुषकार की शास्त्रसंगत सुन्दर मीमांसा अति सुन्दरता के साथ वर्णित हुई है। मानवों में जो शक्ति निहित है, किस प्रकार कुअभ्यास के प्रचण्ड पंजे से छुटकारा मिलता है, इन सब उपदेशों से यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। कई भक्तों और ज्ञानी महात्माओं के संक्षिप्त इतिवृत्त इसमें सन्निवेशित होने से यह ग्रन्थ और भी सरल और सुन्दर हो गया है।

अभ्यास-योग के सम्बन्ध में कुछ मन्तव्य.—भारती ने लिखा है—"अभ्यास-योग" ग्रन्थ पढ़कर हम लोगों को विशेष प्रसन्नता हुई।

जगद्विख्यात कविसम्राट स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विलायत से लिखा था—

"इस बार की डाक से मुझे एक ही साथ दो पुस्तकें मिलीं। × × × एक है आप का "अभ्यासयोग"। दोनों ने ही मेरे प्रवास के मित्ररूप में दर्शन दिये हैं। एक में हमारे देश के सौन्दर्य ने, और दूसरी में हमारे देश की साधना ने मेरा साथ लिया है—दोनों का ही मुझे प्रयोजन है और दोनों पर ही मेरा अनुराग है।"

प्रवासी:—सभी अध्याय शास्त्रभित्ति की सुयुि
द्वारा, साधु-महात्माओं के दृष्टान्तों द्वारा समर्थित
कहीं भी कट्टरता और अन्ध कुसंस्कार को प्रश्रय
मिला है। हम लोगों को इसे पढ़कर अत्यन्त आ
हुआ है।

वङ्ग दर्शन पौष १३१६:—वर्तमान ग्रन्थ भूपेन्द्रनाथ
धर्म प्रचार ग्रन्थावली का तीसरा ग्रन्थ है। इसके
उन्होंने "दिनचर्या" में हिन्दुओं की जीवन यापन प्रण
का और "आश्रमचतुष्टय" में हिन्दुओं के आश्रम धर्म
विशद चित्र अङ्कित किया है। वर्तमान ग्रन्थ में उ
हिन्दुओं की ऐकान्तिक साधना का परिचय दिया है।
× × × हम लोग सर्वान्तःकरण से प्रार्थना करते
ग्रन्थकार की साधु इच्छा सफल होवे। ग्रन्थ की भाषा वि
है, सुमिष्ट है, आवेगमयी है, और ग्रन्थ तरह तर
बहुमूल्य उपदेशों से और ज्ञातव्य तथ्यों से परिपूर्ण
ग्रन्थकार को कठिन विषयों को सहज बनाकर समझा
यथेष्ट शक्ति है। छपाई, कागज और आलोच्य विषय
तुलना से पुस्तक का मूल्य बहुत थोड़ा है।